जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क २७

☐ निर्देशन
महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाण संवत् २५१२
वि. सं. २०४३
ई. सन् १९८६

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन-समिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [illegible]

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

Fourth Upanga

PANNAVANA SUTTAM

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Inspiring Soul
Up-pravartaka Shasansevi (Late) Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Sri Jnan Muni

Sub Editor
Srichand Surana 'Saras'

Chief Editor
Pt. Shobhachandra Bharill

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj)

Jinagam Granthmala Publication No. 27

- **Direction**
  Sadhwi Umravkunwar 'Archana'

- **Board of Editors**
  Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
  Sri Devendra Muni Shastri
  Sri Ratan Muni
  Pt. Shobhachandra Bharill

- **Managing Editor**
  Srichand Surana 'Saras'

- **Promotor**
  Munisri Vinayakumar 'Bhima'
  Sri Mahendramuni 'Dinakar'

- **Date of Publication**
  Vir-nirvana Samvat 2512
  Vikram Samvat 2043; July, 1986

- **Publisher**
  Sri Agam Prakashan Samiti,
  Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.) [India]
  Pin 305 901

- **Printer**
  Satish Chandra Shukla
  Vedic Yantralaya
  Kesarganj, Ajmer

- Price [illegible]

समर्पण

जिन्होंने अर्द्धशताब्दी से भी अधिक काल
तक आदर्श संयम की आराधना कर अपना
जीवन सार्थक बनाया,
जो श्रुत की आराधना में निरन्तर निरत रहे
और अपनी अगाध तत्त्वजिज्ञासा की पूर्ति
के लिए सौराष्ट्र से राजस्थान तक पधारे,
जो सौराष्ट्र के जैन-जनमानस में अद्यापि
बसे हुए हैं,
जिन्होंने जिनशासन की अपने उत्तम आचार
एवं धर्मदेशना द्वारा बहुमूल्य सेवा की,
उन
परमतपस्वी स्व. माणकचन्द्रजी स्वामी
के कर-कमलों में,
सादर सविनय समर्पित

प्रकाशकीय

आगमप्रेमी पाठकों के कर-कमलों में प्रज्ञापनासूत्र नामक चौथे उपांग का तृतीय खण्ड प्रस्तुत किया जा रहा है। इस खण्ड में २३ से ३६ पद हैं और इन्हीं के साथ इस सूत्र की समाप्ति हो रही है। भगवतीसूत्र भी पूर्ण मुद्रित हो चुका है। ये दोनों आगम विराट्काय हैं और इनके मुद्रण के साथ एक बड़ा भार कम हो गया है। यह अतीव प्रसन्नता का विषय है।

प्रज्ञापना के इस अन्तिम खण्ड में विस्तृत प्रस्तावना और परिशिष्ट दिए जा रहे हैं जो समग्र ग्रन्थस्पर्शी हैं। पाठकों के लिए ये विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे।

पहले के दो खण्डों की भांति इसके सम्पादक और अनुवादक जैनभूषण विद्वद्वर श्री ज्ञानमुनिजी म. हैं और प्रस्तावनालेखक साहित्यवाचस्पति पंडितप्रवर श्रीदेवेन्द्रमुनिजी म. हैं। प्रस्तावना विस्तृत है। उसमें समग्र ग्रन्थ का निचोड़ आ गया है। इन मुनिराजों के अमूल्य सहयोग के लिए समिति अत्यन्त आभारी है।

अनुयोगद्वार प्रेस में देने की तैयारी में है। आशा है वह भी यथासम्भव शीघ्र पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकेगा।

ग्रन्थमाला के प्रकाशन में जिन-जिन विद्वानों और अर्थसहायकों का सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनके बहुमूल्य सहयोग की बदौलत आगमप्रकाशन-कार्य अग्रसर हो रहा है, उन सबके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन करना स्वाभाविक है।

अन्त में निवेदन है कि आगमप्रेमी और स्वाध्यायरसिक महानुभाव इनके अधिकाधिक प्रचार-प्रसार में सहयोग प्रदान करें, जिससे जिनशासन की महिमा की वृद्धि हो और हमारा प्रयास अधिक सफल हो।

रतनचंद मोदी	**जी. सायरमल चोरड़िया**	**चांदमल विनायकिया**
कार्यवाहक अध्यक्ष	प्रधानमंत्री	मंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

प्रस्तावना

प्रज्ञापना : एक समीक्षात्मक अध्ययन

भारतवर्ष अध्यात्म की उर्वरा भूमि है। यहाँ के प्रत्येक कण-कण में अध्यात्म का सुरीला संगीत है। प्रत्येक अणु-अणु में तत्त्व-दर्शन का मधुर रस है। यहाँ की पावन पुण्य धरा ने ऐसे नर-रत्नों का प्रसव किया है जो धर्म और अध्यात्म के मूर्त्त रूप थे। उनके हृदय की प्रत्येक धड़कन अध्यात्म की धड़कन थी। उनके प्रशस्त और निर्मल चिन्तन ने जीव और जगत् को, आत्मा और परमात्मा को, धर्म और दर्शन को समझने का विमल और विशुद्ध दृष्टिकोण प्रदान किया।

चौवीस तीर्थंकरों ने इस अध्यात्मप्रधान पुण्य-भूमि पर जन्म ग्रहण किया। उन्हें वैदिकपरम्परा के अवतारों की तरह पुनः-पुनः जन्म ग्रहण कर जन-जन का उत्थान करना अभीष्ट नहीं था, और न तथागत बुद्ध की तरह बोधिसत्वों के माध्यम से पुनः-पुनः जन्म लेकर जन-जीवन में अभिनव चेतना का संचार करना ही मान्य था। अवतारवाद में उनका विश्वास नहीं था, उत्तारवाद ही उन्हें पसन्द था।

जैनपरम्परा में तीर्थंकरों का स्थान सर्वोपरि है। नमस्कार महामंत्र में सिद्धों से पूर्व तीर्थंकरों—अरिहंतों को नमस्कार किया गया है। तीर्थंकर सूर्य की भांति तेजस्वी होते हैं। 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा।' वे अपनी ज्ञान-रश्मियों से विश्व की आत्मा को आलोकित करते हैं। वे अपने युग के प्रबल प्रतिनिधि होते हैं। चन्द्र की तरह वे सौम्य होते हैं। मानवता के परम प्रस्थापक होते हैं। तीर्थंकर साक्षात् द्रष्टा, ज्ञाता तथा आत्मनिर्भर होते हैं। वे केवलज्ञान एवं केवलदर्शन उत्पन्न होने के पश्चात् उपदेश देते हैं। उनका उपदेश अनुभूत सत्य पर आधृत होता है।[1] उनके उपदेश और व्यवस्था किसी परम्परा से आवद्ध नहीं होती।

वर्तमान अवसर्पिणी काल में इस पावन धरा पर प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए। उनके बाद बावीस तीर्थंकर हुए, फिर चौवीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए।[2] सभी तीर्थंकरों की सर्वतंत्र-स्वतंत्र परम्पराएँ थीं। और सर्वतंत्र-स्वतंत्र उनका शासन था। श्रमण भगवान् महावीर के समय भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के हजारों श्रमण थे। जब वे महावीर के संघ में प्रविष्ट हुए तो उन्हें भगवान् पार्श्वनाथ की चातुर्याम साधना-पद्धति का परित्याग करना पड़ा और पंच महाव्रत-साधना-पद्धति को स्वीकार करना पड़ा।[3] इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक तीर्थंकर का विराट् व्यक्तित्व और कृतित्व किसी तीर्थंकर विशेष की परम्परा के साथ आबद्ध नहीं होता, यद्यपि मौलिक आचारव्यवस्था एवं तत्त्वदर्शन सनातन है, त्रिकाल में एकरूप रहता है, क्योंकि सत्य शाश्वत है।

---

१. "धम्मतित्थयरे जिणे" —समवायांग-१।२

२. नन्दीसूत्र, पट्टावली—१।१८-१९

३. उत्तराध्ययन—२३।२३

वर्त्तमान जैन शासन श्रमण भगवान् महावीर से सम्बन्धित है। भगवान् महावीर के संघ की संचालन-विधि सुव्यवस्थित थी। उनके संघ में ग्यारह गणधर, नौ गण तथा सात व्यवस्थापद थे।[४] संघ की शिक्षा, दीक्षा आदि में सातों पदाधिकारियों का अपूर्व योगदान था। आचार्य संघ का संचालन करते थे। उपाध्याय सूत्र की वाचना देते थे। स्थविर श्रमणों को संयम-साधना में स्थिर करते। प्रवर्तक आचार्य द्वारा निर्दिष्ट प्रवृत्तियों का संघ में प्रवर्तन करते। गणी लघु श्रमणों के समूह का कुशल नेतृत्व करते। गणधर श्रमणों की दिनचर्या का ध्यान रखते और गणावच्छेदक अन्तरंग व्यवस्था करते। इस तरह सभी शासन की श्रीवृद्धि में जुटे रहते थे। भगवान् महावीर के शासन में अनेक प्रतिभासम्पन्न, तेजस्वी, वर्चस्वी, मनस्वी, यशस्वी श्रमण थे। श्रमण भगवान् महावीर ने भव्य जीवों के उद्बोधनार्थ अर्थागम प्रदान किया। गणधरों ने अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से उस अर्थागम को गूंथ कर सूत्रागम का रूप दिया। आचार्यों ने प्राणोत्सर्ग करके भी उस श्रुत-सम्पदा का संरक्षण किया। गणधरों द्वारा रचित अंगागम-निधि का आलम्बन लेकर उपांगों की रचना हुई। उपांगों में चतुर्थ उपांग का नाम "प्रज्ञापना" है।

बौद्ध साहित्य में प्रज्ञा के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा है। वहां पर 'पञ्ञ' और 'पञ्ञा' शब्द अनेक वार व्यवहृत हुए हैं। बौद्ध पाली साहित्य में 'पञ्ञाती' नामक एक ग्रन्थ भी है जिसमें विविध प्रकार के पुद्गल अर्थात् पुरुष के अनेक प्रकार के भेदों का निरूपण है। उनमें पञ्ञति यानी प्रज्ञप्ति और प्रज्ञापना नाम का तात्पर्य एक सदृश है। आचार्य पतंजलि ने "ऋतंभरा प्रज्ञा[५]" तथा "तज्जयात्प्रज्ञालोकः[६]" प्रभृति सूत्रों में प्रज्ञा का उल्लेख किया है। भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ की चर्चा करते हुए "तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता[७]" शब्द का प्रयोग किया है। जैन आगम साहित्य में भी अनेक स्थलों पर 'प्रज्ञा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के रूप में—आचारांग सूत्र के दूसरे अध्ययन के पच्चीसवें, छब्बीसवें सूत्र में 'प्रज्ञान' शब्द प्राप्त है और अन्य स्थलों पर भी सूत्रकृतांग में श्रमण भगवान् महावीर की संस्तुति करते हुए प्रज्ञ[८], आशुप्रज्ञ[९], भूतिप्रज्ञ[१०], तथा अन्य स्थलों पर महाप्रज्ञ[११] शब्द प्रयुक्त हुए हैं। भगवान् महावीर को प्रज्ञा का अक्षय सागर कहा है।[१२] उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के केशीकुमार श्रमण गणधर गौतम से पूछते हैं— हे मेधाविन्! हम एक ही उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुए हैं तो फिर इस (आचार) भेद का क्या कारण है? इन दो प्रकार के धर्मों में आपको विप्रत्यय नहीं होता? गौतम ने कहा—धर्म तत्त्व का निर्णय प्रज्ञा से करना चाहिए।[१३] केशीकुमार श्रमण ने गणधर

---

४. (क) भगवतो महावीरस्स नव गणा होत्था। —ठाणं-९।३, सूत्र ६८०
   (ख) आयरितेति वा, उवज्झातेति वा, पावतीति वा,
   थेरेति वा, गणीति वा, गणधरेति वा, गणावच्छेदेति वा! —ठाणं-३।३, सूत्र १७७
५. पातंजलयोगदर्शन, समाधिपाद सूत्र ४८
६. पातंजलयोगदर्शन, विभूतिपाद, सूत्र ५
७. श्रीमद् भगवद्गीता, अ. २-५७, ५८, ६१, ६८
८. सूत्रकृतांग, प्रज्ञ. ६।४, १५ १।७।८; १।१४।१९; २।१।६६; २।६।६
९. सूत्रकृतांग, आशुप्रज्ञ ६।७।२५; १।५।२; १।१४।४, २२; २।५।१; २।६।१८
१०. सूत्रकृतांग ६।१५।१८
११. सूत्रकृतांग, महाप्रज्ञ १।११।१३, ३८!
१२. सूत्रकृतांग १।६।८
१३. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २३, गाथा २५

गौतम की प्रज्ञा को पुनः पुनः साधुवाद दिया।[14] आचार चूला में यह स्पष्ट लिखा है—समाधिस्थ श्रमण की प्रज्ञा बढ़ती है।[15] आचार्य यतिवृषभ ने 'तिलोयपन्नत्ति' ग्रन्थ में [16] श्रमणों की लब्धियों का वर्णन करते हुए एक लब्धि का नाम 'प्रज्ञाश्रमण' दिया है। प्रज्ञाश्रमण लब्धि जिस मुनि को प्राप्त होती है, वह मुनि सम्पूर्ण श्रुत का तलस्पर्शी अध्येता बन जाता है। प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि के औत्पत्तिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा ये चार प्रकार बताये हैं। मंत्रराज रहस्य में प्रज्ञाश्रमण का वर्णन है।[17] कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने प्रज्ञाश्रमण की व्याख्या की है। [18] आचार्य वीरसेन ने प्रज्ञाश्रमण को वन्दन किया है और साथ ही उन्हें जिन भी कहा है।[19] आचार्य अकलंक ने भी प्रज्ञाश्रमण का वर्णन किया है।[20]

अब चिन्तनीय यह है कि प्रज्ञा शब्द का प्रयोग विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न स्थलों पर हुआ है। विभिन्न कोशकारों ने प्रज्ञा को ही बुद्धि कहा है। वह बुद्धि का पर्यायवाची माना गया है और एकार्थक भी! किन्तु गहराई से चिन्तन करने पर सूर्य के प्रकाश की भाँति यह स्पष्ट होता है कि दोनों शब्दों की एकार्थता स्थूल दृष्टि से ही है। कोशकार जिन शब्दों को पर्यायवाची कहता है, वे शब्द वस्तुतः पर्यायवाची नहीं होते। समभिरूढ नय की दृष्टि से कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं है। प्रत्येक शब्द का अपना पृथक् अर्थ वाच्य होता है। प्रज्ञा शब्द का भी अपने आप में एक विशिष्ट अर्थ है। बुद्धि शब्द स्थूल और भौतिक जगत् से सम्बन्धित है। पर प्रज्ञा शब्द बुद्धि से बहुत ऊपर उठा हुआ है। बहिरंग ज्ञान के अर्थ में बुद्धि शब्द का प्रयोग हुआ है तो अन्तरंग जगत् की बुद्धि प्रज्ञा है। प्रज्ञा अतीन्द्रिय जगत् का ज्ञान है। वह आन्तरिक चेतना का आलोक है। 'प्रज्ञा' किसी ग्रन्थ के अध्ययन से उपलब्ध नहीं होती। वह तो संयम और साधना से उपलब्ध होती है। प्रज्ञा को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।—(१) इन्द्रियसंबद्ध प्रज्ञा और (२) इन्द्रियातीत प्रज्ञा। आचार्य वीरसेन ने प्रज्ञा और ज्ञान का भेद प्रतिपादित करते हुए लिखा है—गुरु के उपदेश से निरपेक्ष ज्ञान की हेतुभूत चैतन्यशक्ति प्रज्ञा है और ज्ञान उसका कार्य है। इससे यह स्पष्ट है कि चेतना का शास्त्रनिरपेक्ष विकास प्रज्ञा है। प्रज्ञा शास्त्रीय ज्ञान से उपलब्ध नहीं होती, अपितु आन्तरिक विकास से उपलब्ध होती है। प्रज्ञा इन्द्रियज्ञान से प्राप्त प्रत्ययों का विवेक करने वाली बुद्धि से परे का ज्ञान है। पातंजलयोग-दर्शन में प्रज्ञा पर विस्तार से चिन्तन करते हुए उसकी मर्यादायें तथा उसके क्रमिक विकास की सीमायें बताई हैं। प्रज्ञा की सात भूमिकाएँ भी बताई हैं। जितना संयम का विकास होता है, उतनी ही प्रज्ञा निर्मल होती है। संक्षेप में सारांश यह है कि विशिष्ट ज्ञान प्रज्ञा है।

प्रज्ञापना में जीव और अजीव का गहराई से निरूपण होने के कारण इस आगम का नाम "प्रज्ञापना" रखा गया है। भगवती[21] आवश्यक मलयगिरिवृत्ति[22], आवश्यकचूर्णि[23] महावीरचरियं[24], त्रिषष्टिशलाका-

---

१४. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन—२३ गाथा—२८, ३४, ३९, ४४, ४९, ५४, ५९, ६४, ६९, ७४, ७९, ८५
१५. आयारचूला, २६।५
१६. धवला ९।४; १; १८।८४।२
१७. मंत्रराजरहस्य, श्लोक ५२२
१८. योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति; सूरिमंत्रकल्पसमुच्चय भाग २, पृष्ठ-३६५
१९. षट्खण्डागम, चतुर्थ वेदना खण्ड, धवला ९, लब्धि स्वरूप का वर्णन।
२०. तत्त्वार्थराजवार्तिक, सूत्र ३६
२१. भगवती १६।६।५७०
२२. आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पृष्ठ-२७०
२३. आवश्यकचूर्णि पृष्ठ-२७५
२४. महावीरचरियं ५।१५५

पुरुष चरित्र[२५], में श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा छद्मस्थ अवस्था में दश महास्वप्न देखने का उल्लेख है। उन स्वप्नों में तृतीय स्वप्न यह था—एक रंग-विरंगा पुंस्कोकिल उनके सामने समुपस्थित था। उस स्वप्न का फल था—वे विविध ज्ञानमय द्वादशांग श्रुत की प्रज्ञापना करेंगे। इसमें 'प्रज्ञापयति' और 'प्ररूपयति' इन क्रियाओं से यह स्पष्ट है कि भगवान् का उपदेश प्रज्ञापना-प्ररूपणा है। उस उपदेश को मूल आधार बनाकर प्रस्तुत आगम की रचना की गई, इसलिए इसका नाम 'प्रज्ञापना' रखा गया। प्रस्तुत आगम के रचयिता श्यामाचार्य ने इसका सामान्य नाम 'अध्ययन' दिया है[२६] और विशेष नाम 'प्रज्ञापना' दिया है। उनका अभिमत है—भगवान् महावीर ने सर्वभावों की प्रज्ञापना की है। उसी प्रकार मैं भी यहाँ सर्वभावों की प्रज्ञापना करने वाला हूँ। अतः इस आगम का विशेष नाम 'प्रज्ञापना' है[२७]। उत्तराध्ययन की तरह प्रस्तुत आगम का पूर्ण नाम भी 'प्रज्ञापनाध्ययन' यह हो सकता है।

प्रज्ञापना सूत्र में एक ही अध्ययन है, जबकि उत्तराध्ययन में छत्तीस अध्ययन हैं। प्रज्ञापना के प्रत्येक पद के अन्त में 'पन्नवणाए भगवईए' यह पाठ मिलता है, इसीलिए यह स्पष्ट है कि अंग साहित्य में जो स्थान भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) का है, वही स्थान उपांगों में 'प्रज्ञापना' का है। अंगसाहित्य में जहाँ-तहाँ 'भगवान् ने यह कहा' इस प्रकार के वाक्य उपलब्ध होते हैं। यहाँ पर 'पण्णत्तं' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत आगम में भी प्रज्ञापना शब्द का प्राधान्य है, संभवतः इसीलिए श्यामाचार्य ने इसका नाम प्रज्ञापना रखा हो।' भगवतीसूत्र में आर्यस्कन्धक का वर्णन है। वहाँ पर स्वयं भगवान् महावीर ने कहा- "एवं खलु मए खन्धया! चउव्विहे लोए पण्णत्ते"[२८]। इसी तरह आचारांग आदि आगमों में अनेक स्थलों पर भगवान् के उपदेश के लिए प्रज्ञापना शब्द का प्रयोग हुआ है। आचार्य मलयगिरि के अभिमतानुसार प्रज्ञापना में जो 'प्र' उपसर्ग है, वह भगवान् महावीर के उपदेश की विशेषता को सूचित करता है। भगवान् महावीर के समय में श्रमण परम्परा के अन्य पाँच सम्प्रदाय विद्यमान थे[२९]। उनमें से कुछ ऐसे थे जिनके अनुयायियों की संख्या महावीर के संघ से भी अधिक थी। उन पाँच सम्प्रदायों का नेतृत्व क्रमशः पूरण काश्यप, मंखली गोशालक, अजितकेश कम्बल, पकुध कात्यायन और संजय वेलट्ठीपुत्र कर रहे थे। परिस्थितियों के वात्याचक्र से वे पाँचों सम्प्रदाय काल के गर्भ में विलीन हो गये। वर्तमान में उनका अस्तित्व इतर साहित्य में ही उपलब्ध होता है। तथागत बुद्ध की धारा विदेशों तक प्रवाहित हुई और भारत में लगभग विच्छिन्न हो गई थी। यदि हम उन सभी धर्माचार्यों के दार्शनिक पहलुओं पर चिन्तन करें तो स्पष्ट होगा कि भगवान् महावीर ने जीव, अजीव प्रभृति तत्त्वों का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया है, वैसा सूक्ष्म विश्लेषण उस युग के अन्य कोई भी धर्माचार्य नहीं कर सके। यहाँ तक कि तथागत बुद्ध तो 'अव्याकृत' कहकर आत्मा, परमात्मा आदि प्रश्नों को टालने का ही प्रयास करते रहे।[३०]

---

२५. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र १०।३।१४६

२६. "अज्झयणमिणं चित्तं" —प्रज्ञापना गा. ३.

२७. "उवदंसिया भगवया पण्णवणा सव्व भावाणं।
जह वण्णियं भगवया अहमवि तह वण्णइस्सामि। —प्रज्ञापना गा. २-३

२८. भगवती सूत्र, २।१।९०,

२९. तेन खलु समयेन राजगृहे नगरे षट् पूर्णाद्याः शास्तारोऽसर्वज्ञाः सर्वज्ञमानिनः प्रतिवसंतिस्म। तद्यथा—पूरण-काश्सपो, मश्करीगोशालिपुत्रः, संजयी वैरट्टीपुत्रोऽजितः केशकम्बलः, ककुदः कत्यायनो, निग्रंथो ज्ञातपुत्रः।" (दिव्यावदान, १२।१४३।१४४)

३०. मिलिन्द प्रश्न—२।२५ से ३३. पृष्ठ ४१ से ५२

प्रज्ञापना के भाषापद में 'पन्नवणी' एक भाषा का प्रकार बताया है। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—"जिस प्रकार से वस्तु व्यवस्थित हो, उसी प्रकार उसका कथन जिस भाषा के द्वारा किया जाय, वह भाषा 'प्रज्ञापनी' है।[31] प्रज्ञापना का यह सामान्य अर्थ है। तात्पर्य यह है कि जिसमें किसी भी प्रकार के धार्मिक विधि-निषेध का नहीं अपितु सिर्फ वस्तु स्वरूप का ही निरूपण होता है, वह 'प्रज्ञापनी' भाषा है।[32]

आचार्य मलयगिरि का यह अभिमत है कि प्रज्ञापना समवाय का उपांग है[33]। पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रज्ञापना का सम्बन्ध समवाय के साथ कब जोड़ा गया ? प्रज्ञापना के रचयिता आचार्य श्याम का अभिमत है कि उन्होंने प्रज्ञापना को दृष्टिवाद से लिया है[34]। पर हमारे सामने इस समय दृष्टिवाद उपलब्ध नहीं है, अतः स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि प्रज्ञापना में पूर्वसाहित्य से कौन सी सामग्री ली है ? तथापि यह निश्चित है कि ज्ञानप्रवाद, आत्मप्रवाद और कर्मप्रवाद के साथ इसके वस्तु निरूपण का मेल बैठता है।[35]

प्रज्ञापना और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ षट्खण्डागम का विषय प्रायः समान है। आचार्य वीरसेन ने अपनी धवला टीका में षट्खण्डागम का सम्बन्ध अग्रायणी पूर्व के साथ जोड़ा है[36]। अतः हम भी प्रज्ञापना का सम्बन्ध अग्रायणी पूर्व के साथ जोड़ सकते हैं।

टीकाकार आचार्य मलयगिरि की दृष्टि से समवायांग में जो वर्णन है, उसी का विस्तार प्रज्ञापना में हुआ है। अतः प्रज्ञापना समवायांग का उपांग है। पर स्वयं शास्त्रकार ने इसका सम्बन्ध दृष्टिवाद से बताया है। अतः यही मानना उचित प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध समवायांग की अपेक्षा दृष्टिवाद से अधिक है। किन्तु दृष्टिवाद में मुख्य रूप से दृष्टि (दर्शन) का ही वर्णन था। समवायांग में भी मुख्य रूप से जीव, अजीव आदि तत्त्वों का निरूपण है और प्रज्ञापना में भी यही निरूपण है, अतः प्रज्ञापना को समवायांग का उपांग मानने में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

प्रज्ञापना में छत्तीस विषयों का निर्देश है, इसलिए इसके छत्तीस प्रकरण हैं। प्रकरण को इसमें 'पद' नाम दिया है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में प्रतिपाद्य विषय के साथ पद शब्द व्यवहृत हुआ है। आचार्य मलयगिरि पद की व्याख्या करते हुये लिखते हैं—"पदं प्रकरणमर्थाधिकारः इति पर्यायाः"[37], अतः यहाँ पद का अर्थ प्रकरण[38] और अर्थाधिकार समझना चाहिए।

---

३१. "प्रज्ञापनी-प्रज्ञाप्यतेऽर्थोऽनयेति प्रज्ञापनी" —प्रज्ञापना, पत्र २४९

३२. यथावस्थितार्थाभिधानादियं प्रज्ञापनी ॥ —प्रज्ञापना, पत्र २४९

३३. इयं च समवायाख्यस्य चतुर्थाङ्गस्योपांगम् तदुक्तार्थप्रतिपादनात्। —प्रज्ञापना टीका पत्र १

३४. अज्झयणमिणं चित्तं सुयरयणं दिट्ठिवायणीसंदं।
जह वण्णियं भगवया अहमवि तद वणइस्सामि ॥ ॥ गा० ३ ॥

३५. पण्णवणासुत्तं—प्रस्तावना मुनि पुण्यविजयजी, पृ० ९

३६. षट्खण्डागम, पु० १, प्रस्तावना, पृष्ठ ७२

३७. प्रज्ञापना टीका, पत्र ६

३८. सूत्रसमूहः प्रकरणम्। —न्यायवार्तिक, पृ० १.

रचना शैली

प्रज्ञापना की रचना प्रश्नोत्तर के रूप में हुई है। प्रथम सूत्र से लेकर इक्यासीवें सूत्र तक प्रश्नकर्त्ता कौन है और उत्तरदाता कौन है ? इस सम्बन्ध में कोई भी सूचन नहीं है। केवल प्रश्न और उत्तर हैं। इसके पश्चात् बयासीवें सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर और गणधर गौतम का संवाद है। तेयासीवें सूत्र से लेकर बरानवें (९२) सूत्र तक सामान्य प्रश्नोत्तर है। तेरानवें सूत्र में गणधर गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तर, उसके पश्चात् चौरानवें सूत्र से लेकर एक सौ सेंतालीसवें सूत्र तक सामान्य प्रश्नोत्तर हैं। उसके पश्चात् एक सौ अड़तालीस से लेकर दो सौ ग्यारह तक अर्थात् सम्पूर्ण द्वितीय पद में; तृतीय पद के सूत्र दो सौ पच्चीस से दो सौ पचहत्तर तक और सूत्र तीन सौ पच्चीस, तीन सौ तीस से तीन सौ तेतीस तक व चतुर्थ पद से लेकर शेष सभी पदों के सूत्रों में गौतम गणधर और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर दिये हैं। केवल उनके प्रारम्भ, मध्य और अन्त में आने वाली गाथा और एक हजार छियासी में वे प्रश्नोत्तर नहीं हैं।

जिस प्रकार प्रारम्भ में सम्पूर्ण ग्रन्थ की अधिकार-गाथाएँ आई हैं, उसी प्रकार कितने ही पदों के प्रारम्भ में भी विषय निर्देशक गाथाएँ हैं। उदाहरण के रूप में—तीसरे, अठारहवें बीसवें और तेईसवें पदों के प्रारम्भ और उपसंहार में गाथाएँ हैं। इसी प्रकार दसवें पद के अन्त में, ग्रन्थ के मध्य में और जहाँ आवश्यकता हुई, वहाँ भी गाथाएँ दी गई हैं।[३९] सम्पूर्ण आगम का श्लोकप्रमाण सात हजार आठ सौ सतासी है। इसमें प्रक्षिप्त गाथाओं को छोड़कर कुल दो सौ बत्तीस गाथाएँ हैं और शेष गद्य भाग है। इस आगम में जो संग्रहणी गाथाएँ हैं, उनके रचयिता कौन हैं ? यह कहना कठिन है। प्रज्ञापना के छत्तीस पदों में से प्रथम पद में जीव के दो भेद— संसारी और सिद्ध बताये हैं। उसके बाद इन्द्रियों के क्रम के अनुसार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक में सभी संसारी जीवों का समावेश करके निरूपण किया है। यहाँ जीव के भेदों का नियामक तत्त्व इन्द्रियों की क्रमशः वृद्धि बतलाया है। दूसरे पद में जीवों की स्थानभेद से विचारणा की गई है। इसका क्रम भी प्रथम पद की भाँति इन्द्रियप्रधान ही है। जैसे—वहाँ एकेन्द्रिय कहा वैसे ही यहाँ पृथ्वीकाय, अप्काय आदि कायों को लेकर भेदों का निरूपण किया गया है। तृतीय पद से लेकर शेष पदों में जीवों का विभाजन गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परित्त, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भव, अस्तिकाय, चरम, जीव, क्षेत्र, बंध, इन सभी दृष्टियों से किया गया है। उनके अल्पबहुत्व का भी विचार किया गया है। अर्थात् प्रज्ञापना में तृतीय पद के पश्चात् के पदों में कुछ अपवादों[४०] को छोड़कर सर्वत्र नारक से लेकर चौबीस दण्डकों में विभाजित जीवों की विचारणा की गई है।

विषय-विभाग

आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना सूत्र में आई हुई दूसरी गाथा की व्याख्या करते हुए विषय-विभाग का सम्बन्ध जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों के निरूपण के साथ इस प्रकार संयोजित किया है—

१-२. जीव-अजीव पद— १, ३, ५, १० और १३ = ५ पद
३ आस्रव— पद — १६, २२ = २ पद

---

३९. पण्णवणासुत्तं, द्वितीय भाग (प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय) प्रस्तावना, पृष्ठ १०-११.
४०. इस अपवाद के लिए देखिए, पद-१३, १८, २१

४ बन्ध पद—२३ =१ पद
५-७. संवर, निर्जरा और मोक्ष पद ३६ =१ पद
शेष पदों में क्वचित् किसी तत्त्व का निरूपण है।

जैन दृष्टि से सभी तत्त्वों का समन्वय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में किया गया है। अतः आचार्य मलयगिरि ने द्रव्य का समावेश प्रथम पद में, क्षेत्र का द्वितीय पद में, काल का चतुर्थ पद में और भाव का शेप पदों में समावेश किया है।

प्रज्ञापना का भगवती विशेषण

पाँचवें अंग का नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है और उसका विशेषण 'भगवती' है। प्रज्ञापना को भी 'भगवती' विशेपण दिया गया है, जबकि अन्य किसी भी आगम के साथ यह विशेपण नहीं लगाया गया है। यह विशेषण प्रज्ञापना की महत्ता—विशेपता का प्रतीक है। भगवती में प्रज्ञापना सूत्र के एक, दो, पाँच, छह, ग्यारह, पन्द्रह, सत्तरह, चौवीस, पच्चीस, छब्वीस, सत्ताईस पदों के अनुसार विपय की पूर्ति करने की सूचना है। यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि प्रज्ञापना उपांग होने पर भी भगवती आदि का सूचन उसमें नहीं किया गया है। इसके विपरीत भगवती में प्रज्ञापना कां सूचन है। इसका मूल कारण यह है कि प्रज्ञापना में जिंन विपयों की चर्चाएँ की गई हैं, उन विपयों का उसमें सांगोपांग वर्णन है।

महायान वौद्धों में 'प्रज्ञापारमिता' ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व है। अतः अप्ट साहसिका प्रज्ञापारमिता का भी अपरनाम 'भगवती' मिलता है।[४१]

प्रज्ञापना के रचयिता

प्रज्ञापना के मूल में कहीं पर भी उसके रचयिता के नाम का निर्देश नहीं है। उसके प्रारम्भ में मंगल के पश्चात् दो गाथाएँ हैं। उनकी व्याख्या आचार्य हरिभद्र और आचार्य मलयगिरि दोनों ने की है। किन्तु वे उन गाथाओं को प्रक्षिप्त मानते हैं। उन गाथाओं में स्पष्ट उल्लेख है—यह श्यामाचार्य की रचना है। आचार्य मलयगिरि ने श्यामाचार्य के लिए 'भगवान्' विशेपण का प्रयोग किया।[४२] आर्य श्याम वाचक वंश के थे। वे पूर्वश्रुत में निष्णात थे। उन्होंने प्रज्ञापना की रचना में विशिष्ट कला प्रदर्शित की, जिसके कारण अंग और उपांग में उन विपयों की चर्चा के लिए प्रज्ञापना देखने का सूचन किया है। नन्दी-स्थविरावली में सुधर्मा से लेकर क्रमशः आचार्यो की परम्परा का उल्लेख है। उसमें ग्यारहवाँ नाम 'वन्दिमो हारियं च सामज्जं' है। हारित गोत्रीय आर्य वलिस्सह के शिष्य आर्य स्वाति थे। आर्य स्वाति भी हारित गोत्रीय परिवार के थे। आचार्य श्याम आर्य स्वाति के शिष्य थे।[४३] किन्तु प्रज्ञापना की प्रारम्भिक प्रक्षिप्त गाथा में आर्य श्याम को वाचक वंश का वताया है और साथ ही तेवीसवें पट्ट पर भी वताया है। आचार्य मलयगिरि ने भी उनको तेवीसवीं आचार्यपरम्परा पर माना है। किन्तु

४१. शिक्षा समुच्चय, पृ. १०४-११२, २००
४२. (क) भगवान् आर्यश्यामोऽपि इत्थमेव सूत्रं रचयति (टीका, पत्र ७२)
(ख) भगवान् आर्यश्याम : पठति (टीका, पत्र ४७)
(ग) सर्वेपामपि प्रावचनिकसूरीणां मतानि भगवान् आर्यश्याम उपदिष्टवान् (टीका, पत्र ३८५)
(घ) भगवदार्यश्यामप्रतिपत्तौ (टीका, पत्र-३८५)
४३. हारियगोत्तं साइं च, वंदिमो हारियं च सामज्जं ।।२६ (नन्दी स्थविरावली)

सुधर्मा से लेकर श्यामाचार्य तक उन्होंने नाम नहीं दिये हैं। पट्टावलियों के अध्ययन से यह भी परिज्ञात होता है कि कालकाचार्य नामके तीन आचार्य हुए हैं। एक का वीर निर्वाण ३७६ में स्वर्गवास हुआ था।[४४] द्वितीय गर्दभिल्ल को नष्ट करने वाले कालकाचार्य हुए। उनका समय वीरनिर्वाण ४५३ है।[४५] तृतीय कालकाचार्य, जिन्होंने संवत्सरी महापर्व पंचमी के स्थान पर चतुर्थी को मनाया था, उनका समय वीरनिर्वाण ९९३ है।[४६]

इन तीन कालकाचार्यों में प्रथम कालकाचार्य 'श्यामाचार्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये अपने युग के महाप्रभावक आचार्य थे। उनका जन्म वीरनिर्वाण २८० (विक्रम पूर्व १९०) है। संसार से विरक्त होकर वीरनिर्वाण ३०० (विक्रम पूर्व १७०) में उन्होंने श्रमण दीक्षा स्वीकार की। दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था बीस वर्ष की थी। अपनी महान् योग्यता के आधार पर वीरनिर्वाण ३३५ (विक्रमपूर्व १३५) में उन्हें युग प्रधानाचार्य के पद पर विभूषित किया गया था।[४७]

इन तीन कालकाचार्यों में प्रथम कालकाचार्य ने, जिन्हें श्यामाचार्य भी कहते हैं, प्रज्ञापना जैसे विशालकाय सूत्र की रचना कर अपने विशद वैदुष्य का परिचय दिया था।[४८] अनुयोग की दृष्टि से प्रज्ञापना द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत है। प्रज्ञापना को समग्र श्रमण-संघ ने आगम के रूप में स्वीकार किया। यह आचार्य श्याम की निर्मल नीति और हार्दिक विश्वास का द्योतक है। उनका नाम श्याम था पर विशुद्धतम चारित्र की आराधना से वे अत्यन्त समुज्ज्वल पर्याय के धनी थे। पट्टावलियों में उनका तेवीसवाँ स्थान पट्ट-परम्परा में नहीं है। अन्तिम कालकाचार्य प्रज्ञापना के कर्त्ता नहीं हैं, क्योंकि नन्दीसूत्र, जो वीरनिर्वाण ९९३ के पहले रचित है, उसमें प्रज्ञापना को आगम-सूची में स्थान दिया है। अतः अब चिन्तन करना है कि प्रथम और द्वितीय कालकाचार्य में से कौन प्रज्ञापना के रचयिता हैं? डॉ. उमाकान्त का अभिमत है कि यदि दोनों कालकाचार्यों को एक माना जाये तो ग्यारहवें पाट पर जिन श्यामाचार्य का उल्लेख है, वे और गर्दभिल्ल राजा को नष्ट करने वाले कालकाचार्य ये दोनों एक सिद्ध होते हैं। पट्टावली में जहाँ उन्हें भिन्न-भिन्न गिना है, वहाँ भी एक की तिथि वीर संवत् ३७६ है और दूसरे की तिथि वीर-संवत् ४५३ है। वैसे देखें तो इनमें ७७ वर्ष का अन्तर है। इसलिए चाहे जिसने प्रज्ञापना की रचना की हो, प्रथम या द्वितीय अथवा दोनों एक ही हों तो भी विक्रम के पूर्व होने वाले कालकाचार्य (श्यामाचार्य) थे इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

---

४४. (क) आद्यः प्रज्ञापनाकृत् इन्द्रस्य अग्रे निगोद-विचारवक्ता श्यामाचार्यपरनामा। स तु वीरात् ३७६ वर्षैर्जातः।
—(खरतरगच्छीय पट्टावली)
(ख) धर्मसागरीय पट्टावली के अनुसार—एक कालक जो वीरनिर्वाण ३७६ में मृत्यु को प्राप्त हुए।

४५. 'पन्नवणासुत्तं'—पुण्यविजयजी म., प्रस्तावना पृष्ठ २२

४६. (क) पृथ्वीचन्द्र सूरि विरचित कल्पसूत्र टिप्पणक, सूत्र २९१ की व्याख्या।
(ख) कल्पसूत्र की विविध टीकाएँ।

४७. सिरिवीराओ गएसु पणतीसहिएसु तिसय (३३५) वरिसेसु।
पढमो कालगसूरी, जाओ सामज्जनामुत्ति ॥ ५५ ॥
(रत्नसंचय प्रकरण, पत्रांक ३२)

४८. निज्जूढा जेण तया पन्नवणा सव्वभावपन्नवणा।
तेवीसइमो पुरिसो पवरो सो जयइ सामज्जो ॥ १८८ ॥

परम्परा की दृष्टि से आचार्य श्याम की अधिक प्रसिद्धि निगोद-व्याख्याता के रूप में रही है। एक बार भगवान् सीमंधर से महाविदेह क्षेत्र में शक्रेन्द्र ने सूक्ष्मनिगोद की विशिष्ट व्याख्या सुनी। उन्होंने जिज्ञासा प्रस्तुत की—क्या भगवन्! भरतक्षेत्र में भी निगोद सम्बन्धी इस प्रकार की व्याख्या करने वाले कोई श्रमण, आचार्य और उपाध्याय हैं? भगवान् सीमंधर ने आचार्य श्याम का नाम प्रस्तुत किया। वृद्ध ब्राह्मण के रूप में शक्रेन्द्र आचार्य श्याम के पास आये। आचार्य के ज्ञानबल का परीक्षण करने के लिए उन्होंने अपना हाथ उनके सामने किया। हस्तरेखा के आधार पर आचार्य श्याम ने देखा—वृद्ध ब्राह्मण की आयु पल्योपम से भी अधिक है। उनकी गम्भीर दृष्टि उन पर उठी और कहा—तुम मानव नहीं, अपितु शक्रेन्द्र हो। शक्रेन्द्र को आचार्य श्याम के प्रस्तुत उत्तर से संतोष प्राप्त हुआ। उन्होंने निगोद के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा रखी। आचार्य श्याम ने निगोद का सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण कर शक्रेन्द्र को आश्चर्याभिभूत कर दिया। सौधर्मेन्द्र ने कहा—जैसा मैंने भगवान् सीमंधर से निगोद का विवेचन सुना, वैसा ही विवेचन आपके मुखारविन्द से सुनकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। देव की अद्‌भुत रूपसम्पदा को देखकर कोई शिष्य निदान न कर ले, इस दृष्टि से भिक्षाचर्या में प्रवृत्त मुनिमण्डल के आगमन से पहले ही शक्रेन्द्र श्यामाचार्य की प्रशंसा करता हुआ जाने के लिए उद्यत हो गया।

ज्ञान के साथ अहं न आये, यह असम्भव है। महाबली, विशिष्ट साधक बाहुबली और कामविजेता आर्य स्थूलभद्र में भी अहंकार आ गया था, वैसे ही श्यामाचार्य भी अहंकार से ग्रसित हो गये। उन्होंने कहा—तुम्हारे आगमन के बाद मेरे शिष्य बिना किसी सांकेतिक चिह्न के किस प्रकार जान पायेंगे? आचार्यदेव के संकेत से शक्रेन्द्र ने उपाश्रय का द्वार पूर्वाभिमुख से पश्चिमाभिमुख कर दिया। जब आचार्य श्याम के शिष्य भिक्षा लेकर लौटे तो द्वार को विपरीत दिशा में देखकर विस्मित हुए। इन्द्र के आगमन की प्रस्तुत घटना प्रभावकचरित में कालकसूरि प्रबन्ध में आचार्य कालक के साथ दी है। विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि प्रभृति ग्रन्थों में आर्य रक्षित के साथ यह घटना दी गई है।

परम्परा की दृष्टि से निगोद की व्याख्या करने वाले कालक और श्याम ये दोनों एक ही आचार्य हैं, क्योंकि कालक और श्याम ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। परम्परा की दृष्टि से वीरनिर्वाण ३३५ में वे युगप्रधान आचार्य हुए और ३७६ तक जीवित रहे। यदि प्रज्ञापना उन्हीं कालकाचार्य की रचना है तो वीरनिर्वाण ३३५ से ३७६ के मध्य की रचना है। आधुनिक अनुसंधान से यह सिद्ध है कि निर्युक्ति के पश्चात् प्रज्ञापना की रचना हुई है। नन्दीसूत्र में जो आगम-सूची दी गई है, उसमें प्रज्ञापना का उल्लेख है। नन्दीसूत्र विक्रम संवत् ५२३ के पूर्व की रचना है। अतः इसके साथ प्रज्ञापना के उक्त समय का विरोध नहीं।

प्रज्ञापना और षट्खण्डागम : एक तुलना

आगमप्रभाकर पुण्यविजयजी म. एवं पं. दलसुख मालवणिया ने 'पन्नवणासुत्तं' ग्रन्थ की प्रस्तावना में प्रज्ञापनासूत्र और षट्खण्डागम की विस्तृत तुलना दी है। हम यहाँ उसी का संक्षेप में सारांश अपनी दृष्टि से प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रज्ञापना श्वेताम्बरपरम्परा का आगम है तो षट्खण्डागम दिगम्बरपरम्परा का आगम है। प्रज्ञापना के रचयिता दशपूर्वधर श्यामाचार्य हैं तो षट्खण्डागम के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त और आचार्य भूतबलि हैं। दिगम्बर विद्वान् षट्खण्डागम की रचना का काल विक्रम की प्रथम शताब्दी मानते हैं। यह ग्रन्थ छह खण्डों

में विभक्त होने से 'षट्खण्डागम' के रूप में विश्रुत है। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि पुष्पदन्त और भूतबलि से पूर्व श्यामाचार्य हुए थे। अतः प्रज्ञापना षट्खण्डागम से बहुत पहले की रचना है।

दोनों ही आगमों का मूल स्रोत दृष्टिवाद है।[४९] दोनों ही आगमों का विषय जीव और कर्म का सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्लेषण करना है। दोनों में अल्पबहुत्व का जो वर्णन है, उसमें अत्यधिक समानता है, जिसे महादण्डक कहा गया है।[५०] दोनों में गति—आगति प्रकरण में तीर्थंकर, बलदेव एवं वासुदेव के पदों की प्राप्ति के उल्लेख की समानता वस्तुतः प्रेक्षणीय है।[५१] दोनों में अवगाहना, अन्तर आदि अनेक विषयों का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है। प्रज्ञापना में छत्तीस पद हैं, उनमें से २३वें, २७वें, ३५वें पद में क्रमशः प्रकृतिपद, कर्मपद, कर्मबंधवेदपद, कर्मवेदबंधपद, कर्मवेदवेदकपद और वेदनापद ये छह नाम हैं। षट्खण्डागम के टीकाकार वीरसेन ने षट्खण्डागम के जीवस्थान, क्षुद्रकबंध, बंधस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबंध ये छह नाम दिये हैं। प्रज्ञापना के उपर्युक्त पदों में जिन तथ्यों की चर्चाएँ की गई हैं, उन्हीं तथ्यों की चर्चाएँ षट्खण्डागम में भी की गई हैं।

दोनों ही आगमों में गति आदि मार्गणास्थानों की दृष्टि से जीवों के अल्पबहुत्व पर चिन्तन किया गया है। प्रज्ञापना में अल्पबहुत्व की मार्गणाओं के छब्बीस द्वार हैं जिनमें जीव और अजीव इन दोनों पर विचार किया गया है। षट्खण्डागम में चौदह गुणस्थानों से सम्बन्धित गति आदि मार्गणाओं को दृष्टि में रखते हुए जीवों के अल्पबहुत्व पर विचार किया गया है। प्रज्ञापना में अल्पबहुत्व की मार्गणाओं के छब्बीस द्वार हैं तो षट्खण्डागम में चौदह हैं। किन्तु दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि षट्खण्डागम में वर्णित चौदह मार्गणा द्वार प्रज्ञापना में वर्णित छब्बीस द्वारों में चौदह के साथ पूर्ण रूप से मिलते हैं। जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है:—

---

४९. (क) अज्झयणमिणंचित्तं सुयरयणं दिट्ठीवायणीसंदं।
जह वण्णियं भगवया, अहमवि तह वण्णइस्सामि॥ —प्रज्ञापनासूत्र, पृष्ठ १, गा. ३.

(ख) अग्रायणीयपूर्वस्थित-पंचमवस्तुगतचतुर्थमहाकर्मप्राभृतकज्ञः सूरिर्धरसेननामाऽभूत्॥१०४॥
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खण्डैः॥१३४॥ —श्रुतावतार-इन्द्रनन्दीकृत

(ग) भूतबलि-भयवदा जिणवालिदपासे दिट्ठविसदिसुत्तेण अप्पाउओत्ति अवगयजिणवालिदेण महाकम्मपयडि-पाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगममादिं काऊण गंथरयणा कदा।
—षट्खण्डागम, जीवट्ठाण, भाग १, पृष्ठ ७१

५०. अह भंते! सव्वजीवप्पबहुं महादंडयं वण्णइस्सामि सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतिया मणुस्सा....सजोगी विसेसाहिया ९६, संसारत्था विसेसाहिया ९८, सव्वजीवा विसेसाहिया ९८। —प्रज्ञापनासूत्र-३३४
तुलना करें—

'एत्तो सव्वजीवेसु महादंडओ कादव्वो भवदि सव्वत्थोवा मणुस्सपज्जत्ता गब्भोववक्कंतिया.... णिगोद-जीवा विसेसाहिया।
—षट्खण्डागम, पुस्तक ७

५१. प्रज्ञापनासूत्र, सू. १४४४ से ६५.
तुलना करें—
षट्खण्डागम, पुस्तक ६. सू. ११६-२२०

प्रज्ञापना[52]	षट्खण्डागम[53]
१. दिशा	
२. गति	१. गति
३. इन्द्रिय	२. इन्द्रिय
४. काय	३. काय
५. योग	४. योग
६. वेद	५. वेद
७. कषाय	६. कषाय
८. लेश्या	१०. लेश्या
९. सम्यक्त्व	१२. सम्यक्त्व
१०. ज्ञान	७. ज्ञान
११. दर्शन	९. दर्शन
१२. संयम	८. संयम
१३. उपयोग	—
१४. आहार	१४. आहारक
१५. भाषक	—
१६. परित्त	—
१७. पर्याप्त	—
१८. सूक्ष्म	—
१९. संज्ञी	१३. संज्ञी
२०. भव	११. भव्य
२१. अस्तिकाय	—
२२. चरिम	—
२३. जीव	—
२४. क्षेत्र	—
२५. बंध	—
२६. पुद्गल	—

जैसे प्रज्ञापनासूत्र की बहुवक्तव्यता नामक तृतीय पद में गति, प्रभृति मार्गणास्थानों की दृष्टि से छब्बीस द्वारों के अल्पबहुत्व पर चिन्तन करने के पश्चात् प्रस्तुत प्रकरण के अन्त में "अह भंते सव्वजीवप्पबहुं महा-

---

५२ दिसि गति इंदिय काए जोगे वेदे कसाया लेस्सा य।
सम्मत्त णाण दंसण संजम उवओग आहारे ।।
भासग परित्त पज्जत्त सुहुम सण्णी भवत्थिए चरिमे।
जीवे य खेत्त वन्धे पोग्गल महदंडए चेव ।।
—पन्नवणा. ३, बहुवत्तव्वपयं सूत्र २१२. गा. १८०, १८१

५३. षट्खण्डागम, पुस्तक ७, पृ. ५२०

दण्डयं वत्तइस्सामि" कहा है, वैसे ही षट्खण्डागम में भी चौदह गुणस्थानों में गति आदि चौदह मार्गणास्थानों द्वारा जीवों के अल्पबहुत्व पर चिन्तन करने के पश्चात् प्रस्तुत प्रकरण के अन्त में महादण्डक का उल्लेख किया है।[५४]

प्रज्ञापना में जीव को केन्द्र मानकर निरूपण किया गया है तो षट्खण्डागम में कर्म को केन्द्र मानकर विश्लेषण किया गया है, किन्तु खुद्दाबंध (क्षुद्रकबंध) नामक द्वितीय खण्ड में जीव बंधन का विचार चौदह मार्गणा स्थानों के द्वारा किया गया है, जिसकी शैली प्रज्ञापना से अत्यधिक मिलती-जुलती है।

प्रज्ञापना[५५] की अनेक गाथाएँ षट्खण्डागम में[५६] कुछ शब्दों के हेरफेर के साथ मिलती हैं। यहाँ तक कि आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यक की गाथाओं से भी मिलती हैं।

इसी प्रकार प्रज्ञापना और षट्खण्डागम इन दोनों का प्रतिपाद्य विषय एक है, दोनों का मूल स्रोत भी एक है। तथापि भिन्न-भिन्न लेखक होने से दोनों के निरूपण की शैली पृथक् पृथक् रही है। कहीं कहीं पर तो षट्खण्डागम से भी प्रज्ञापना का निरूपण अधिक व्यवस्थित रूप से हुआ है। मेरा यहाँ पर यह तात्पर्य नहीं है कि षट्खण्डागम के लेखक आचार्य पुष्पदन्त और आचार्य भूतवलि ने प्रज्ञापना की नकल की है, पर यह पूर्ण सत्य-तथ्य है कि प्रज्ञापना की रचना षट्खण्डागम से पहले हुई थी। अतः उसका प्रभाव षट्खण्डागम के रचनाकार पर अवश्य ही पड़ा होगा।

जीवाभिगम और प्रज्ञापना

जीवाभिगम तृतीय उपांग है और प्रज्ञापना चतुर्थ उपांग है। ये दोनों आगम अंगबाह्य होने से स्थविर-कृत हैं। जीवाभिगम स्थानांग अंग का उपांग है तो प्रज्ञापना, समवायांग का। जीवाभिगम और प्रज्ञापना इन दोनों ही आगमों में जीव और अजीव के विविध स्वरूपों का निरूपण किया गया है। इन दोनों में प्रथम अजीव का निरूपण करने के पश्चात् जीव का निरूपण किया गया है। दोनों ही आगमों में मुख्य अन्तर यह है कि जीवाभिगम, स्थानांग का उपांग होने से उसमें एक से लेकर दश भेदों का निरूपण है। दश तक का निरूपण दोनों में प्रायः समान-सा है। प्रज्ञापना में वह क्रम आगे बढ़ता है। प्रश्न यह है कि प्रज्ञापना और जीवाभिगम इन दोनों आगमों

---

५४. षट्खण्डागम, पुस्तक ७, पृ. ७४५

५५. समयं वक्कंताणं, समयं तेसिं सरीर निव्वत्ती।
समयं आणुग्गहणं, समयं ऊसास—नीसासे॥
एक्कस्स उ जं गहणं, बहूण साहारणाण तं चेव।
जं बहुयाणं गहणं समासओ तं पि एगस्स॥
साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाण गहणं च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं एयं॥ —प्रज्ञापना, गा० ९७-१०१.

५६. तुलना करें—
साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं भणिदं।
एयस्स अणुग्गहणं बहूणसाहारणाणमेयस्स।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स॥
आवश्यकनिर्युक्ति—गा० ३१ से और विशेषावश्यकभाष्य गा० ६०४ से तुलना करें—
षट्खण्डागम—पुस्तक १३, गाथा सूत्र ४ से ९, १२, १३, १५, १६.।

में ऐतिहासिक दृष्टि से पहले किसका निर्माण हुआ ? जीवाभिगम में अनेक स्थलों पर प्रज्ञापना के पदों का उल्लेख किया है। उदाहरण के रूप में[५७] सूत्र—४, ५, १३, १५, २०, ३५, ३६, ३८, ४१, ८६, ९१, १००, १०६, ११३,११७, ११८, १२०, १२१, १२२, इनके अतिरिक्त राजप्रश्नीयसूत्र का उल्लेख भी सूत्र—१०९, ११० में हुआ है और औपपातिकसूत्र का उल्लेख सूत्र १११ में हुआ है। इन सूत्रों के उल्लेख से यह जिज्ञासा सहज रूप से हो सकती है कि इन आगमों के नाम वल्लभीवाचना के समय सुविधा की दृष्टि से उसमें रखे गये हैं या स्वयं आगम-रचयिता स्थविर भगवान् ने रखे हैं ? यदि लेखक ही ने रखे हैं तो जीवाभिगम की रचना प्रज्ञापना के बाद की होनी चाहिए।

उत्तर में निवेदन है कि जीवाजीवाभिगम आगम की रचनाशैली इस प्रकार की है कि उसमें क्रमशः जीव के भेदों का निरूपण है। उन भेदों में जीव की स्थिति, अन्तर, अल्पबहुत्व आदि का वर्णन है। सम्पूर्ण आगम दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम विभाग में अजीव और संसारी जीवों के भेदों का वर्णन है, तो दूसरे विभाग में सम्पूर्ण संसारी और सिद्ध जीवों का निरूपण है। एक भेद से लेकर दश भेदों तक का उसमें निरूपण हुआ है। किन्तु प्रज्ञापना में विषयभेद के साथ निरूपण करने की पद्धति भी पृथक् है और वह छत्तीस पदों में निरूपित है। केवल प्रथम पद में ही जीव और अजीव का भेद किया गया है। अन्य शेष पदों में जीवों का स्थान, अल्पबहुत्व, स्थिति, आदि का क्रमशः वर्णन है। एक ही स्थान पर जीवों की स्थिति आदि का वर्णन प्राप्त है। पर जीवा-जीवाभिगम में उन सभी विषयों की चर्चा एक साथ नहीं है। जीवाजीवाभिगम से प्रज्ञापना में वस्तुविचार का आधिक्य भी रहा हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रज्ञापना की रचना से पूर्व जीवाजीवाभिगम की रचना हुई है। अब रहा प्रज्ञापना के नाम का उल्लेख जीवाजीवाभिगम में हुआ है, उसका समाधान यही है कि प्रज्ञापना में उन विषयों की चर्चा विस्तार से हुई है। इसी कारण से प्रज्ञापना का उल्लेख भगवती आदि अंग-साहित्य में भी हुआ है और यह उल्लेख आगमलेखन के युग का है।

आगम प्रभावक पुण्यविजयजी म. का यह भी मन्तव्य है कि जैसे आचारांग, सूत्रकृतांग आदि प्राचीन आगमों में मंगलाचरण नहीं है वैसे ही जीवाजीवाभिगम में भी मंगलाचरण नहीं है। इसलिए उसकी रचना प्रज्ञापना से पहले की है। प्रज्ञापना के प्रारम्भ में मंगलाचरण किया गया है। इसलिए वह जीवाजीवाभिगम से बाद की रचना है।[६०]

मंगलाचरण : एक चिन्तन

मंगलाचरण आगमयुग में नहीं था। आगमकार अपने अभिधेय के साथ ही आगम का प्रारम्भ करते थे। आगम स्वयं मंगलस्वरूप होने के कारण उसमें मंगलवाक्य अनिवार्य नहीं माना गया। आचार्य वीरसेन और आचार्य जिनसेन ने कषायपाहुड की जयधवला टीका में लिखा है—आगम में मंगलवाक्य का नियम नहीं है। क्योंकि परमागम में ध्यान को केन्द्रित करने से नियम से मंगल का फल सम्प्राप्त हो जाता है।[६१] यही कारण है कि आचार्य गुणधर ने अपने कषायपाहुड ग्रन्थ में मंगलाचरण नहीं किया।[६२]

---

५७. देखिए, सूत्र संख्या के लिए जीवाभिगम, देवचंद-लालभाई द्वारा प्रकाशित ई० सन् १९१९ की आवृत्ति !

६०. देखिए, पन्नवणासुत्तं, भाग २., प्रका. महावीर जैन विद्यालय बम्बई, प्रस्तावना पृष्ठ १४-१५

६१. एत्थ पुण णियमो णत्थि, परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलंभादो।
—कसायपाहुड, भाग १, गाथा १, पृष्ठ ९.

६२. एदस्थ अत्थविसेसस्स जाणावणट्ठं गुणहरभट्टारएण गंथस्सादीए ण मंगलं कयं।
—कसायपाहुड, भाग १, गाथा १, पृष्ठ ९.

द्वादशांगी में केवल भगवतीसूत्र को छोड़कर अन्य किसी भी आगम के प्रारम्भ में मंगलवाक्य नहीं है। वैसे ही उपांग में प्रज्ञापना के प्रारम्भ में मंगलगाथाएँ आई हैं। उन गाथाओं में सर्वप्रथम सिद्ध को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार किया है। प्रज्ञापना की प्राचीनतम जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उन सभी प्रतियों में पंचनमस्कार महामंत्र उट्टंकित है। प्रज्ञापना के टीकाकार आचार्य हरिभद्र और आचार्य मलयगिरि ने पंचनमस्कार महामंत्र की व्याख्या नहीं की है। इस कारण आगमप्रभावक पुण्यविजयजी म., पं. दलसुखभाई मालवणिया आदि का अभिमत है कि प्रज्ञापना के निर्माण के समय नमस्कारमहामंत्र उसमें नहीं था। किन्तु लिपिकर्त्ताओं ने प्रारम्भ में उसे संस्थापित किया हो। षट्खण्डागम में भी आचार्य वीरसेन के अभिमतानुसार पंचनमस्कार महामंत्र का निर्देश है।

प्रज्ञापना में प्रथम सिद्ध को नमस्कार कर उसके पश्चात् अरिहंत को नमस्कार किया है, जबकि पंच-नमस्कर महामंत्र में प्रथम अरिहंत को नमस्कार है और उसके पश्चात् सिद्ध को। उत्तराध्ययन आदि आगम साहित्य में यह स्पष्ट उल्लेख है कि तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण करते समय सिद्धों को नमस्कार करते हैं। इस दृष्टि से जैनपरम्परा में प्रथम सिद्धों को नमस्कार करने की परम्परा प्रारम्भ हुई। तीर्थंकर अर्थात् अरिहन्त प्रत्यक्ष उपकारी होने से पंचनमस्कार महामंत्र में उन्हें प्रथम स्थान दिया गया है। ई. पूर्व महाराज खारवेल, जो कलिंगाधिपति थे, उन्होंने जो शिलालेख उट्टंकित करवाये, उनमें प्रथम अरिहन्त को नमस्कार किया गया है और उसके बाद सिद्ध को।

मूर्धन्य मनीषियों का यह अभिमत है कि जब तक तीर्थ की संस्थापना नहीं हो जाती, तब तक सिद्धों को प्रथम नमस्कार किया जाता है और जब तीर्थ की स्थापना हो जाती है, तब सन्निकट के उपकारी होने से प्रथम अरिहन्त को और उसके पश्चात् सिद्धों को नमस्कार करने की प्रथा प्रारम्भ हुई होगी। प्राचीनतम ग्रन्थों में मंगलाचरण की यह पद्धति प्राप्त होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि निश्चित रूप से ऐसा ही क्रम रहा हो। वन्दन का जहाँ तक प्रश्न है, वह साधक की भावना पर अवलम्बित है। तीर्थंकरों के अभाव में तीर्थंकर-परम्परा का प्रबल प्रतिनिधित्व करने वाले आचार्य और उपाध्याय हैं, अतः वे भी वन्दनीय माने गये और आचार्य, उपाध्याय पद के अधिकारी साधु हैं, इसलिए वे भी पांचवें पद में नमस्कार के रूप में स्वीकृत हुए हों।

पंचपरमेष्ठीनमस्कार महामंत्र का निर्माण किसने किया? यह प्रश्न सर्वप्रथम आवश्यकनिर्युक्ति में समुपस्थित किया गया है। उत्तर में निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने यह समाधान किया है कि पंचपरमेष्ठीनमस्कार महामंत्र सामायिक का ही एक अंग है। अतः सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करना चाहिए।[६३] नमस्कारमहामंत्र उतना ही पुराना है, जितना सामायिकसूत्र। सामायिक के अर्थकर्ता तीर्थंकर हैं और सूत्रकर्ता गणधर हैं।[६४] इसलिए नमस्कारमहामंत्र के भी अर्थकर्ता तीर्थंकर हैं और उसके सूत्रकर्ता गणधर हैं।

द्वितीय प्रश्न यह है कि पंचनमस्कार यह आवश्यक का ही एक अंश है या यह अंश दूसरे स्थान से इसमें स्थापित किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में स्पष्ट रूप से दिया है कि आचार्य देववाचक ने नन्दीसूत्र में पंचनमस्कार महामंत्र को पृथक् श्रुतस्कंध के रूप में नहीं गिना है।

---

६३. कयपंचनमोक्कारो करेइ सामाइयंति सोऽभिहितो।
सामाइयंगमेव य जं सो सेसं अतो वोच्छं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२७.

६४. (क) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १५४४
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ८९, ९०

तथापि यह स्पष्ट है कि यह सूत्र है और प्रथम मंगल भी है, इसीलिए नमस्कारमहामंत्र केवल आवश्यकसूत्र का ही अंश नहीं, किन्तु सर्वश्रुत का आदिमंगल रूप भी है। किसी भी श्रुत का पाठ ग्रहण करते समय नमस्कार करना आवश्यक है। आचार्य भद्रबाहु ने नमस्कारमहामंत्र की उत्पत्ति, अनुत्पत्ति की गहराई से चर्चा विविध नयों की दृष्टि से की है।[६५] आचार्य जिनभद्र ने तो अपने विस्तृत भाष्य में दार्शनिक दृष्टि से शब्द की नित्य-अनित्यता की चर्चा कर नयदृष्टि से उस पर चिन्तन किया है। इस महामंत्र के रचयिता अज्ञात हैं। एक प्राचीन आचार्य ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है—

"आगे चौबीसी हुई अनन्ती, होसी बार अनन्त !
नवकार तणी कोई आदि न जाने, यूं भाख्यो भगवन्त" !!

महानिशीथ, जिसके उद्धारक आचार्य हरिभद्र माने जाते हैं, उसमें महामंत्र के उद्धारक आर्य वज्रस्वामी माने गये हैं और आचार्य हरिभद्र के बाद होने वाले धवला टीकाकार वीरसेन आचार्य की दृष्टि से नमस्कार के कर्त्ता आचार्य पुष्पदन्त हैं।[६६] आचार्य पुष्पदन्त का अस्तित्वकाल वीरनिर्वाण की सातवीं शताब्दी (ई. पहली शताब्दी) है। हम पूर्व ही बता चुके हैं कि खारवेल के शिलालेख जो ई. पूर्व १५२ हैं, उसमें "नमो अरहंताणं, नमो सव्वसिद्धाणं," ये पद प्राप्त होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि नमस्कारमहामंत्र का अस्तित्व आचार्य पुष्पदन्त से बहुत पहले था। श्वेताम्बर-परम्परा की दृष्टि से नमस्कारमहामंत्र के रचयिता तीर्थंकर और गणधर हैं। जैसा कि आवश्यकनिर्युक्ति से स्पष्ट है।

अस्तिकाय : एक चिन्तन

प्रज्ञापना के प्रथम पद में ही जीव और अजीव के भेद और प्रभेद बताकर फिर उन भेद और प्रभेदों की चर्चाएँ अगले पदों में की हैं। प्रथम पद में अजीव के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है। अजीव का निरूपण रूपी और अरूपी इन दो भेदों में करके रूपी में पुद्गल द्रव्य का निरूपण किया है और अरूपी में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि के रूप में अजीव द्रव्य का वर्णन किया गया है। किन्तु प्रस्तुत आगाम में इन भेदों का वर्णन करते समय अस्तिकाय शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उनके स्थान पर द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है जो आगम की प्राचीनता का प्रतीक है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन तीनों को देश और प्रदेश इन भेदों में विभक्त किया है। किन्तु अस्तिकाय शब्द का अर्थ कहीं पर भी मूल आगम में नहीं दिया गया है। अद्धा-समय के साथ अस्तिकाय शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है। इससे धर्मास्तिकाय आदि के साथ अद्धा समय का जो अन्तर है, वह स्पष्ट होता है। प्रस्तुत आगम में जीव के साथ अस्तिकाय शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि जीव के प्रदेश नहीं है, क्योंकि प्रज्ञापना के पांचवें पद में जीव के प्रदेशों पर चिन्तन किया गया है। प्रथम पद में जिनको अजीव और जीव के मौलिक भेद कहे है, उन्हें ही पाँचवें पद में जीवपर्याय और अजीवपर्याय कहा है। तेरहवें पद में उन्हीं को परिणाम नाम से प्रतिपादित किया है।

अजीव के अरूपी और रूपी ये दो भेद बताकर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और अद्धा समय इन चार को अरूपी अजीव के अन्तर्गत लिया गया है। धर्म, अधर्म और आकाश के स्कन्ध, देश और प्रदेश ये

---

६५. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६४४ से ६४६
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३३३५ से ३३३८ तक

६६. षट्खण्डागम, धवला टीका, भाग १, पृष्ठ ४१ तथा भाग २, प्रस्तावना पृष्ठ ३३ से ४१

प्रत्येक के विभाग किये गये हैं। यहाँ पर देश का अर्थ धर्मास्तिकाय आदि का बुद्धि के द्वारा कल्पित दो तीन आदि प्रदेशात्मक विभाग है और प्रदेश का अर्थ धर्मास्तिकाय आदि का बुद्धिकल्पित प्रकृष्ट देश जिसका पुनः विभाग न हो सके, निर्विभाग विभाग प्रदेश है। धर्मास्तिकाय आदि के समग्र प्रदेश का समूह स्कंध है। 'अद्धा' काल को कहते हैं, अद्धारूप समय अद्धासमय है। वर्तमान काल का एक ही समय 'सत्' होता है। अतीत और अनागत के समय या तो नष्ट हो चुके होते हैं या उत्पन्न नहीं हुए होते हैं। अतः काल में देश-प्रदेशों के संघात की कल्पना नहीं है। असंख्यातसमय आदि की समूहरूप आवलिका की कल्पना व्यावहारिक है।

रूपी अजीव के अन्तर्गत पुद्गल को लिया गया है। उसके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु पुद्गल ये चार प्रकार हैं। पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानयुक्त होता है। पांच वर्ण के बीस भेद, दो गंध के छियालीस भेद, पांच रस के सौ भेद, आठ स्पर्श के एक सौ चौरासी भेद, पांच संस्थान के सौ भेद, इस तरह रूपी अजीव के पांच सौ तीस भेद और अरूपी अजीव के तीस भेद का निरूपण हुआ है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अस्तिकाय शब्द 'अस्ति' और 'काय' इन दो शब्दों के मेल से निर्मित हुआ है। अस्ति का अर्थ 'सत्ता' अथवा 'अस्तित्व' है और काय का अर्थ यहाँ पर शरीररूप अस्तिवान् के रूप में नहीं हुआ है। क्योंकि पंचास्तिकाय में पुद्गल के अतिरिक्त शेष अमूर्त हैं, अतः यहाँ काय का लाक्षणिक अर्थ है—जो अवयवी द्रव्य हैं, वे अस्तिकाय हैं और जो निरवयव द्रव्य है, वह अनस्तिकाय है। अपर शब्दों में यों कह सकते हैं जिसमें विभिन्न अंश या हिस्से हैं, वह अस्तिकाय है। यहाँ यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि अखण्ड द्रव्यों में अंश या अवयव की कल्पना करना कहाँ तक तर्कसंगत हैं? क्योंकि धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों एक एक हैं, अविभाज्य और अखण्ड हैं। अतः उनके अवयवी होने का तात्पर्य क्या है? कायत्व का अर्थ 'सावयत्व' यदि हम मानते हैं तो एक समस्या यह उपस्थित होती है कि परमाणु तो अविभाज्य, निरंश और निरवयव है तो क्या वह अस्तिकाय नहीं है? परमाणु पुद्गल का ही एक विभाग है और फिर भी उसे अस्तिकाय माना है। इन सभी प्रश्नों पर जैन मनीषियों ने चिन्तन किया है। उन्होंने उन सभी प्रश्नों का समाधान भी किया है। यह सत्य है कि धर्म, अधर्म और आकाश अविभाज्य और अखण्ड द्रव्य हैं पर क्षेत्र की दृष्टि से वे लोकव्यापी हैं। इसलिए क्षेत्र की अपेक्षा से सावयवत्व की अवधारणा या विभाग की कल्पना वैचारिक स्तर पर की गई है। परमाणु स्वयं में निरंश, अविभाज्य और निरवयव है पर परमाणु स्वयं कायरूप नहीं है, पर जब वह परमाणु स्कन्ध का रूप धारण करता है तो वह कायत्व और सावयवत्व को धारण कर लेता है। इसलिए परमाणु में भी कायत्व का सद्भाव माना है।

अस्तिकाय और अनस्तिकाय इस प्रकार के वर्गीकरण का एक आधार बहुप्रदेशत्व भी माना गया है। जो बहुप्रदेश द्रव्य हैं, वे अस्तिकाय हैं और एक प्रदेश द्रव्य अनस्तिकाय हैं। यहाँ भी यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य स्वद्रव्य की अपेक्षा से तो एकप्रदेशी हैं, चूँकि वे अखण्ड हैं। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है—धर्म, अधर्म और आकाश में बहुप्रदेशत्व द्रव्य की अपेक्षा से नहीं है अपितु क्षेत्र की अपेक्षा से है।[६७] क्षेत्र की दृष्टि से भी धर्म और अधर्म को असंख्यप्रदेशी कहा है और आकाश को अनन्तप्रदेशी कहा है। इसलिए उपचार से उनमें कायत्व की अवधारणा की गई है। पुद्गल परमाणु की अपेक्षा से नहीं, किन्तु स्कन्ध की अपेक्षा से बहुप्रदेशी हैं और अस्तिकाय भी बहुप्रदेशत्व की दृष्टि से है। परमाणु स्वयं पुद्गल का एक अंश है। यहाँ पर कायत्व का अर्थ विस्तारयुक्त होना है। विस्तार की प्रस्तुत अवधारणा क्षेत्र की अवधारणा पर अवलम्बित हैं। जो द्रव्य

६७. यावन्मात्रं आकाशं अविभागि पुद्गलावष्टब्धम्।
तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्वाणुस्थानदानार्हम्॥

—द्रव्यसंग्रह संस्कृत छाया २७.

विस्तार रहित है, वे अनस्तिकाय हैं। विस्तार से यहाँ पर यह तात्पर्य है—जो द्रव्य जितने जितने क्षेत्र का अवगाहन करता है, वही उसका विस्तार है।

एक जिज्ञासा यह भी हो सकती है कि कालद्रव्य लोकव्यापी है, फिर उसे अस्तिकाय क्यों नहीं माना गया ?

उत्तर यह है कि कालाणु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित है। किन्तु हरएक कालाणु अपने-आप में स्वतंत्र है। स्निग्धता और रूक्षतागुण के अभाव में उनमें बंध नहीं होता, अतः वे परस्पर निरपेक्ष रहते हैं। बंध न होने से उनके स्कन्ध नहीं बनते। स्कन्ध के अभाव में प्रदेश-प्रचयत्व की कल्पना भी नहीं हो सकती। कालद्रव्य में स्वरूप और उपचार—इन दोनों ही प्रकार से प्रदेशप्रचय की कल्पना नहीं हो सकती।

आकाशद्रव्य सभी द्रव्यों को अवगाहन देता है। यदि आकाशद्रव्य विस्तृत नहीं होगा तो वह अन्य द्रव्यों को स्थान नहीं दे सकेगा। उसके अभाव में अन्य द्रव्य रह नहीं सकेंगे। धर्मद्रव्य गति का माध्यम है। वह उतने ही क्षेत्र में विस्तृत और व्याप्त है, जिसमें गति सम्भव है। यदि गति का माध्यम स्वयं विस्तृत नहीं है तो उसमें गति किस प्रकार सम्भव हो सकती है ? उदाहरण में रूप में—जितने क्षेत्र में जल होगा, उतने ही क्षेत्र में मछली की गति सम्भव है। वैसे ही धर्मद्रव्य का प्रसार जिस क्षेत्र में होगा, उस क्षेत्र में पुद्गल और जीव की गति सम्भव होगी, इसलिए धर्मद्रव्य को लोक तक विस्तृत माना है। यही स्थिति अधर्मद्रव्य की भी है। अधर्म द्रव्य के कारण ही परमाणु स्कन्ध के रूप में बनते हैं। स्कन्ध के रूप में परमाणुओं को संगठित रखने का कार्य अधर्मद्रव्य का है। आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। उन असंख्यात प्रदेशों को शरीर तक सीमित रखने का कार्य अधर्मद्रव्य का है। विश्व की जो व्यवस्था पद्धति है, उसको सुव्यवस्थित रखने में अधर्मद्रव्य का महत्त्वपूर्ण हाथ है, इसलिए अधर्मद्रव्य को भी लोकव्यापी माना है। अधर्मद्रव्य के अभाव में संसार के मूल घटक परमाणु छितर-बितर हो जायेंगे। उनकी किसी भी प्रकार की रचना सम्भव नहीं होगी। जहाँ-जहाँ पर गति का माध्यम है, वहाँ-वहाँ पर स्थिति का माध्यम भी आवश्यक है, जो गति का नियंत्रण करता है। विश्व की गति को और विश्व को संतुलित बनाये रखने के लिए अधर्मद्रव्य को लोकव्यापी माना है। इसलिए उसे अस्तिकाय में स्थान दिया है। पुद्गलद्रव्य में भी विस्तार है। वह परमाणु से स्कन्ध के रूप में परिवर्तित होता है। परमाणु में स्निग्धता और रूक्षता गुण रहे हुए हैं, जिनके कारण वह स्कन्धरचना करने में सक्षम है। इसीलिए उपचार से उसमें कायत्व रहा हुआ है। पुद्गलद्रव्य के कारण ही विश्व में मूर्त्तता है। यदि पुद्गलद्रव्य न हो तो मूर्त्त विश्व की सम्भावना ही नष्ट हो जाये। जीवद्रव्य भी विस्तार युक्त है। शरीर के विस्तार की तरह आत्मा का भी विस्तार होता है। केवलिसमुद्घात के समय आत्मा के असंख्यात प्रदेश सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इसीलिए उसे अस्तिकाय में स्थान दिया है। हम यह पूर्व में बता चुके हैं कि काल के अणु स्निग्धता और रूक्षता-गुण के अभाव में स्कन्ध या संघात रूप नहीं बनते। हम अनादि भूत से लेकर अनन्त भविष्य तक का अनुभव तो करते हैं, किन्तु उनमें कायत्व का आरोपण नहीं किया जा सकता। काल का लक्षण वर्तना केवल वर्तमान में ही है। वर्तमान केवल एक समय का है, जो बहुत ही सूक्ष्म है। इसलिए काल में प्रदेशप्रचय नहीं मान सकते और प्रदेशप्रचय के अभाव में वह अस्तिकाय नहीं है।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि सभी द्रव्यों का विस्तारक्षेत्र समान नहीं है। आकाशद्रव्य लोक और अलोक दोनों में है। धर्म और अधर्म द्रव्य केवल लोक तक सीमित हैं। पुद्गल और जीव का विस्तार-क्षेत्र एक सदृश नहीं है। पुद्गलपिण्ड का जितना आकार होगा, उतना ही उसका विस्तार होगा। जीव भी जितना शरीर विस्तृत होगा, उतना ही वह आकार को ग्रहण करेगा। उदाहरण के रूप में एक चींटी में भी

आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं तो एक हाथी में भी। उससे स्पष्ट है कि सभी अस्तिकायों का विस्तारक्षेत्र समान नहीं है।

भगवतीसूत्र में[६८] प्रदेशदृष्टि से अल्पबहुत्व को लेकर सुन्दर वर्णन है। वहाँ पर यह प्रतिपादित किया गया है कि अन्य द्रव्यों की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य सबसे न्यून हैं। वे असंख्यप्रदेशी हैं और लोकाकाश तक सीमित हैं। धर्म और अधर्मद्रव्य की अपेक्षा जीवद्रव्य के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक हैं, कारण यह है कि धर्म और अधर्म द्रव्य एक एक ही हैं, परन्तु जीवद्रव्य अनन्त हैं और हर एक जीवद्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं। जीवद्रव्य के प्रदेशों की अपेक्षा से पुद्गलद्रव्य के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव के एक एक आत्मप्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मों की वर्गणायें हैं, जो पुद्गल हैं। पुद्गल की अपेक्षा भी काल के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव और पुद्गल की वर्तमान, भूत और भविष्य की अपेक्षा अनन्त पर्यायें हैं। कालद्रव्य की अपेक्षा भी आकाशद्रव्य के प्रदेशों की संख्या सबसे अधिक है। अन्य सभी द्रव्य लोक तक ही सीमित हैं, जबकि आकाशद्रव्य लोक और अलोक दोनों में स्थित है।

एक प्रश्न यह उद्बुद्ध हो सकता है कि लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी है। उस असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु किस प्रकार समा सकते हैं? एक आकाशप्रदेश में एक पुद्गलपरमाणु ही रह सकता है तो असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में असंख्य पुद्गलपरमाणु ही रह सकते हैं।

उत्तर में निवेदन है कि एक आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु रहें, उसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है। क्योंकि परमाणु और परमाणुस्कन्ध में विशिष्ट अवगाहन शक्ति रही हुई है। यहाँ पर अवगाहन शक्ति का अर्थ है—दूसरों को अपने में समाहित करने की क्षमता। जैसे—आकाश द्रव्य अपने अवगाहन गुण के कारण अन्य द्रव्यों को स्थान देता है, वैसे ही परमाणु और स्कन्ध भी अपनी अवगाहनशक्ति के कारण अन्य परमाणुओं और स्कन्धों को अपने में स्थान देते हैं। उदाहरण के रूप में—एक आवास में विद्युत का एक बल्ब अपना आलोक प्रसारित कर रहा है, उस आवास में अन्य हजार बल्ब लगा दिये जायें तो उनका भी प्रकाश उस आवास में समाहित हो जायेगा। इसी प्रकार शब्दध्वनि को भी ले सकते हैं। जैन दृष्टि से एक आकाशप्रदेश में अनन्तानन्त ध्वनियाँ रही हुई हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रकाश और ध्वनि पौद्गलिक होने पर भी मूर्त्त हैं। जब मूर्त्त में भी एक ही आकाशप्रदेश में अनन्त परमाणु के स्कन्ध रह सकते हैं तो अमूर्त्त के लिए तो प्रश्न ही नहीं। चाहे पुद्गलपिण्ड कितना भी घनीभूत क्यों न हो, उसमें दूसरे अन्य अनन्त परमाणु और पुद्गलपिण्डों को अपने में अवगाहन देने की शक्ति रही हुई है। बहुत कुछ यह सम्भव है कि परमाणु के उत्कृष्ट आकार की दृष्टि से यह बताया गया हो कि एक आकाशप्रदेश एक परमाणु के आकार का है। गति की दृष्टि से जघन्य गति एक परमाणु के काल की है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो एक परमाणु जितने काल में एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में पहुँचता है, वह एक समय है, जो काल का सबसे छोटा विभाग है। उत्कृष्ट गति की दृष्टि से एक परमाणु एक समय में चौदह राजू लोक की यात्रा कर लेता है।

आधुनिक युग में विज्ञान ने अत्यधिक प्रगति की है। उसकी अपूर्व प्रगति विज्ञों को चमत्कृत कर रही है। विज्ञान ने भी दिक् (स्पेस्), काल (Time) और पुद्गल (Matter) इन तीन तत्त्वों को विश्व का मूल आधार माना है। इन तीन तत्त्वों के विना विश्व की संरचना सम्भव नहीं। आइन्सटीन ने सापेक्षवाद के द्वारा

---

६८. भगवतीसूत्र—१३।५८.

यहं सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दिक् और काल ये गतिसापेक्ष हैं। गतिसहायक द्रव्य, जिसे धर्मद्रव्य कहा गया है, विज्ञान ने उसे 'ईथर' कहा है। आधुनिक अनुसंधान के पश्चात् ईथर का स्वरूप भी बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका है। अब ईथर भौतिक नहीं, अभौतिक तत्त्व बन गया है, जो धर्म द्रव्य की अवधारणा के अत्यधिक सन्निकट है। पुद्गल तो विश्व का मूल आधार है ही, भले ही वैज्ञानिक उसे स्वतंत्र द्रव्य न मानते हों किन्तु वैज्ञानिक धीरे धीरे नित्य नूतन अन्वेषणा कर रहे हैं। सम्भव है, निकट भविष्य में पुद्गल और जीव का स्वतंत्र अस्तित्व मान्य करें।

सिद्ध : एक चिन्तन

प्रज्ञापना के प्रथम पद में अजीवप्रज्ञापना के पश्चात् जीवप्रज्ञापना के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। जीव के संसारी और सिद्ध ये दो मुख्य भेद किये हैं। जो जीते हैं, प्राणों को धारण करते हैं वे जीव हैं। प्राण के द्रव्यप्राण और भावप्राण ये दो प्रकार हैं। पांच इन्द्रियाँ, तीन मनोबल, वचनबल और कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य, ये दस द्रव्यप्राण हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ये चार भावप्राण हैं। संसारी जीव द्रव्य और भाव प्राण दोनों से युक्त होता है और सिद्ध जीव केवल भावप्राणों से युक्त होते हैं[६९]।

नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में परिभ्रमण करने वाले संसारसमापन्न हैं। वे संसारवर्ती जीव हैं। जो संसारपरिभ्रमण से रहित हैं, वे असंसारसमापन्न-सिद्ध जीव हैं। वे जन्म-मरण रूप समस्त दुःखों से मुक्त होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं। सिद्धों के पन्द्रह भेद यहाँ पर प्रतिपादित किये गये हैं। ये पन्द्रह भेद समय, लिंग, वेश और परिस्थिति आदि की दृष्टि से किये गये हैं।

तीर्थ की संस्थापना के पश्चात् जो जीव सिद्ध होते हैं, वे "तीर्थसिद्ध" हैं। तीर्थ की संस्थापना के पूर्व या तीर्थ का विच्छेद होने के पश्चात् जो जीव सिद्ध होते हैं, वे 'अतीर्थसिद्ध' हैं। जैसे भगवान् ऋषभदेव के तीर्थ की स्थापना के पूर्व ही माता मरुदेवी सिद्ध हुईं। मरुदेवी माता का सिद्धि गमन तीर्थ की स्थापना के पूर्व हुआ था। दो तीर्थंकरों के अन्ततराल काल में यदि शासन का विच्छेद हो जाय और ऐसे समय में कोई जीव जातिस्मरण आदि विशिष्ट ज्ञान से सिद्ध होते हैं तो वे 'तीर्थव्यवच्छेद' सिद्ध कहलाते हैं। ये दोनों प्रकार के सिद्ध अतीर्थसिद्ध की परिगणना में आते हैं। जो तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं, वे 'तीर्थंकरसिद्ध' कहलाते हैं। सामान्य केवली 'अतीर्थंकरसिद्ध' कहलाते हैं। संसार की निस्सारता को समझ कर विना उपदेश के जो स्वयं ही संबुद्ध होकर सिद्ध होते हैं वे 'स्वयंबुद्धसिद्ध' हैं। नन्दीचूर्णि में "तीर्थंकर" और "तीर्थंकरभिन्न" ये दो प्रकार के स्वयंबुद्ध बताये हैं। यहाँ पर स्वयंबुद्ध से तीर्थंकर भिन्न स्वयंबुद्ध ग्रहण किये गए हैं।[७०]

जो वृषभ, वृक्ष, बादल प्रभृति किसी भी बाह्य निमित्तकारण से प्रबुद्ध होकर सिद्ध होते हैं वे "प्रत्येकबुद्धसिद्ध" हैं। प्रत्येकबुद्ध समूहबद्ध गच्छ में नहीं रहते। वे नियमतः एकाकी ही विचरण करते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध दोनों को परोपदेश की आवश्यकता नहीं होती, तथापि दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि स्वयंबुद्ध में जातिस्मरण आदि ज्ञान होता है जबकि प्रत्येकबुद्ध केवल बाह्य निमित्त से प्रबुद्ध होता है। जो बोध प्राप्त आचार्य के द्वारा बोधित होकर सिद्ध होते हैं, वे 'बुद्धबोधितसिद्ध' हैं। स्त्रीलिंग में सिद्ध होने वाली भव्यात्माएँ 'स्त्रीलिंगसिद्ध' कहलाती हैं।

---

६९. प्रज्ञापनासूत्र, मलयगिरि वृत्ति

७०. ते दुविहा सयंबुद्धा—तित्थयरा तित्थयरवइरित्ता य, इह वइरित्तेहिं अहिगारो। —नन्दी अध्ययनचूर्णि

श्वेताम्बर साहित्य में स्त्री का निर्वाण माना है, जबकि दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थों में स्त्री के निर्वाण का निषेध किया है। दिगम्बरपरम्परा मान्य षट्खण्डागम में मनुष्य-स्त्रियों के गुणस्थान के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि "मनुष्यस्त्रियाँ समयग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्त होती हैं[७१]। इसमें 'संजत' शब्द को सम्पादकों ने टिप्पण में दिया है, जिसका सारांश यह है कि मनुष्य स्त्री को 'संयत' गुणस्थान हो सकता है और संयत गुणस्थान होने पर स्त्री मोक्ष में जा सकती है। प्रस्तुत प्रश्न को लेकर दिगम्बर समाज में प्रवल विरोध का वातावरण समुत्पन्न हुआ, तव ग्रन्थ के सम्पादक डॉ० हीरालालजी जैन आदि ने पुनः उसका स्पष्टीकरण पट्खण्डागम के तृतीय भाग की प्रस्तावना में किया, किन्तु जव विज्ञों ने मूडविद्री [कर्नाटक] में पट्खण्डागम की मूल प्रति देखी तो उसमें भी 'संजद' शब्द मिला है।

वट्टकेरस्वामिविचित मूलाचार में आर्यिकाओं के आचार का विश्लेषण करते हुए कहा है -जो साधु अथवा आर्यिका इस प्रकार आचरण करते हैं, वे जगत में पूजा, यश व सुख को पाकर मोक्ष को पाते है[७२]। इसमें भी आर्यिकाओं के मोक्ष में जाने का उल्लेख है, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि वे उसी भव में मोक्ष प्राप्त करती हैं अथवा तत्पश्चात् के भव में। वाद के दिगम्बर आचार्यो ने अपने ग्रन्थों में और प्राचीन ग्रन्थों की टीकाओं में स्पष्ट रूप से स्त्रीनिर्वाण का निषेध किया है।

जो पुरुष शरीर से सिद्ध होते हैं, वे 'पुरुषलिंग सिद्ध' हैं। नपुंसक शरीर से सिद्ध होते हैं, वे 'नपुंसकलिंग सिद्ध' हैं। जो तीर्थंकर प्रतिपादित श्रमण पर्याय में सिद्ध होते है, वे 'स्वलिंगसिद्ध' हैं। परिव्राजक आदि के वेप से सिद्ध होने वाले 'अन्यलिंगसिद्ध' हैं। जो गृहस्थ के वेप में सिद्ध होते हैं, वे 'गृहिलिंगसिद्ध' हैं। एक समय में अकेले ही सिद्ध होने वाले 'एकसिद्ध' हैं। एक ही समय में एक से अधिक सिद्ध होने वाले 'अनेकसिद्ध' हैं। सिद्ध के इन पन्द्रह भेदों के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी सिद्धों के भेद प्रस्तुत किए हैं।

सिद्धों के जो पन्द्रह प्रकार प्रतिपादित किये हैं, वे सभी तीर्थसिद्ध और अतीर्थसिद्ध इन दो प्रकारों में समाविष्ट हो जाते हैं। विस्तार से निरूपण करने का मूल आशय सिद्ध वनने के पूर्व उस जीव की क्या स्थिति थी, यह बतलाना है। प्रज्ञापना के टीकाकार ने भी इसे स्वीकार किया है।

जिस प्रकार जैन आगम साहित्य में सिद्धों के प्रकार बताये हैं, वैसे ही बौद्ध आगम में स्थविरवाद की दृष्टि से वोधि के तीन प्रकार वताये हैं—सावकवोधि [श्रावकवोधि], पच्चेकवोधि [प्रत्येकवोधि], सम्मासंवोधि [सम्यक् संवोधि]। श्रावकबोधि उपासक को अन्य के उपदेश से जो वोधि प्राप्त होती है उसे श्रावकवोधि कहा है। श्रावकसम्वुद्ध भी अन्य को उपदेश देने का अधिकारी है।[७४]

जैन दृष्टि से प्रत्येकवोधि को अन्य के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही पच्चेकवोधि को भी दूसरे के उपदेश की जरूरत नहीं होती। उसका जीवन दूसरों के लिए आदर्श होता है।

---

७१. सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि संजादासंजद (अत्र संजद इति पाठशेषः प्रतिभाति)—ट्ठाणे णियमा पज्जतियओ।

—पट्खण्डागम भाग १ सूत्र ९३ पृ. ३३२, प्रका० सेठ लक्ष्मीचन्द शितावराय जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती (बरार) सन् १९३९

७२. ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लद्धूण सिज्झति —मूलाचार ४/१९६ पृ. १६८

७४. विनयपिटक; महावग्ग १।२१

सम्मासंबोधि स्वयं के प्रबल प्रयास से बोधि प्राप्त करता है और अन्य व्यक्तियों को भी वह बोधि प्रदान कर सकता है। उसकी तुलना तीर्थंकर से की जा सकती है।[७५]

आर्य और अनार्य : एक विश्लेषण

सिद्धों के भेद-प्रभेदों की चर्चा करने के पश्चात् संसारी जीवों के विविध भेद बतलाये हैं। इन भेद-प्रभेदों का मूल आधार इन्द्रियाँ हैं। जीवों की सूक्ष्मता, पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक दृष्टि से भी जीवों के भेद-प्रभेद प्रतिपादित हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक जितने भी जीव हैं, वे सम्मूर्च्छिम हैं। तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय और मनुष्य ये गर्भज और सम्मूर्च्छिम दोनों प्रकार के होते हैं। नारक और देव का जन्म उपपात है। सम्मूर्च्छिम और नरक के जीव एकान्त रूप से नपुंसक होते हैं। देवों में स्त्री और पुरुष दोनों होते हैं, नपुंसक नहीं होते। गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च में तीनों लिंग होते हैं। इस तरह लिंगभेद की दृष्टि से जीवों के भेद किए गए हैं। नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति, ये भेद गति की दृष्टि से पंचेन्द्रिय के किये गये हैं।

जीव के असंसारसमापन्न और संसारसमापन्न ये दो विभाग किए गए हैं। असंसारसमापन्न जीव सिद्ध हैं। उनके विविध भेद बताने के पश्चात् संसारी जीवों के इन्द्रियों की दृष्टि से पांच भेद किए गए हैं, फिर एकेन्द्रिय में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय आदि के विविध भेद-प्रभेदों की प्रज्ञापना की गई है। एकेन्द्रिय के पश्चात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय का वर्णन है। पंचेन्द्रिय में भी नारक एवं तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों का वर्णन करने के पश्चात् मनुष्य का वर्णन किया है। मनुष्य के संमूर्च्छिम और गर्भज, ये दो भेद किए हैं। सम्मूर्च्छिम मनुष्य औपचारिक मनुष्य हैं; वे गर्भज मनुष्य के मल, मूत्र, कफ आदि अशुचि में ही उत्पन्न होते हैं, इसीलिए उन्हें मनुष्य कहा गया है। गर्भज मनुष्य के कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज, ये तीन प्रकार हैं।

पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच महाविदेह—ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं। यहाँ के मानव कर्म करके अपना जीवनयापन करते हैं, एतदर्थ इन भूमियों में उत्पन्न मानव कर्मभूमिज कहलाते हैं। कर्मभूमिज मनुष्य के भी आर्य और म्लेच्छ ये दो प्रकार हैं। आर्य मनुष्य के भी ऋद्धिप्राप्त व अनृद्धिप्राप्त ये दो प्रकार हैं। प्रज्ञापना में ऋद्धि-प्राप्त आर्य के अरिहन्त, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, चारण और विद्याधर यह छः प्रकार बताये हैं।[७६]

तत्त्वार्थवार्तिक में ऋद्धिप्राप्त आर्य के बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और क्षेत्र, ये आठ प्रकार बतलाये हैं।[७७]

प्रज्ञापना में अनृद्धिप्राप्त आर्य के क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य, भाषार्य, ज्ञानार्य, दर्शनार्य और चारित्रार्य, ये नौ प्रकार बतलाये हैं।[७८]

---

७५. (क) उपासकजनालंकार की प्रस्तावना, पृष्ठ १६
(ख) उपासकजनालंकार लोकोत्तरसम्पत्ति निद्देस, पृष्ठ ३४०
(ग) पण्णवणासुत्तं द्वितीय भाग, प्रस्तावना पृष्ठ ३६ —पुण्यविजयजी

७६. प्रज्ञापना १ सूत्र १००

७७. तत्त्वार्थवार्तिक ३।३६, पृष्ठ २०१

७८. प्रज्ञापना १।१०१

तत्त्वार्थवार्तिक में अनृद्धिप्राप्त आर्यों के क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य; ये पांच प्रकार प्ररूपित किए हैं।[७९]

तत्त्वार्थभाष्य में अनृद्धिप्राप्त आर्यों के क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, शिल्पार्य, कर्मार्य एवं भाषार्य, ये छः प्रकार उल्लिखित है।[८०]

प्रज्ञापना की दृष्टि से साढ़े पच्चीस देशों में रहने वाले मनुष्य क्षेत्रार्य हैं। इन देशों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, उत्पन्न हुए, इसलिए इन्हें आर्य जनपद कहा है।[८१] प्रवचनसारोद्धार में भी आर्य की यही परिभाषा दी गई है।[८२] जिनदासगणी महत्तर ने लिखा है कि जिन प्रदेशों में यौगलिक रहते थे, जहाँ पर हाकार आदि नीतियों का प्रवर्त्तन हुआ था; वे प्रदेश आर्य हैं और शेष अनार्य।[८३] इस दृष्टि से आर्य जनपदों की सीमा बढ़ जाती है। तत्त्वार्थभाष्य में लिखा है कि चक्रवर्ती की विजयों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य भी आर्य होते हैं।[८४] तत्त्वार्थवार्तिक में काशी, कौशल प्रभृति जनपदों में उत्पन्न मनुष्यों को क्षेत्रार्य कहा है।[८५] इसका अर्थ यह है कि बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान और पंजाब तथा पश्चिमी पंजाब एवं सिन्ध, ये कोई पूर्ण तथा कोई अपूर्ण प्रान्त आर्यक्षेत्र में थे और शेष प्रान्त उस सीमा में नहीं थे। दक्षिणापथ आर्यक्षेत्र की सीमा में नहीं था। उत्तर भारत में आर्यों का वर्चस्व था, संभवतः इसी दृष्टि से सीमानिर्धारण किया गया हो। प्रज्ञापना में साढ़े पच्चीस देशों की जो सूची दी गई है उस में अवन्ती का उल्लेख नहीं है जबकि अवन्ती श्रमण भगवान् महावीर के समय एक प्रसिद्ध राज्य था। वहाँ का चन्द्रप्रद्योत राजा था। भगवान् महावीर सिन्धु-सौवीर जब पधारे थे तो अवन्ती से ही पधारे थे। सिन्धुसौवीर से अवन्ती अस्सी योजन दूर था।[८६] दक्षिण में जैनधर्म का प्रचार था फिर भी उन क्षेत्रों को आर्यक्षेत्रों की परिगणना में नहीं लिया गया है। यह विज्ञों के लिए चिन्तनीय प्रश्न है। यह भी बहुत कुछ संभव है, जिन देशों को आर्य नहीं माना गया है संभव है वहाँ पर आर्यपूर्व जातियों का वर्चस्व रहा होगा।

प्रज्ञापना में जाति-आर्य मनुष्यों के अम्बष्ठ, कलिन्द, विदेह, हरित, वेदक और चुंचुण ये छः प्रकार बताये गये हैं।

कुलार्य मानव के भी उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञात और कौरव यह छः प्रकार बतलाये गये हैं।

तत्त्वार्थवार्तिक में जाति-आर्य और कुल-आर्य इन दोनों को भिन्न नहीं माना है। इक्ष्वाकु, ज्ञात और भोज प्रभृति कुलों में समुत्पन्न मानव जात्यार्य होते हैं।[८७] तत्त्वार्थभाष्य में इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ, ज्ञात, कुरु,

७९. तत्त्वार्थवार्तिक ३।३६, पृष्ठ २००

८०. तत्त्वार्थभाष्य ३।१५

८१. इत्थुप्पत्ति जिणाणं, चक्कीणं राम कण्हाणं। —प्रज्ञापना १।११७

८२. यत्र तीर्थंकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्यं, शेषमनार्यम्। —प्रवचनसारोद्धार, पृष्ठ ४४६

८३. जेसु केसुवि पएसेसु मिहुणगादि पइट्ठिएसु हक्काराइया नीई परूढा ते आरिया, सेसा अणारिया।

—आवश्यकचूर्णि

८४. भरतेषु अर्धषड्विंशतिजनपदेषु जाताः शेषेषु च चक्रवर्तिविजयेषु। —तत्त्वार्थभाष्य ३।१५

८५. क्षेत्रार्याः काशिकोशलादिषु जाताः। —तत्त्वार्थवार्तिक ३।३६, पृष्ठ २००

८६. गच्छाचार, पृष्ठ १२२

८७. इक्ष्वाकुज्ञातभोजादिषु कुलेषु जाता जात्यार्याः। —तत्त्वार्थवार्तिक ३।३६ पृष्ठ २००

बुम्बु, नाल, उग्र, भोग, राजन्य आदि को जात्यार्य और कुलकर, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव तथा तीसरे, पांचवें और सातवें कुलकर से लेकर शेष कुलकरों से उत्पन्न विशुद्ध वंश वाले कुल-आर्य हैं।[88]

प्रज्ञापना में दूष्यक—वस्त्र के व्यापारी, सूत के व्यापारी, कपास या रुई के व्यापारी, नाई, कुम्हार आदि आर्यकर्म करने वाले मानवों को कर्मार्य माना है। शिल्पार्य मानव के तुण्णाग (रफू करने वाले), तन्तुवाय (जुलाहे), पुस्तकार, लेप्यकार, चित्रकार आदि अनेक प्रकार हैं। तत्त्वार्थवार्तिक में कर्मार्य और शिल्पार्य को एक ही माना है। उन्होंने कर्मार्य के सावद्य कर्मार्य, अल्प सावद्य कर्मार्य, असावद्य कर्मार्य यह तीन भेद किए हैं। असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वणिक्कर्म करने वाले सावद्य कर्मार्य हैं। श्रावकश्राविकाएँ अल्प सावद्य कर्मार्य हैं; संयमी श्रमण असावद्य कर्मार्य हैं।[89] तत्त्वार्थभाष्य में यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, कृषि, लिपि, वाणिज्य और योनि संपोषण से आजीविका करने वाले बुनकर, कुम्हार, नाई, दर्जी और अन्य अनेक प्रकार के कारीगरों को शिल्पार्य माना है।[90]

अर्द्धमागधी भाषा बोलने वाले तथा ब्राह्मी लिपि में लिखने वाले को प्रज्ञापना में भाषार्य कहा है। तत्त्वार्थवार्तिक में भाषार्य का वर्णन नहीं आया है। तत्त्वार्थभाष्य में सभ्य मानवों की भाषा के नियत वर्णों, लोकरूढ, स्पष्ट शब्दों तथा पांच प्रकार के आर्यों के संव्यवहार का सम्यक् प्रकार से उच्चारण करने वाले को भाषार्य माना है।[91] भगवान् महावीर स्वयं अर्धमागधी भाषा बोलते थे।[92] अर्धमागधी को देववाणी माना है।[93]

सम्यक् ज्ञानी को ज्ञानार्य, सम्यक् दृष्टि को दर्शनार्य और सम्यक् चारित्री को चारित्रार्य माना गया है। ज्ञानार्य, दर्शनार्य, चारित्रार्य इन तीनों का सम्बन्ध धार्मिक जगत् से है। जिन मानवों को यह रत्नत्रय प्राप्त है, फिर वे भले ही किसी भी जाति के या कुल के क्यों न हों, आर्य हैं। रत्नत्रय के अभाव में वे अनार्य हैं। आर्यों का जो विभाग किया गया है वह भौगोलिक दृष्टि से, आजीविका की दृष्टि से, जाति और भाषा की दृष्टि से किया गया है। साढ़े पच्चीस देशों को जो आर्य माना गया है, हमारी दृष्टि से उसका कारण यही हो सकता है कि वहां पर जैनधर्म और जैन संस्कृति का अत्यधिक प्रचार रहा है; इसी दृष्टि से उन्हें आर्य जनपद कहा गया हो। वैदिक परम्परा के विज्ञों ने अंग-बंग आदि जनपदों के विषय में लिखा है—

> "अंग-बंग-कलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
> तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हति॥"

अर्थात्—अंग (मुगेर-भागलपुर), वंग (बंगाल), कलिंग (उडीसा), सौराष्ट्र (काठियावाड़) और मगध (पटना गया आदि) में तीर्थयात्रा के सिवाय जाने से फिर से उपनयनादि संस्कार करके शुद्ध होना पड़ता है।

---

८८. जात्यार्याः इक्ष्वाकवो विदेहा हर्यम्बष्ठा ज्ञाताः कुरवो बुम्बुनाला उग्रभोगा राजन्या इत्येवमादयः। कुलार्याः—कुलकराश्चक्रवर्तिनो वलदेवा वासुदेवाः। ये चान्ये आतृतीयादापंचमादासप्तमाद् वा कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयप्रकृतयः। —तत्त्वार्थभाष्य ३।१५

८९. तत्त्वार्थवार्तिक ३।३६, पृष्ठ २०१

९०. तत्त्वार्थभाष्य, ३।१५

९१. वही, ३।१५

९२. अद्धमागहाए भासाए भासइ अरिहा धम्मं। —औपपातिक सूत्र ५६

९३. देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति। —भगवती ५।४।१९१

कितने ही चिन्तकों का यह भी मानना है कि प्रज्ञापना और जीवाजीवाभिगम में क्षेत्र आदि की दृष्टि से जो आर्य और अनार्य का भेद प्रतिपादित है वह विभाजन आर्य और अनार्य जातियों के घुल-मिल जाने के पश्चात् का है। इसमें वर्ण और शरीरसंस्थान के आधार पर यह विभाग नहीं हुआ है।[९४] सूत्रकृतांग में वर्ण और शरीर के संस्थान की दृष्टि से विभाग किया है। वहाँ पर कहा गया है—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, इन चारों दिशाओं में मनुष्य होते हैं। उनमें कितने ही आर्य होते हैं, तो कितने ही अनार्य होते हैं। कितने ही उच्च गोत्र वाले होते हैं तो कितने ही नीच गोत्र वाले; कितने ही लम्बे होते हैं तो कितने ही नाटे होते हैं; कितने ही श्रेष्ठ वर्ण वाले होते हैं तो कितने ही अपकृष्ट वर्ण वाले अर्थात् काले होते हैं कितने ही सुरूप होते हैं, कितने ही कुरूप होते हैं।[९५] ऋग्वेद में भी आर्य और आर्येतर ये दो विभाग मिलते हैं। अनार्य जातियों में भी अनेक संपन्न जातियां थीं; उनकी अपनी भाषा थी, अपनी सभ्यता थी, अपनी संस्कृति थी, अपनी संपदा और अपनी धार्मिक मान्यताएँ थीं।[९६]

प्रज्ञापना में कर्मभूमिज मनुष्यों के ही आर्य और म्लेच्छ ये दो भेद किए हैं।[९७] तत्त्वार्थभाष्य[९८] और तत्वार्थवार्तिक[९९] में अन्तर्द्वीपज मनुष्यों के भी दो भेद किए हैं। म्लेच्छों की भी अनेक परिभाषाएँ बतायी गई हैं। प्रवचनसारोद्धार की दृष्टि से जो हेयधर्मो से दूर हैं और उपादेय धर्मो के निकट हैं वे आर्य हैं।[१००] जो हेयधर्म को ग्रहण किए हुए हैं वे अनार्य हैं। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापनावृत्ति में लिखा है कि जिनका व्यवहार शिष्टसम्मत नहीं है वे म्लेच्छ हैं।[१०१] प्रवचनसारोद्धार में लिखा है—जो पापी हैं, प्रचंड कर्म करने वाले हैं, पाप के प्रति जिनके अन्तर्मानस में घृणा नहीं है, अकृत्य कार्यो के प्रति जिनके मन में पश्चात्ताप नहीं हैं, 'धर्म' यह शब्द जिनको स्वप्न में भी स्मरण नहीं आता वे अनार्य हैं।[१०२] प्रश्नव्याकरण में कहा गया है—विविध प्रकार के हिंसाकर्म म्लेच्छ मानव करते हैं।[१०३] आर्य और म्लेच्छों की जो ये परिभाषाएँ हैं ये जातिपरक और क्षेत्रपरक न होकर गुण की दृष्टि से हैं। कौटिल्यअर्थशास्त्र में आर्य शब्द स्वतन्त्र नागरिक और दास परतंत्र नागरिक के अर्थ में व्यवहृत हुआ।[१०४]

प्रज्ञापना में कर्मभूमिज मनुष्य का एक विभाग अनार्य यानी म्लेच्छ कहा गया है। अनार्य देशों में समुत्पन्न लोग अनार्य कहलाते हैं। प्रज्ञापना में अनार्य देशों के नाम इस प्रकार हैं—

---

९४. अतीत का अनावरण, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ १५५
९५. सूत्रकृतांग २।१
९६. ऋग्वेद ७।६।३; १।१७६।३-४; ८।७०।११
९७. प्रज्ञापना १, सूत्र ९८
९८. तत्त्वार्थभाष्य, ३।१५
९९. तत्वार्थवार्तिक, ३।३६
१००. प्रवचनसारोद्धार, पृष्ठ ४१५
१०१. प्रज्ञापना १, वृत्ति
१०२. पावा य चंडकम्मा, अणारिया निग्घिणा निरणुतावी।
धम्मोत्ति अक्खराइं, सुमिणे वि न नज्जए जाणं ।। —प्रवचनसारोद्धार, गाथा १५९६
१०३. प्रश्नव्याकरण, आश्रव द्वार १
१०४. मूल्येन चार्यत्वं गच्छेत्। —कौटिल्य अर्थशास्त्र ३।१३।२२

१. शक (पश्चिम भारत का देश)
२. यवन-यूनान
३. चिलात (किरात)
४. शवर
५. बर्बर
६. काय
७. मुरुण्ड
८. ओड
९. भटक (भद्रक) (दिल्ली और मथुरा के बीच यमुना के पश्चिम में स्थित प्रदेश)
१०. णिण्णग (निम्नग)
११. पक्कणिय (मध्य एशिया का एक प्रदेश प्रकण्व या फरगना)
१२. कुलक्ष
१३. गोंड
१४. सिंहल (लंका)
१५. पारस (ईरान)
१६. गोध
१७. क्रौंच
१८. अम्बष्ठ (चिनाव नदी के निचले भाग में स्थित एक गणराज्य)
१९. दमिल (द्रविड़)
२०. चिल्लल
२१. पुलिन्द
२२. हारोस
२३. दोव
२४. वोक्कण (अफगानिस्तान का उत्तरी-पूर्वी छोटा प्रदेश-वखान)
२५. गन्धहारग (कन्धार)
२६. पहलिय
२७. अज्झल
२८. रोम
२९. पास
३०. पउस
३१. मलय
३२. वन्धुय (वन्धुक)
३३. सूयलि
३४. कोंकणग
३५. मेय
३६. पल्हव
३७. मालव
३८. मग्गर
३९. आभापिक
४०. अणक्क (अनक्र)
४१. चीण (चीन)
४२. ल्हसिय (ल्हासा)
४३. खस
४४. खासिय
४५. णद्दर (नेहर)
४६. मोंढ़
४७. डोंबिलग
४८. लओस
४९. कक्केय
५०. पओस
५१. अक्खाग
५२. हूण
५३ रोभक
५४. मरु
५५. मरुक

प्रश्नव्याकरण[१०५] अधर्मद्वार में भी कुछ परिवर्तन के साथ अनार्यों के नाम प्राप्त होते हैं। वहाँ यवन के बाद चिलाय नहीं है, भटक के पश्चात् णिण्णग नहीं है पर तित्तीय है। तुलनात्मक दृष्टि से संक्षेप में अन्तर इस प्रकार है—

१०५. प्रश्नव्याकरण, अधर्मद्वार, सूत्र ४

प्रज्ञापना	प्रश्नव्याकरण	प्रज्ञापना	प्रश्नव्याकरण
३ चिलाय	०	२३ दोव	२१ डोंव
८ ओड	७ उद	२४ वोक्कण	२२ पोक्कण
०	९ तित्तिय	२५ पहलिय	२४ वहलीय
१० निण्णग	०	२७ अज्झल	२५ जल्ल
१३ गोंड	१२ गौड	२९ पास	२७ मास
१६ गोध्र	१६ अन्ध्र आन्ध्र	३० पउस	२८ बउस
१८ अम्वड	०	३२ वन्धुय	३० चंचुय
२० चिल्लल	१८ विल्लल	३३ सूयलि	३१ चुलिया
२२ हारोस	२० अरोस	३६ पल्हव	३४ पण्हव

वहुत से नामों में भिन्नता है, ये भिन्न शव्द निम्न हैं—

प्रज्ञापना	प्रश्नव्याकरण
३८ मग्गर	३६ महुर
४५ णट्टर	४३ णेहुर
४६ मोंढ़	४४ मरहठ
४८ लओस	४५ मुठिय
४९ पओस	४६ आरभ
५१ कक्केय	४९ केकभ
५२ अक्खाग	४८ कुट्टण
५४ भरु	५२ रुस

प्रवचनसारोद्धार[१०६] में अनार्यो के देशों के नाम इस प्रकार हैं—

१. शक	११. हूण	२१. पुलिन्द	३१. किरात
२. यवन	१२. रोमक	२२. क्रौंच	३२. हयमुख
३. शवर	१३. पारस	२३. भ्रमररुच	३३. खरमुख
४. वर्वर	१४. खस	२४. कोर्पक	३४. गजमुख
५. काय	१५. खासिक	२५. चीन	३५. तुरंगमुख
६. मुरुण्ड	१६. दुम्विलक	२६. चंचुक	३६. मिण्ढकमुख
७. अड्डु	१७. लकुश	२७. मालव	३७. हयकर्ण
८. गोपा (गौड्ड)	१८. वोक्कस	२८. द्रविड	३८. गजकर्ण
९. पक्कणग	१९. भिल्ल	२९. कुलार्घ	
१०. अरवाग	२०. आन्ध्र (अन्ध्र)	३०. केकय	

महाभारत के उपायन-पर्व में भी कुछ नाम इसी तरह से प्राप्त होते हैं, जो निम्नानुसार हैं—

---

१०६. प्रवचनसारोद्धार, गाथा १५८३-१५८५

१. म्लेच्छं २. यवन ३. वर्बर ४. आन्ध्रं ५. शक ६. पुलिन्द ७. औरुणिकं ८. कम्बोजं ९. आभीरं १०. पल्हव ११. दरद १२. कंक १३. खस १४, कैकय १५. त्रिगर्त १६. शिबि १७. भद्र १८. हंस कायन १९. अम्बष्ठ २०. तार्क्ष्य २१. प्रहव २२. वसाति २३. मौलिय २४. क्षुद्रमालवक २५. शौण्डिक २६. पुण्ड्र २७. शाणवत्य २८. कायव्य २९. दार्व ३०. शूर ३१. वैयमक ३२. उदुम्बर ३३. वाल्हीक ३४. कुदमान ३५. पौरक आदि ।

इस प्रकार मानव जाति एक होकर भी उसके विभिन्न भेद हो गए हैं । मानव और पशु में जिस प्रकार जातिगत भेद है, वैसे ही मनुष्यजाति में जातिगत भेद नहीं है । मानव सर्वाधिक शक्तिसंपन्न और बौद्धिक प्राणी है । वह संख्या की दृष्टि से अनेक है पर जाति की दृष्टि से एक है । उपर्युक्त चर्चा में जो भेद प्रतिपादित किये गये हैं, वे भौगोलिक और गुणों की दृष्टि से हैं ।

जीवों का निवासस्थान

संसारी और सिद्ध के भेद और प्रभेद की चर्चा करने के पश्चात् उन जीवों के निवासस्थान के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है । इस चिन्तन का मूल कारण यह है कि आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध में उपनिषदों में अनेक कल्पनाएँ हैं । इन सभी कल्पनाओं के अन्त में ऋषियों की विचारधारा आत्मा को व्यापक मानने की ओर विशेष रही है ।[१०७] प्रायः सभी वैदिक दर्शनों ने आत्मा को व्यापक माना है । हाँ, आचार्य शंकर और आचार्य रामानुज आदि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार इसमें अपवाद हैं । उन्होंने ब्रह्मात्मा को व्यापक और जीवात्मा को अणु-परिमाण माना है । बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को चावल या जौ के दाने के परिमाण माना है ।[१०८] कठोपनिषद् में आत्मा को 'अंगुष्ठपरिमाण' का लिखा है[१०९] तो छान्दोग्योपनिषद् में आत्मा को 'बालिश्त' परिमाण का कहा है ।[११०] मैत्रीउपनिषद् में आत्मा को अणु की तरह सूक्ष्म माना है ।[१११] कठोपनिषद्[११२], छान्दोग्योपनिषद्[११३] और श्वेताश्वेतर-उपनिषद्[११४] में आत्मा को अणु से अणु और महान् से महान् भी कहा है ।

सांख्यदर्शन में आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है अर्थात् आत्मा में किसी भी प्रकार का परिणाम या विकार नहीं होता है । संसार और मोक्ष आत्मा का नहीं प्रकृति का है ।[११५] सुख-दुःख-ज्ञान, ये आत्मा के नहीं

---

१०७. (क) मुण्डक-उपनिषद् १।१।६
(ख) वैशेषिकसूत्र ७।१।२२
(ग) न्यायमंजरी, पृष्ठ ४६८ (विजय)
(घ) प्रकरणपंजिका, पृष्ठ १५८

१०८. बृहदारण्यक-उपनिषद्, ५।६।१

१०९. कठोपनिषद् २।२।१२

११०. छान्दोग्योपनिषद् ५।१८।१

१११. मैत्री-उपनिषद् ६।३८

११२. कठोपनिषद् १।२।२०

११३. छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।३

११४. श्वेताश्वेतर-उपनिषद् ३।२०

११५. सांख्यकारिका ६२

किन्तु प्रकृति के धर्म हैं।[११६] इस तरह वह आत्मा को सर्वथा अपरिणामी मानता है। कर्तृत्व न होने पर भी भोग आत्मा में ही माना है।[११७] इस भोग के आधार पर आत्मा में परिणाम की संभावना है, इसलिए कितने ही सांख्य भोग को आत्मा का धर्म नहीं मानते।[११८] उन्होंने आत्मा को कूटस्थ होने के मन्तव्य की रक्षा की है। कठोपनिषद् आदि में भी आत्मा को कूटस्थ माना है।[११९]

जैनदर्शन में आत्मा को सर्वव्यापक नहीं माना है, वह शरीर-प्रमाण-व्यापी है। उसमें संकोच और विकास दोनों गुण हैं। आत्मा को कूटस्थ नित्य भी नहीं माना है किन्तु परिणामी नित्य माना गया है। इस विराट् विश्व में वह विविध पर्यायों के रूप में जन्म ग्रहण करता है और नियत स्थान पर ही वह आत्मा शरीर धारण करता है। कौन सा जीव किस स्थान में है, इस प्रश्न पर चिन्तन करना आवश्यक हो गया तो प्रज्ञापना के द्वितीय पद में स्थान के सम्बन्ध में चिंतन किया है। स्थान भी दो प्रकार का है—एक स्थायी, दूसरा प्रासंगिक। जन्म ग्रहण करने के पश्चात् मृत्युपर्यन्त जीव जिस स्थान पर रहता है, वह स्थायी स्थान है, स्थायी स्थान को आगमकार ने स्व-स्थान कहा है। प्रासंगिक निवास स्थान उपपात और समुद्घात के रूप में दो प्रकार का है।

जैनदृष्टि से जीव की आयु पूर्ण होने पर वह नये स्थान पर जन्म ग्रहण करता है। एक जीव देवायु को पूर्ण कर मानव बनने वाला है; वह जीव देवस्थान से चलकर मानवलोक में आता है। बीच की जो उसकी यात्रा है, वह यात्रा स्वस्थान नहीं है; वह तो प्रासंगिक यात्रा है, उस यात्रा को उपपातस्थान कहा गया है। दूसरा प्रासंगिक स्थान समुद्घात है। वेदना, मृत्यु, विक्रिया प्रभृति विशिष्ट प्रसंगों पर जीव के प्रदेशों का जो विस्तार होता है वह समुद्घात है। समुद्घात के समय आत्मप्रदेश शरीरस्थान में रहते हुए भी किसी न किसी स्थान में बाहर भी समुद्घात-काल पर्यन्त रहते है। इसलिए समुद्घात की दृष्टि से जीव के प्रासंगिक निवास स्थान पर विचार किया गया है। इस तरह द्वितीय पद में स्वस्थान, उपपातस्थान और समुद्घातस्थान—तीनों प्रकार के स्थानों के सम्बन्ध में चिंतन किया है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रथम पद में निर्दिष्ट जीवभेदों में से एकेन्द्रिय जैसे कई सामान्य भेदों के स्थानों पर चिंतन नहीं है, केवल मुख्य मुख्य भेद-प्रभेदों के स्थानों पर ही विचार किया है।

संसारी जीवों के लिए उपपात, समुद्घात और स्वस्थान की दृष्टि से चिंतन किया गया है, पर सिद्धों के लिए स्वस्थान का ही चिंतन किया गया है। सिद्धों का उपपात नहीं होता। अन्य संसारी जीव के नाम, गोत्र, आयु आदि कर्मो का उदय होता है जिससे वे एक गति से दूसरी गति में जाते हैं। सिद्ध कर्मो से मुक्त होते है। कर्मो के अभाव के कारण वे सिद्ध रूप में जन्म नहीं लेते। जैनदृष्टि से जो जीव लोकान्त तक जाते है वे आकाशप्रदेशों को स्पर्श नहीं करते,[१२०] इसलिए सिद्धों का उपपातस्थान नहीं है। कर्मयुक्त जीव ही समुद्घात करते है, सिद्ध नहीं। इसलिए प्रस्तुत प्रकरण में सिद्धों के स्वस्थान पर ही चिन्तन किया गया है।

एकेन्द्रिय जाति के जीव समग्रलोक में व्याप्त हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सामान्य पंचेन्द्रिय जीव लोक के असंख्यातवें भाग में हैं। नारक एवं तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और देव के लिए पृथक्-पृथक् स्थानों का निर्देश

---

११६. सांख्यकारिका ११

११७. सांख्यकारिका १७

११८. सांख्यतत्त्वकौमुदी १७

११९. कठोपनिषद् १२।१८।१९

१२०. प्रज्ञापनामलयगिरिवृत्ति, पत्रांक १०८

किया गया है और सिद्ध लोक के अग्रभाग में अवस्थित हैं। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि जब छद्मस्थ मनुष्य समुद्घात करता है तो वह लोक के असंख्यातवें भाग को स्पर्श करता है और जब केवली समुद्घात करते हैं तो वह सम्पूर्ण लोक को स्पर्श करते हैं। जब मनुष्य के आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोक में विस्तृत हो जाते हैं, उस समय उसकी आत्मा लोकव्याप्त हो जाती है।[१२१]

प्रश्न है कि अजीव के स्थान के सम्बन्ध में विचार क्यों नहीं किया गया ? ऐसा ज्ञात होता है—जैसे जीवों के प्रभेदों में अमुक निश्चित स्थान की कल्पना कर सकते हैं, वैसे पुद्गल के सम्बन्ध में नहीं। परमाणु व स्कन्ध समग्र लोकाकाश में हैं किन्तु उनका स्थान निश्चित नहीं है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय ये दोनों समग्र लोकव्यापी हैं, अतः उनकी चर्चा यहाँ नही की गई है।

संख्या की दृष्टि से चिन्तन

तीसरे पद में जीव और अजीव तत्त्वों का संख्या की दृष्टि से विचार किया गया है। भगवान् महावीर के समय और तत्पश्चात् भी तत्त्वों का संख्या-विचार महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। एक ओर उपनिषदों के मत से सम्पूर्ण विश्व एक ही तत्त्व का परिणाम हैं तो दूसरी ओर सांख्य के मत से जीव अनेक हैं किन्तु अजीव एक है। बौद्धों की मान्यता अनेक चित्त और अनेक रूप की है। इस दृष्टि से जैनमत का स्पष्टीकरण आवश्यक था। वह यहाँ पर किया गया है। अन्य दर्शनों में सिर्फ संख्या का निरूपण है, जबकि प्रस्तुत पद में संख्या का विचार अनेक दृष्टियों से किया गया है। मुख्य रूप से तारतम्य का निरूपण अर्थात् कौन किससे कम या अधिक है, इसकी विचारणा इस पद में की गई है। प्रथम, दिशा की अपेक्षा से किस दिशा में जीव अधिक और किस दिशा में कम, इसी तरह जीवों के भेद-प्रभेद की न्यूनाधिकता का भी दिशा की अपेक्षा से विचार किया गया है। इसी प्रकार गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि से जीवों के जो जो प्रकार होते हैं, उनमें संख्या का विचार करके अन्त में समग्र जीवों के जो विविध प्रकार होते हैं, उन समग्र जीवों की न्यूनाधिक संख्या का निर्देश किया गया है।

इसमें केवल जीवों का ही नहीं किन्तु धर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्यों की भी परस्पर संख्या का तारतम्य निरूपण किया गया है। वह तारतम्य द्रव्यदृष्टि और प्रदेशदृष्टि से बताया गया है। प्रारम्भ में दिशा को मुख्य करके संख्या-विचार है और बाद में ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक की दृष्टि से समग्र जीवों के भेदों का संख्यागत विचार है।

जीवों की तरह पुद्गलों की संख्या का अल्पबहुत्व भी उन उन दिशाओं में व उन उन लोकों में बताया है। इसके सिवाय द्रव्य, प्रदेश और द्रव्यप्रदेश दोनों दृष्टियों से भी परमाणु और संख्या का विचार है। उसके बाद पुद्गलों की अवगाहना, कालस्थिति और उनकी पर्यायों की दृष्टि से भी संख्या का निरूपण किया गया है।

इस पद में जीवों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करके अल्पबहुत्व का विचार किया है। इसकी संख्या की सूची पर से यह फलित होता है कि उस काल में भी आचार्यो ने जीवों की संख्या का तारतम्य (अल्पबहुत्व) बताने का इस प्रकार जो प्रयत्न किया है, वह प्रशस्त है। इसमें बताया गया है कि पुरुषों से स्त्रियों की संख्या—चाहे मनुष्य हो, देव हो या तिर्यञ्च हो—अधिक मानी गई है। अधोलोक में नारकों में प्रथम से सातवीं नरक में जीवों का क्रम घटता गया है अर्थात् सबसे नीचे के सातवें नरक में सबसे कम नारक जीव हैं। इससे विपरीत क्रम

---

१२१. द्रव्यसंग्रह टीका, ब्रह्मदेवकृत, १०

ऊर्ध्वलोक के देवों में है, नीचे के देवलोकों में सबसे अधिक जीव हैं, अर्थात् सौधर्म में सबसे अधिक और अनुत्तर विमानों में सबसे कम हैं। परन्तु मनुष्यलोक (तिर्यक्लोक) के नीचे भवनवासी देव हैं। उनकी संख्या सौधर्म से अधिक है और उनसे ऊपर होने पर भी व्यन्तर देवों की संख्या अधिक और उनसे भी अधिक ज्योतिष्क हैं, जो व्यन्तरों से भी ऊपर हैं।

सबसे कम संख्या मनुष्यों की है। इसलिए यह भव दुर्लभ माना जाय यह स्वाभाविक है। इन्द्रियाँ जितनी कम उतनी जीवों की संख्या अधिक। अथवा ऐसा कह सकते हैं कि विकसित जीवों की अपेक्षा अविकसित जीवों की संख्या अधिक है। अनादिकाल से आज तक जिन्होंने पूर्णता प्राप्त कर ली है, ऐसे सिद्ध जीवों की संख्या भी एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से कम ही है। संसारी जीवों की संख्या सिद्धों से अधिक ही रहती है। इसलिए यह लोक संसारी जीवों से कभी शून्य नहीं होगा, क्योंकि प्रस्तुत पद में जो संख्याएँ दी हैं उनमें कभी परिवर्तन नहीं होगा, ये ध्रुवसंख्याएँ हैं।

सातवें नरक में अन्य नरकों की अपेक्षा सबसे कम नारक जीव हैं तो सबसे ऊपर देवलोक—अनुत्तर में भी अन्य देवलोकों की अपेक्षा सबसे कम जीव हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि जैसे अत्यन्त पुण्यशाली होना दुष्कर है, वैसे ही अत्यन्त पापी होना भी दुष्कर है जीवों का जो क्रमिक विकास माना गया है उसके अनुसार तो निकृष्ट कोटि के जीव एकेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रिय में से ही आगे बढ़कर जीव क्रमशः विकास को प्राप्त होते हैं।

एकेन्द्रियों और सिद्धों की संख्या अनन्त की गणना में पहुँचती है। अभव्य भी अनन्त हैं और सिद्धों की अपेक्षा समग्र रूप से संसारी जीवों की संख्या भी अधिक है और यह बिल्कुल संगत है क्योंकि भविष्य में—अनागत काल में—संसारी जीवों में से ही सिद्ध होने वाले हैं। इसलिए वे कम हों तो संसार खाली हो जायेगा, ऐसा मानना पड़ेगा।

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक क्रम से जीवों की संख्या घटती जाती है। यह क्रम अपर्याप्त जीवों में तो बराबर बना रहता है किन्तु पर्याप्त अवस्था में व्युत्क्रम मालूम पड़ता है। ऐसा क्यों हुआ है, यह विज्ञों के लिए विचारणीय और संशोधन का विषय है।

स्थितिचिन्तन

चौथे पद में जीवों की स्थिति अर्थात् आयु का विचार हुआ है। जीवों की नारकादि रूप में स्थिति-अवस्थिति कितने समय तक रहती है, उसकी विचारणा इसमें होने से इस पद का नाम 'स्थिति' पद दिया है।

जीव द्रव्य तो नित्य है परन्तु वह जो अनेक प्रकार के रूप—पर्याय—नानाविध जन्म धारण करता है, वे अनित्य हैं। इसलिए पर्यायें कभी तो नष्ट होती ही हैं। अतएव उनकी स्थिति का विचार करना आवश्यक है। वह प्रस्तुत पद में किया गया है। जघन्य आयु कितनी और उत्कृष्ट आयु कितनी—इस तरह दो प्रकार से उसका विचार केवल संसारी जीवों और उनके भेदों को लेकर किया है। सिद्ध तो 'सादीया अपज्जवसिता' सादि-अनन्त होने से उनकी आयु का विचार नहीं किया गया है। अजीव द्रव्य की पर्यायों की स्थिति का विचार भी इसमें नहीं है। क्योंकि उनकी पर्याय जीव की आयु की तरह मर्यादित काल में रखी नहीं जा सकती है, इसलिए उसे छोड़ दिया गया हो यह स्वाभाविक है।

प्रस्तुत पद में प्रथम जीवों के सामान्य भेदों को लेकर उनकी आयु का निर्देश है। बाद में उसके अपर्याप्त और पर्याप्त भेदों का निर्देश है। उदाहरणार्थ—पहले तो सामान्य नारक की आयु और उसके पश्चात् नारक के

अपर्याप्त और उसके बाद पर्याप्त की आयु का वर्णन है। इसी क्रम से प्रत्येक नारक आदि को लेकर सर्व प्रकार के आयुष्य का विचार किया गया है।

स्थिति की जो सूची है, उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि पुरुष से स्त्री की आयु कम है। नारकों और देवों का आयुष्य मनुष्यों और तिर्यंचों से अधिक है। एकेन्द्रिय जीवों में अग्निकाय का आयुष्य सबसे न्यून है। यह प्रत्यक्ष में भी अनुभव में आता है, क्योंकि अग्नि अन्य जीवों की अपेक्षा शीघ्र बुझ जाती है। एकेन्द्रियों में पृथ्वीकाय का आयुष्य सबसे अधिक है। द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय जीवों का आयुष्य कम मानने का क्या कारण है, यह विचारणीय है। फिर चतुरिन्द्रिय का आयुष्य अधिक है, परन्तु द्वीन्द्रिय से कम है, यह भी एक रहस्य है और शोध का विषय है।

प्रस्तुत पद में अजीव की स्थिति का विचार नहीं है। उसका कारण यह प्रतीत होता है कि धर्म, अधर्म और आकाश तो नित्य हैं और पुद्गलों की स्थिति भी एक समय से लेकर असंख्यात समय की है, जिसका वर्णन पांचवें पद में है। इसलिए अलग से इसका निर्देश आवश्यक नहीं था। फिर, प्रस्तुत पद में तो आयुकर्मकृत स्थिति का विचार है और वह अजीव में अप्रस्तुत है।[१२२]

पर्याय : एक चिन्तन

पांचवें पद का नाम विशेषपद है। विशेष शब्द के दो अर्थ हैं (१) प्रकार और (२) पर्याय। प्रथम पद में जीव और अजीव इन दो द्रव्यों के प्रकार—भेद-प्रभेदों का वर्णन किया है, तो इनमें इन द्रव्यों की अनन्त पर्यायों का वर्णन है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्यायें हैं तो समग्र की भी अनन्त पर्यायें ही होंगी और द्रव्य की पर्यायें—परिणाम होते हैं तो वह द्रव्य कूटस्थनित्य नहीं हो सकता, किन्तु उसे परिणामीनित्य मानना पड़ेगा। इस सूचन से यह भी फलित होता है कि वस्तु का स्वरूप द्रव्य और पर्याय-रूप है। इस पद का 'विसेस' नाम दिया है, परन्तु इस शब्द का उपयोग सूत्र में नहीं किया गया है। समग्र पद में पर्याय शब्द का ही प्रयोग हुआ है। जैनशास्त्रों में इस पर्याय शब्द का विशेष महत्त्व है, इसलिए पर्याय या विशेष में कोई भेद नहीं है। यहाँ पर्याय शब्द प्रकार या भेद और अवस्था या परिणाम, इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैन आगमों में पर्याय शब्द प्रचलित था परन्तु वैशेषिक दर्शन में 'विशेष' शब्द का प्रयोग होने से उस शब्द का प्रयोग पर्याय अर्थ में और वस्तु के—द्रव्य के भेद अर्थ में भी हो सकता है—यह बताने के लिए आचार्य ने इस प्रकरण का 'विसेस' नाम दिया हो ऐसा ज्ञात होता है।

प्रस्तुत पद में जीव और अजीव द्रव्यों में भेदों और पर्यायों का निरूपण है। भेदों का निरूपण तो प्रथम पद में था परन्तु प्रत्येक भेद में अनन्त पर्यायें हैं, इस तथ्य का सूचन करना इस पांचवें पद की विशेपता है। इसमें २४ दंडक और २५ वें सिद्ध इस प्रकार उनकी संख्या और पर्यायों का विचार किया गया है।

जीव द्रव्य के नारकादि भेदों की पर्यायों का विचार अनेक प्रकार—अनेक दृष्टियों से किया गया है। इसमें जैनसम्मत अनेकान्तदृष्टि का प्रयोग हुआ है। जीव के नारकादि के जिन भेदों की पर्यायों का निरूपण है उसमें द्रव्यार्थता, प्रदेशार्थता, अवगाहनार्थता, स्थिति, कृष्णादि वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, ज्ञान और दर्शन इन दश दृष्टियों से विचारणा की गई है। विचारणा का क्रम इस प्रकार है—प्रश्न किया गया कि नारक जीवों की कितनी पर्यायें हैं ? उत्तर में कहा कि नारक जीवों की अनन्त पर्यायें हैं। इसमें संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद

---

१२२. पन्नवणासूत्र—प्रस्तावना पुण्यविजयजी महाराज, पृ. ६०

भिन्न भिन्न दृष्टियों की अपेक्षा से हैं। द्रव्यदृष्टि से नारक संख्यात हैं, प्रदेशदृष्टि से असंख्यात प्रदेश होने से असंख्यात हैं और वर्ण, गंधादि व ज्ञान, दर्शन आदि दृष्टियों से उनकी पर्यायें अनन्त हैं। इस प्रकार सभी दंडकों और सिद्धों की पर्यायों का स्पष्ट निरूपण इस पद में किया है।

आचार्य मलयगिरि ने प्रस्तुत दश दृष्टियों को संक्षेप में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों में विभक्त किया है। द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता को द्रव्य में, अवगाहना को क्षेत्र में, स्थिति को काल में और वर्णादि व ज्ञानादि को भाव में समाविष्ट किया है।[123]

द्रव्य की दृष्टि से वनस्पति के अतिरिक्त शेष २३ दंडक के जीव असंख्य हैं और वनस्पति के अनन्त। पर्याय की दृष्टि से सभी २४ दंडक के जीव अनन्त हैं। सिद्ध द्रव्य की दृष्टि से अनन्त हैं।

प्रथम पद में अजीव के जो भेद किए हैं वे प्रस्तुत पद में भी हैं। अन्तर यह है कि वहाँ प्रज्ञापना के नाम से हैं और यहाँ पर्याय के नाम से। पुद्‌गल के यहाँ पर परमाणु और स्कन्ध ये दो भेद किये हैं। स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश को स्कन्ध के अन्तर्गत ही ले लिया है। रूपी अजीव की पर्यायें अनन्त हैं। उनका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से इसमें विचार किया है। परमाणु, द्विप्रदेशी स्कन्ध यावत् दशप्रदेशी स्कन्ध और संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी स्कन्धों की पर्यायें अनन्त हैं। स्थिति की अपेक्षा परमाणु और स्कन्ध दोनों एक समय की, दो समय की स्थिति से लेकर असंख्यातकाल तक की स्थिति वाले होते हैं। स्वतंत्र परमाणु अनंतकाल की स्थिति वाला नहीं होता परन्तु स्कन्ध अनन्तकाल की स्थिति वाला हो सकता है। एक परमाणु अन्य परमाणु से स्थिति की दृष्टि से हीन, तुल्य या अधिक होता है। अवगाहना की दृष्टि से द्विप्रदेशी से लेकर यावत् अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्यातप्रदेश तक का क्षेत्र रोक सकते हैं परन्तु अनन्तप्रदेश नहीं, क्योंकि पुद्‌गल द्रव्य लोकाकाश में ही है और लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात ही हैं। अलोकाकाश अनन्त है पर वहाँ पुद्‌गल या अन्य किसी द्रव्य की अवस्थिति नहीं है।

परमाणुवादी न्याय-वैशेषिक परमाणु को नित्य मानते हैं और उसके परिणाम-पर्याय नहीं मानते। जबकि जैन परमाणु को भी परिणामीनित्य मानते हैं। परमाणु स्वतंत्र होने पर भी उसमें परिणाम होते हैं, यह प्रस्तुत पद से स्पष्ट होता है। परमाणु स्कन्ध रूप में और स्कन्ध परमाणु रूप में परिणत होते हैं, ऐसी प्रक्रिया जैनाभिमत है।

गति और आगति चिन्तन

छठा व्युत्क्रांतिपद है। इसमें जीवों की गति और आगति पर विचार किया गया है। सामान्यतः चारों गतियों में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त उपपात-विरहकाल और उद्वर्तना-विरहकाल है। उन गतियों के प्रभेदों पर चिन्तन करते हैं तो उपपात-विरहकाल और उद्वर्तना-विरहकाल प्रथम नरक में जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त का है। सिद्धगति में उपपात है, उद्वर्तना नहीं है। इसी प्रकार अन्य गतियों में भी जानना चाहिए।[124] पांच स्थावरों में निरन्तर उपपात और उद्वर्तना है। इसमें सान्तर विकल्प नहीं है। इसके पश्चात् एक समय में नरक से लेकर सिद्ध तक कितने जीवों का उपपात और उद्वर्तन है, इस पर चिन्तन किया गया है। साथ ही नारकादि के भेद-प्रभेदों में जीव किस किस भव से आकर पैदा होता है और मरकर कहाँ-कहाँ जाता है, उसके पश्चात् पर-भव का आयुष्य जीव कब बाँधता है, इसकी चर्चा है। जीव ने जिस प्रकार

---

१२३. प्रज्ञापना टीका, पत्र १८१ अ.

१२४. प्रज्ञापना टीका पत्र २०५

का आयुष्य बांधा है उसी प्रकार का नवीन भव धारण करता है। आयु के सोपक्रम और निरुपक्रम ये दो भेद हैं। इनमें देवों और नारकों में तो निरुपक्रम आयु है, क्योंकि उनकी आकस्मिक मृत्यु नहीं होती और आयु के छह माह शेष रहने पर वे नवीन आगमी भव का आयुष्य बांधते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में दोनों प्रकार की आयु है। निरुपक्रम हो तो आयुष्य का तीसरा भाग शेष रहने पर पर-भव का आयुष्य बांधते हैं और सोपक्रम हो तो त्रिभाग में अथवा त्रिभाग का भी त्रिभाग करते करते एक आवली मात्र आयु शेष रहने पर पर-भव का आयुष्य बांधते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य में असंख्यात वर्ष की आयु वाला हो तो नियम से आयु के छह माह शेष रहने पर और संख्यात वर्ष की आयु वाले यदि निरुपक्रम आयु वाले हों तो आयु का तीसरा भाग शेष रहने पर आयुष्य बांधते हैं। जो सोपक्रम आयु वाले हों तो एकेन्द्रिय के समान जानना चाहिये। आयुष्यबंध के छह प्रकार हैं—जातिनाम निधत्त-आयुनाम, गतिनाम, स्थितिनाम, अवगाहनानाम, प्रदेशनाम और अनुभावनानाम निधत्त। आयु इन सभी में आयुकर्म का प्राधान्य है और उसके उदय होने से तत्सम्बन्धी उन उन जाति आदि कर्म का उदय होता है।

सातवें पद में सिद्ध के अतिरिक्त जितने भी संसारी जीव हैं उनके श्वासोच्छ्वास के काल की चर्चा है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि जितना दुःख अधिक उतने श्वासोच्छ्वास अधिक होते हैं और अत्यन्त दुःखी की तो निरन्तर श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया चालू रहती है।[125] ज्यों-ज्यों अधिक सुख होता है त्यों-त्यों श्वासोच्छ्वास लम्बे समय के बाद लिये जाते हैं, यह अनुभव की बात है।[126] श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी दुःख है। देवों में जिनकी जितनी अधिक स्थिति है उतने ही पक्ष के पश्चात् उनकी श्वासोच्छ्वास की क्रिया होती है, इत्यादि का विस्तार से निरूपण है।[127]

आठवें संज्ञापद में जीवों की संज्ञा के सम्बन्ध में चिंतन किया है। संज्ञा दश प्रकार की है--आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक और ओघ। इन संज्ञाओं का २४ दण्डकों की अपेक्षा से विचार किया है और संज्ञा-सम्पन्न जीवों के अल्पबहुत्व का भी विचार किया है। नरक में भयसंज्ञा का, तिर्यंच में आहार-संज्ञा का, मनुष्य में मैथुनसंज्ञा का और देवों में परिग्रहसंज्ञा का बाहुल्य है।

नवें पद का नाम योनिपद है। एक भव में से आयु पूर्ण होने पर जीव अपने साथ कार्मण और तैजस शरीर लेकर गमन करता है। जन्म लेने के स्थान में नये जन्म के योग्य औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। उस स्थान को योनि अथवा उद्गमस्थान कहते हैं। प्रस्तुत पद में योनि का अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है। शीत, उष्ण, शीतोष्ण, सचित्त, अचित्त, मिश्र, संवृत, विवृत और संवृतविवृत, इस प्रकार जीवों के ९ प्रकार की योनि-स्थान अर्थात् उत्पत्तिस्थान हैं। इन सभी का विस्तार से निरूपण है।

दसवें पद में द्रव्यों के चरम और अचरम का विवेचन है। जगत् की रचना में कोई चरम के अन्त में होता है तो कोई अचरम के अन्त में नहीं किन्तु मध्य में होता है। प्रस्तुत पद में विभिन्न द्रव्यों के लोक-अलोक आश्रित चरम और अचरम के सम्बन्ध में विचारणा की गई है। चरम-अचरम की कल्पना किसी अन्य की अपेक्षा से ही संभव है। प्रस्तुत पद में छः प्रकार के प्रश्न पूछे गये हैं—१. चरम है, २. अचरम है, ३. चरम हैं (बहुवचन),

---

१२५. अतिदुःखिता हि नैरयिकाः दुःखितानां च निरन्तरं उच्छ्वासनिःश्वासौ, तथा लोके दर्शनात्।
—प्रज्ञापना टीका, पत्र २२०

१२६. सुखितानां च यथोत्तरं महानुच्छ्वास-निःश्वासक्रियाविरहकालः। —प्रज्ञापना टीका पत्र २२१

१२७. यथा-यथाऽऽयुपः सागरोपमवृद्धिस्तथा-तथोच्छ्वास-निःश्वासक्रियाविरहप्रमाणस्यापि पक्षवृद्धिः।

४. अचरम हैं, ५. चरमान्त प्रदेश हैं, ६. अचरमान्त प्रदेश हैं। इन छह विकल्पों को लेकर २४ दण्डकों के जीवनों का अत्यादि दृष्टि से विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, गति की अपेक्षा से चरम उसे कहते हैं कि जो अब अन्य किसी गति में न जाकर मनुष्य गति में से सीधा मोक्ष में जाने वाला है। किन्तु मनुष्य गति में से सभी मोक्ष में जाने वाले नहीं हैं, इसलिए जिनके भव शेष हैं वे सभी जीव गति की अपेक्षा से अचरम हैं। इसी प्रकार स्थिति आदि से भी चरम-अचरम का विचार किया गया है।

भाषा : एक चिन्तन

ग्यारहवें पद में भाषा के सम्बन्ध में चिंतन करते हुए बताया है कि भाषा किस प्रकार उत्पन्न होती है, कहाँ रहती है, उसकी आकृति क्या है? साथ ही उसके स्वरूप-भेद-प्रभेद, बोलने वाला व्यक्ति प्रभृति विविध महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। जो बोली जाय वह भाषा है।[१२८] दूसरे शब्दों में जो दूसरों के अवबोध—समझने में कारण हो वह भाषा है।[१२९] मानव जाति के सांस्कृतिक विकास में भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाषा विचारों के आदान-प्रदान का असाधारण माध्यम है। भाषा शब्दों से बनती है और शब्द वर्णात्मक हैं। इसलिए भाषा के मौलिक विचार के लिए वर्णविचार आवश्यक है, क्योंकि भाषा वर्ण और शब्द से अभिन्न है।

भारतीय दार्शनिकों ने शब्द के सम्बन्ध में गंभीर चिंतन किया है—शब्द क्या है? उसका मूल उपादान क्या है? वह किस प्रकार उत्पन्न होता है? अभिव्यक्त होता? और किस प्रकार श्रोताओं के कर्ण-कुहरों में पहुँचता है?

कणाद आदि कितने ही दार्शनिक शब्द को द्रव्य न मानकर आकाश का गुण मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि शब्द पौद्गलिक नहीं है चूंकि उसके आधार में स्पर्श का अभाव है। शब्द आकाश का गुण है इसलिए शब्द का आधार भी आकाश ही माना जा सकता है। आकाश स्पर्श से रहित है इसलिए उसका गुण शब्द भी स्पर्शरहित है और जो स्पर्शरहित है वह पुद्गल नहीं है। दूसरी बात पुद्गल रूपी होता है। रूपी होने से वह स्थूल है, स्थूल वस्तु न तो किसी सघन वस्तु में प्रविष्ट हो सकती है और न निकल ही सकती है। शब्द यदि पुद्गल होता तो वह स्थूल भी होता पर शब्द दीवाल को भेद कर बाहर निकलता है। इसलिए वह रूपी नहीं है और रूपी नहीं होने से वह पुद्गल भी नहीं है। तीसरा कारण यह है पौद्गलिक पदार्थ उत्पन्न होने के पूर्व भी दिखाई देता है और नष्ट होने के पश्चात् भी। उदाहरण के रूप में घड़ा बनने के पूर्व मिट्टी दिखाई देती है और घड़ा नष्ट होने पर उसके टुकड़े भी दिखाई देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती रूप दृग्गोचर होते हैं। पर शब्द का न तो कोई पूर्वकालीन रूप दिखाई देता है और न उत्तरकालीन ही। ऐसी स्थिति में शब्द को पुद्गल नहीं मानना चाहिए। चौथी बात यह है कि पौद्गलिक पदार्थ दूसरे पौद्गलिक पदार्थों को प्रेरित करते हैं। यदि शब्द पुद्गल होता तो वह भी अन्य पुद्गलों को प्रेरित करता। पर वह अन्य पुद्गलों को उत्प्रेरित नहीं करता है, इसलिए शब्द को पौद्गलिक नहीं मान सकते। पांचवाँ कारण—शब्द आकाश का गुण है, आकाश स्वयं पुद्गल नहीं है, इसलिए उसका गुण—शब्द पुद्गल नहीं हो सकता।

मीमांसक दर्शन की प्रस्तुत युक्तियों के सम्बन्ध में हम जैनदृष्टि से चिंतन करेंगे। मीमांसक दर्शन में शब्द के आधार को स्पर्शरहित माना है किन्तु वस्तुतः शब्द का आधार स्पर्शरहित नहीं किन्तु स्पर्शवान् है। शब्द का आधार भाषावर्गणा है और भषावर्गणा में स्पर्श अवश्य होता है। अतः शब्द का आधार स्पर्श वाला होने से शब्द भी स्पर्श वाला है और स्पर्श वाला होने से पुद्गल है। यहाँ पर यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि शब्द में यदि

---

१२८. भाष्यते इति भाषा। —प्रज्ञापना टीका २४६.

१२९. भाषा अवबोधबीजभूता। —प्रज्ञापना टीका २५६.

स्पर्श होता तो हमें स्पर्श की प्रतीति होनी चाहिए, हम शब्द सुनते हैं किन्तु शब्द स्पर्श नहीं होता, ऐसी स्थिति में शब्द को स्पर्शवान् कैसे माना जाय ? उत्तर में निवेदन है कि जिस वस्तु का हमें अनुभव हो उसका अभाव हो, ऐसा नियम नहीं वनाया जा सकता । ऐसी अनेक वस्तुएं है जिनका हमें अनुभव नहीं होता तथापि अनुमानादि प्रमाणों से उनका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ परमाणु प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता तथापि उसका अस्तित्व है ।

द्वितीय जिज्ञासा यह हो सकती है कि शब्द में स्पर्श है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? इसका समाधान यह है शब्द में स्पर्श तो है पर वह अव्यक्त है। जैसे सुगन्धित पदार्थ से गन्ध की अनुभूति तो होती है पर उसमें स्पर्श का अनुभव नहीं होता चूंकि वह अव्यक्त है। इसी तरह शब्द का स्पर्श भी अव्यक्त है । पुनः जिज्ञासा हो सकती है कि शब्द में स्पर्श होने का निश्चय कैसे करें ? समाधान में कहा जा सकता है जव अनुकूल पवन चलता हो तव दूर तक भी ध्वनि सुनाई देती है । प्रतिकूल पवन के चलने पर सन्निकट में भी रहे हुए शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई नहीं देते । इससे स्पष्ट है कि अनुकूल पवन शब्द के संचार में सहायक होता है तो प्रतिकूल पवन प्रतिरोध करता है। यदि शब्द स्पर्शहीन होता तो उस पर पवन का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता । इसलिए शब्द रूपी है, स्पर्श वाला है और स्पर्श वाला होने से वह पौद्गलिक है ।

दूसरा तर्क था कि शब्द दीवाल को उल्लंघ कर वाहर आ जाता है इसलिए पुद्गल नहीं है। उत्तर यह है कि द्वार और खिड़कियों में लघु छिद्र होते हैं जिसके कारण उन छिद्रों में से शब्द वाहर आता है। यदि बिल्कुल ही छिद्र न हों तो शब्द वाहर नहीं आता । द्वार खुला है तो स्पष्ट सुनाई देता है और द्वार वन्द होने पर अस्पष्ट । इसलिए शब्द गन्ध की तरह ही स्थूल है और स्थूल होने के कारण वह पौद्गलिक है ।

तीसरी युक्ति उत्पत्ति होने के पहले और नष्ट होने के वाद पुद्गल दिखाई न देने के तर्क का उत्तर यह है— जैसे विद्युत् उत्पन्न होने के पहले दिखलाई नहीं देती और नष्ट होने के बाद भी उसका उत्तरकालीन रूप दिखलाई नहीं देता फिर भी विद्युत पौद्‌लिक ही है तो शब्द को पौद्गलिक मानने में क्या वाधा है !

चतुर्थ युक्ति यह दी गई है कि शब्द यदि पुद्गल होता तो वह अवश्य ही अन्य पुद्गलों को प्रेरित करता । इसके उत्तर में हम यह कहना चाहेंगे कि सूक्ष्म रज, धूम, आदि ऐसे अनेक पदार्थ हैं जो पौद्गलिक होने पर भी दूसरों को प्रेरणा नहीं करते । इससे उनके पुद्गल होने में कोई वाधा उपस्थित नहीं होती, वैसी ही स्थिति शब्द की भी है ।

पांचवीं युक्ति थी—शब्द आकाश का गुण है परन्तु शब्द वास्तव में आकाश का गुण नहीं है किन्तु पुद्गल द्रव्य की पर्याय है । यदि शब्द आकाश का गुण होता तो वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता था । चूंकि आकाश प्रत्यक्ष नहीं है तो उसका गुण कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है ? शब्द श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, इसलिए वह आकाश का गुण नहीं है । जो पदार्थ इन्द्रिय का विषय होता है वह पौद्गलिक होता है, जैसे घट, पट, आदि पदार्थ । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शब्द पुद्गल है। इस पुद्गलरूप शब्द में एक स्वाभाविक शक्ति है जिसके कारण पदार्थों का वोध होता है । प्रत्येक शब्द में संसार के सभी पदार्थों का बोध कराने की शक्ति रही हुई । घट शब्द घड़े का वोधक है किन्तु वह पट आदि का भी वोधक हो सकता है । पर मानव ने विभिन्न संकेतों की कल्पना करके उसकी विराट् वाचकशक्ति केन्द्रित कर दी है। अतः जिस देश और जिस काल में जिस पदार्थ के लिए जो शब्द नियत है वह उसी का वोध कराता है। उदाहरण के रूप में 'गौ' शब्द को लें, 'गौ' का अर्थ यदि संसार के सभी पदार्थों को मान लिया जाय तो व्यक्ति उससे कोई भी पदार्थ समझ लेगा । इस गड़वड़ी से बचने के लिए शब्द की व्यापक

वाचकशक्ति को किसी एक पदार्थ तक सीमित करना आवश्यक है, जिससे वह एक पदार्थ का बोध दे सके। नियत अर्थ का ही परिज्ञान करा सके।

भाषा शब्दवर्गणा के पुद्गलों से निर्मित होती है। शब्दवर्गणा के परमाणु समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। जब वक्ता बोलना चाहता है तो उन पुद्गलों को ग्रहण करता है, वे पुद्गल शब्दरूप में परिणत हो जाते हैं और बोलते हुए एक समय में लोकान्त तक पहुँच जाते हैं। उनकी गति का वेग तीव्रतर होता है। आकाश द्रव्य के प्रदेशों की श्रेणियाँ हैं। वे श्रेणियाँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे इस प्रकार छहों दिशाओं में विद्यमान हैं। जब वक्ता भाषा का प्रयोग करता है तो शब्द उन श्रेणियों से प्रसरित होता है। चार समय जितने सूक्ष्म काल में शब्द सम्पूर्ण लोकाकाश में फैल जाता है। यदि श्रोता भाषा की समश्रेणी में अवस्थित होता है तो वक्ता द्वारा जो भाषा बोली जाती है या भेरी आदि वाद्य का जो शब्द होता है उसे वह मिश्र रूप में सुनता है। यदि श्रोता विश्रेणी में स्थित है तो वासित शब्द सुनता है।

श्रोता वक्ता द्वारा बोले हुए शब्द ही नहीं सुनता परन्तु बोले हुए शब्दद्रव्य तथा उन शब्दद्रव्यों से वासित हुए बीच के शब्दद्रव्य मिककर मिश्रशब्द होते हैं। उन्हीं मिश्रशब्दद्रव्यों को समश्रेणी स्थित श्रोता श्रवण करता है। विश्रेणी स्थित श्रोता मिश्रशब्द को भी श्रवण नहीं करता। वह केवल उच्चारित मूल शब्दों द्वारा वासित शब्दों को ही श्रवण करता है। वासित शब्द का अर्थ है वक्ता द्वारा शब्द रूप से त्यागे हुए द्रव्यों से अथवा भेरी आदि की ध्वनि से, मध्य में स्थित शब्दवर्गणा के पुद्गल शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं। शब्द श्रेणी के अनुसार ही फैलता है, वह विश्रेणी में नहीं जाता। शब्दद्रव्य इतना सूक्ष्म है कि दीवाल प्रभृति का प्रतिघात भी उसे विश्रेणी में नहीं ले जा सकता।

यहाँ सहज ही यह जिज्ञासा हो सकती है कि शब्द एक समय में श्रेणी के अनुसार लोकान्त तक पहुँच जाता है। द्वितीय समय में विदिशा में भी जाता है और चार समय में समस्त लोक में फैल जाता है। ऐसी स्थिति में जब श्रोता विदिशा में होता है तो मिश्रशब्द श्रवण क्यों नहीं करता? उत्तर यह है कि लोकान्त में भाषा को पहुँचने में केवल एक समय लगता है और दूसरे समय में भाषा, भाषा नहीं रहती। क्योंकि कहा गया है, जिस समय में वह भाषा बोली जाती हो उसी समय में वह भाषा कहलाती है, दूसरे समय में भाषा अभाषा हो जाती है[१३०]। इसलिए विदिशा में जो शब्द सुनाई पड़ता है वह दो, तीन, चार आदि समयवर्ती हो जाता है जिससे वह श्राव्य शक्ति से शून्य हो जाता है। वह मूल शब्द अन्य शब्दवर्गणा के पुद्गलों को भाषारूप में परिणत कर देता है। इसलिए वह वासित शब्द है और वासित शब्द विदिशा में सुनाई नहीं देते। उदाहरण के रूप में तालाब में जहाँ पर पत्थर गिरता है उसके चारों ओर एक लहर व्याप्त हो जाती है। वह लहर अन्य लहरों को उत्पन्न करती हुई जलाशय के अन्त तक पहुँच जाती है। उसी तरह जब वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषाद्रव्य आगे बढ़ता हुआ आकाश में अवस्थित अन्यान्य भाषा योग्य द्रव्यों को भाषा रूप में परिणत करता हुआ लोक के अन्त तक जाता है। लोक के अन्त तक पहुँच कर उसमें जो श्रव्यशक्ति है वह समाप्त तो जाती है। उससे अन्यान्य भाषावर्गणा के पुद्गलों में शब्दरूप परिणति समुत्पन्न होती है और वे शब्द मूल और बीच के शब्दों द्वारा सम्प्रेरित होकर गतिमान् होते हैं। इस तरह चार समय में सम्पूर्ण लोकाकाश उन शब्दों से व्याप्त हो जाता है।

काययोग के द्वारा जीव भाषावर्गणा के द्रव्यों को ग्रहण करता है और वचनयोग के द्वारा उसका परित्याग करता है।[१३१] ग्रहण करने का और त्याग करने का क्रम चलता रहता है। कभी कभी जीव प्रतिपल प्रतिक्षण

१३०. भाष्यमाणैव भाषा, भाषासमयानन्तरं भाषाऽभाषा।
१३१. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७ (ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३५३

भाषाद्रव्य को ग्रहण करता है और साथ ही कभी-कभी प्रतिपल प्रतिक्षण भाषाद्रव्य का त्याग करता है। प्रथम समय में ग्रहण किए हुए भाषा द्रव्यों को द्वितीय समय में त्याग करता है और द्वितीय समय में ग्रहण किए हुए द्रव्यों को तृतीय समय में त्याग करता है। औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर वाला जीव ही भाषाद्रव्य को ग्रहण करता है।

कितने ही चिन्तकों का यह अभिमत है कि ब्रह्म शब्दात्मक है। समस्त विराट् विश्व शब्दात्मक है, शब्द के अतिरिक्त घट-पट आदि बाह्य पदार्थों एवं ज्ञान प्रभृति आन्तरिक पदार्थों की सत्ता का अभाव है। शब्द ही विभिन्न वस्तुओं के रूप में प्रतिभासित होता है। पर यह चिंतन प्रमाण से बाधित है। हम पूर्व पृष्ठों में शब्द की पौद्गलिकता का समर्थन कर चुके हैं। आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों के माध्यम से भी यह सत्य-तथ्य उजागर हो चुका है। यन्त्र स्वयं पुद्गल रूप है, इसीलिए वह पुद्गल को पकड़ने में समर्थ है। पौद्गलिक वस्तु ही पौद्गलिक वस्तु को पकड़ सकती है।

भाषा के पुद्गल जब भाषा के रूप में बाहर निकलते हैं तब सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं। लोक का आकार वज्राकार है इसलिए भाषा का आकार भी वज्राकार बतलाया गया है। लोक के आगे भाषा के पुद्गल नहीं जाते, क्योंकि गमन क्रिया में सहायभूय धर्मास्तिकाय लोक में ही है।

पुद्गल परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध रूप होते हैं। जो स्कन्ध अनन्तप्रदेशी हैं उन्हीं का ग्रहण भाषा के लिए उपयोगी होता है। क्षेत्र की दृष्टि से असंख्यात प्रदेशों में स्थित स्कन्ध, काल की दृष्टि से एक समय से लेकर असंख्यात समय तक की स्थिति वाले होते हैं। रूप-रस-गंध और स्पर्श की दृष्टि से भाषा के पुद्गल एक समान नहीं होते परन्तु सभी रूपादि परिणाम वाले तो होते ही हैं। स्पर्श की दृष्टि से चार स्पर्श वाले पुद्गलों का ही ग्रहण किया जाता है। आत्मा आकाश के जितने प्रदेशों का अवगाहन कर रहता है, उतने ही प्रदेशों में रहे हुए भाषा के पुद्गलों को वह ग्रहण करता है।

प्रस्तुत पद में भाषा के भेदों का अनेक दृष्टियों से वर्णन किया गया है। भाषा के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद हैं। पर्याप्त के सत्यभाषा और मृषाभाषा दो भेद हैं तथा सत्यभाषा के जनपदसत्य, सम्मतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य, औपम्यसत्य, ये दस भेद हैं। असत्य भाषा बोलने के अनेक कारण हैं। असत्यभाषा के दस भेद हैं—क्रोधनिःसृत, माननिःसृत, माया-निःसृत, लोभनिःसृत, प्रेमनिःसृत, द्वेषनिःसृत, हास्यनिःसृत, भयनिःसृत, आख्यानिकानिःसृत, उपघात-निःसृत।

अपर्याप्तक भाषा के सत्यामृषा और असत्यामृषा ये दो प्रकार हैं। उनमें सत्यामृषा के दस और असत्यामृषा के बारह भेद बताये गये हैं। सत्यामृषा भाषा वह है जो अर्द्ध सत्य हो और असत्यामृषा वह है जिसमें सत्य और मिथ्या का व्यवहार नहीं होता। अन्य दृष्टि से लिंग, संख्या, काल, वचन आदि की दृष्टि से भाषा के सोलह प्रकार बताये हैं।

शरीर : एक चिन्तन

बारहवें पद में जीवों के शरीर के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। शरीर के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्माण ये पांच भेद हैं।[१३२] उपनिषदों में आत्मा के पांच कोषों की चर्चा है। वे हैं—

---

१३२. भगवतीसूत्र १७।१ सूत्र ५९२

१. अन्नमयकोष (स्थूल शरीर, जो अन्न से बनता है) २. प्राणमयकोष (शरीर के अन्तर्गत वायुतत्त्व) ३. मनोमयकोष (मन की संकल्प-विकल्पात्मक क्रिया) ४. विज्ञानमयकोष (बुद्धि की विवेचनात्मक क्रिया) ५. आनन्दमयकोष (आनन्द की स्थिति)।[133] इन पांच कोषों में केवल अन्नमयकोष के साथ औदारिक शरीर की तुलना की जा सकती है।[134] औदारिक आदि शरीर स्थूल हैं तो कार्मणशरीर सूक्ष्म शरीर है। कार्मणशरीर के कारण ही स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। नैयायिकों ने कार्मणशरीर को अव्यक्त शरीर भी कहा है।[135] सांख्य प्रभृति दर्शनों में अव्यक्त सूक्ष्म और लिंग शरीर जिन्हें माना गया है उनकी तुलना कार्मणशरीर के साथ की जा सकती है।[136]

चौबीस दंडकों में कितने कितने शरीर हैं, इस पर चिंतन कर यह बताया गया कि औदारिक से वैक्रिय और वैक्रिय से आहारक आदि शरीरों के प्रदेशों की संख्या अधिक होने पर भी वे अधिकाधिक सूक्ष्म हैं। संक्षेप में औदारिक शरीर स्थूल पुद्गलों से निष्पन्न रसादि धातुमय शरीर है। यह शरीर मनुष्य और तिर्यञ्चों में ही होता है। वैक्रिय शरीर वह है जो विविध रूप करने में समर्थ हो, यह शरीर नैरयिकों तथा देवों का होता है। वैक्रियलब्धि से सम्पन्न मनुष्यों और तिर्यञ्चों तथा वायुकाय में भी होता है। आहारक शरीर वह है जो आहारक नामक लब्धिविशेष से निष्पन्न हो। तैजस शरीर वह है जिससे तेजोलब्धि प्राप्त हो, जिससे उपघात या अनुग्रह किया जा सके, जिससे दीप्ति और पाचन हो। कार्मण शरीर वह है जो कर्मसमूह से निष्पन्न है, दूसरे शब्दों में कर्मविकार को कार्मण शरीर कह सकते हैं। तैजस और कार्मण शरीर सभी सांसारिक जीवों में होता है।

भावपरिणमन : एक चिन्तन

तेरहवें परिणाम पद में परिणाम के संबंध में चिंतन है। भारतीय दर्शनों में सांख्य आदि कुछ दर्शन परिणामवादी हैं तो न्याय आदि कुछ दर्शन परिणामवाद को स्वीकार नहीं करते। जिन दर्शनों ने धर्म और धर्मी का अभेद स्वीकार किया है वे परिणामवादी हैं और जिन दर्शनों ने धर्म और धर्मी में अत्यन्त भेद माना है, वे अपरिणामवादी हैं। नित्यता के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों में तीन प्रकार के विचार हैं—सांख्य, जैन और वेदान्तियों में रामानुज। इन तीनों ने परिणामी-नित्यता स्वीकार की है। पर यहाँ स्मरण रखना होगा कि सांख्यदर्शन ने प्रकृति में परिणामीनित्यता मानी है, किन्तु पुरुष में कूटस्थनित्यता स्वीकार की है।[137] नैयायिकों ने सभी प्रकार की नित्य वस्तुओं में कूटस्थनित्यता मानी है। धर्म और धर्मी में अत्यन्त भेद स्वीकार करने के कारण परिणामीनित्यता

---

१३३. (क) पंचदशी ३.१।११
(ख) हिन्दुधर्मकोश—डॉ. राजबलि पाण्डेय

१३४. तैत्तिरीय-उपनिषद्, भृगुवल्ली, बेलवलकर और रानाडे,
—History of Indian Philosophy, 250.

१३५. द्वे शरीरस्य प्रकृती व्यक्ता च अव्यक्ता च। तत्र अव्यक्तायाः कर्मसमाख्यातायाः प्रकृतेरुपभोगात् प्रक्षयः। प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति इति उपपन्नोऽपवर्गः।
—न्यायवार्तिक ३।२।६८

१३६. सांख्यकारिका ३९-४०, बेलवलकर और रानाडे
—History of Indian Philosophy. 358, 430 & 370

१३७. द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य। परिणामिनित्यता गुणानाम्। —पातञ्जलभाष्य ४, ३३

के सिद्धान्त को उन्होंने मान्य नहीं किया। बौद्धों ने क्षणिकवाद स्वीकार किया है। क्षणिकवाद स्वीकार करने पर भी उन्होंने पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। उन्होंने सन्तति-नित्यता के रूप में नित्यता का तृतीय प्रकार स्वीकार किया है।

प्रज्ञापना के प्रस्तुत पद में जैनदृष्टि से जीव और अजीव दोनों के परिणाम प्रतिपादित किए हैं। जिससे स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन मान्य पुरुषकूटस्थवाद जैनों को अमान्य है। पहले जीव के परिणामों के भेद-प्रभेदों को प्रतिपादित कर नरक आदि चतुर्विशति दण्डकों में परिणामों का विचार किया गया है। उसके पश्चात् अजीव के परिणामों की परिगणना की गई है। यहाँ पर यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि अजीव में केवल पुद्गल के परिणामों की ही चर्चा की गई है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि अरूपी अजीव द्रव्यों के परिणामों की चर्चा नहीं है। आगमप्रभावक पुण्यविजयजी महाराज व पंडित दलसुख मालवणिया आदि ने प्रज्ञापना की प्रस्तावना में इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा की है, वह चर्चा ज्ञानवर्द्धक है, अतः हम यहाँ पर उस चर्चा की पुनरावृत्ति न कर विशेष जिज्ञासुओं को उसके पढ़ने का सूचन करते हैं। यहाँ पर परिणाम का अर्थ पर्याय अथवा भावों का परिणमन है।

कषाय : एक चिन्तन

चौदहवें पद का नाम कषाय पद है। कषाय जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जो जीव के शुद्धोपयोग में मलीनता उत्पन्न करता है, वह कषाय है।[138] कष का अर्थ है कुरेदना, खोदना और कृषि करना। जिससे कर्मों की कृषि लहलहाती हो वह कषाय है। कषाय के पकते ही सुख और दुःख रूपी फल निकल आते हैं। कषाय शब्द कषैले रस का भी द्योतक है। जिस प्रकार कषाय रसप्रधान वस्तु के सेवन से अन्नरुचि न्यून होती है वैसे ही कषायप्रधान जीवों में मोक्षाभिलाषा क्रमशः कम हो जाती है। कषाय वह है जिससे समता, शान्ति और सन्तुलन नष्ट हो जाता है।[139] कषाय एक प्रकार से प्रकम्पन है, उत्ताप है और आवर्त्त है, जो चैतन्योपयोग में विक्षोभ उत्पन्न करता रहता है। क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों को एक शब्द में कहा जाय तो वह कषाय है। कषाय मन की मादकता है। कषाय की तुलना आवर्त से की गई है पर क्रोध के आवर्त से मान का आवर्त भिन्न है और मान के आवर्त से माया का आवर्त भिन्न है। क्रोध का आवर्त खरावर्त है। खरावर्त सागर में होने वाले तीक्ष्ण आवर्त के सदृश है। मान का आवर्त उन्नतावर्त है। इस आवर्त से उत्प्रेरित मनोदशा पहाड़ की चोटी को अपने बहाव में उड़ा ले जाने वाली तेज पवन के सदृश है। अभिमानी दूसरों को मिटाकर अपने-आपके अस्तित्व का अनुभव करता है। माया गूढावर्त के सदृश है। मायावी का मन घुमावदार होता है। इसके विचार गूढ होते हैं, वह विचारों को छुपाए रखता है। लोभ अभिषावावर्त है, लोभी का मानस किसी एक केन्द्र को मानकर उसके चारों ओर घूमता है, जैसे चील आदि पक्षी मांस के चारों ओर घूमते हैं, जब तक वह पदार्थ उसे प्राप्त नहीं होता तब तक उसके मन में शान्ति नहीं होती। इस प्रकार कषाय चक्राकार है जो चेतना को घुमाती रहती है।

प्रस्तुत पद में क्रोध-मान-माया-लोभ ये चारों कषाय चौवीस दण्डकों में बताये गये हैं। क्षेत्र, वस्तु, शरीर और उपधि को लेकर सम्पूर्ण सांसारिक जीवों में कषाय उत्पन्न होता है। कितनी बार जीव को कषाय का निमित्त मिलता है और कितनी बार बिना निमित्त के भी कषाय उत्पन्न हो जाता है।

---

१३८. प्रज्ञापना पद १४ टीका

१३९. अन्नरुचिस्तम्भनकृत् कषायः। —स्थानांग टीका

चारों ही कषायों के तरतमता की दृष्टि से अनन्त स्तर होते हैं, तथापि आत्मविकास के घात की दृष्टि से उनमें से प्रत्येक के चार-चार स्तर हैं—अनन्तानुवंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। अनन्तानुवंधी कषाय के उदयकाल में सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदयकाल में व्रत की योग्यता प्राप्त नहीं होती। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदयकाल में महाव्रत की योग्यता प्राप्त नहीं होती और संज्वलन कषाय के उदयकाल में वीतरागता उत्पन्न नहीं होती। ये चारों प्रकार के कषाय उत्तरोत्तर, मंद-मंदतर होते हैं, साथ ही आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित, उपशान्त और अनुपशान्त, इस प्रकार के भेद भी किए गए हैं। आभोगनिर्वर्तित कषाय कारण उपस्थित होने पर होता है तथा जो विना कारण होता है वह अनाभोगनिर्वर्तित कहलाता है।

कर्मवंधन का कारण मुख्य रूप से कषाय है। तीनों कालों में आठों कर्मप्रकृतियों के चयन के स्थान और प्रकार, २४ दंडक के जीवों में कषाय को ही माना गया है। साथ ही उपचय, बंध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा में चारों कषाय ही मुख्य रूप से कारण बताये गये हैं।

इन्द्रिय : एक चिन्तन

पन्द्रहवें पद में इन्द्रियों के सम्बन्ध में दो उद्देशकों में चिंतन किया गया है। प्राणी और अप्राणी में भेद-रेखा खींचने वाला चिह्न इन्द्रिय है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में इन्द्रिय शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है—परम् ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र कहते हैं और उस इन्द्र के लिंग या चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जो जीव को अर्थ की उपलब्धि में निमित्त होता है वह इन्द्रिय है अथवा जो इन्द्रियातीत आत्मा के सद्भाव की सिद्धि का हेतु है वह इन्द्रिय है। अथवा इन्द्र अर्थात् नामकर्म के द्वारा निर्मित स्पर्शन आदि को इन्द्रिय कहा है।[१४०] तत्त्वार्थभाष्य,[१४१] तत्त्वार्थवार्तिक,[१४२] आवश्यकनिर्युक्ति[१४३] आदि अनेक ग्रन्थों में इससे मिलती-जुलती परिभाषाएँ हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर कर्म का आवरण होने के कारण सीधा आत्मा से ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए किसी माध्यम की आवश्यकता होती है और वह माध्यम इन्द्रिय है। अतएव जिसकी सहायता से ज्ञान लाभ हो सके वह इन्द्रिय है। इन्द्रियाँ पांच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनके विषय भी पांच हैं—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द। इसीलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत-अर्थग्राही कहा जाता है।[१४४]

प्रत्येक इन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप से दो-दो प्रकार की है।[१४५] पुद्गल की आकृतिविशेष द्रव्येन्द्रिय है और आत्मा का परिणाम भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के निर्वृत्ति और उपकरण ये दो भेद हैं।[१४६]

---

१४०. इन्दतीती इन्द्र आत्मा, तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य तदर्थोपलब्धि-निमित्तं लिङ्गं तदिन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते। अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्। आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिङ्गमिन्द्रियम्। अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते, तेन सृष्टमिन्द्रियमिति।—सर्वार्थसिद्धि १-१४

१४१. तत्त्वार्थभाष्य २-१५

१४२. तत्त्वार्थवार्तिक २।१५।१-२

१४३. आवश्यकनिर्युक्ति, हरिभद्रीया वृत्ति ९१८, पृष्ठ ३९८

१४४. प्रमाणमीमांसा १।२।२१-२३

१४५. सर्वार्थसिद्धि २/१६/१७९

१४६. निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २/१७

इन्द्रियों की विशेष आकृतियाँ निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय हैं। निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय की बाह्य और आभ्यन्तरिक पौद्गलिक शक्ति है, जिसके अभाव में आकृति के होने पर भी ज्ञान होना संभव नहीं है; वह उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। भावेन्द्रिय भी लब्धि और उपयोग रूप से दो प्रकार की है।[147] ज्ञानावरणकर्म आदि के क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली जो आत्मिक शक्तिविशेष है, वह लब्धि है। लब्धि प्राप्त होने पर आत्मा एक विशेष प्रकार का व्यापार करती है, वह व्यापार उपयोग है।

प्रथम उद्देशक में चौवीस द्वार है और दूसरे में बारह द्वार हैं। इन्द्रियों की चर्चा चौबीस दण्डकों में की गई है। जीवों में इन्द्रियों के द्वारा अवग्रहण-परिच्छेद अवाय ईहा और अवग्रह—अर्थ और व्यंजन दोनों प्रकार से चौवीस दण्डकों में निरूपण किया गाया है। चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह होता है। अर्थावग्रह छः प्रकार का है। वह पांच इन्द्रिय और छठे नोइन्द्रिय मन से भी होता है। इस प्रकार इन्द्रियों के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दो भेद किए हैं। द्रव्येन्द्रिय पुद्गलजन्य होने से जड़ रूप है और भावेन्द्रिय ज्ञान रूप है। इसलिए वह चेतना शक्ति का पर्याय है। द्रव्येन्द्रिय अंगोपांग और निर्माण नामकर्म के उदय से प्राप्त है। इन्द्रियों के आकार का नाम निर्वृत्ति है। वह निर्वृत्ति भी बाह्य और आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार की है। इन्द्रिय के बाह्य आकार को बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं और आभ्यन्तर आकृति को आभ्यन्तरनिर्वृत्ति कहते हैं। बाह्य भाग तलवार के सदृश है और आभ्यन्तर भाग तलवार की तेज धार के सदृश है जो बहुत ही स्वच्छ परमाणुओं से निर्मित है। प्रज्ञापना की टीका में आभ्यन्तर निर्वृत्ति का स्वरूप पुद्गलमय बताया है[148] तो आचारांग-वृत्ति में उसका स्वरूप चेतनामय बताया है।[149]

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि त्वचा की आकृति विभिन्न प्रकार की होती है किन्तु उसके बाह्य और आभ्यन्तर आकार में पृथक्ता नहीं है। प्राणी की त्वचा का जिस प्रकार बाह्य आकार होता है वैसा ही आभ्यन्तर आकार भी होता है, पर अन्य चार इन्द्रियों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। उन इन्द्रियों का बाह्य आकार अलग है और आभ्यन्तर आकार अलग है। उदाहरण के रूप में देखिए—कान का आभ्यन्तर आकार कदम्बपुष्प के सदृश होता है। आंख की आभ्यन्तर आकृति मसूर के दाने के सदृश होती है और नाक की आभ्यन्तर आकृति अतिमुक्तक के फूल के सदृश होती है तथा जीभ की आकृति छुरे के समान होती है। पर बाह्याकार सभी में पृथक्-पृथक् दृग्गोचर होते हैं। जैसे मनुष्य, हाथी, घोड़े, पक्षी आदि के कान, आंख, नाक, जीभ आदि को देख सकते हैं।

आभ्यन्तरनिर्वृत्ति की विषयग्रहणशक्ति उपकरणेन्द्रिय है। तत्त्वार्थसूत्र,[150] विशेषावश्यकभाष्य,[151] लोकप्रकाश[152] प्रभृति ग्रन्थों में इन्द्रियों पर विशेषरूप से विचार किया गया है। प्रज्ञापना में इन्द्रियोपचय, इन्द्रिय-निर्वर्तन, इन्द्रियलब्धि, इन्द्रियोपयोग आदि द्वारों से द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की चौवीस दण्डकों में विचारणा की गई है।

---

१४७. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २/१८

१४८ प्रज्ञापनासूत्र, इन्द्रियपद, टीका पृष्ठ २९४/१

१४९. आचारांगवृत्ति, पृष्ठ १०४

१५०. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र १७/१८ तथा विभिन्न वृत्तियाँ

१५१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २९९३-३००३

१५२. लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ४६४ से आगे

प्रयोग : एक चिन्तन

सोलहवाँ प्रयोगपद है। मन, वचन, काया के द्वारा आत्मा के व्यापार को योग कहा गया है तथा उसी योग का वर्णन प्रस्तुत पद में प्रयोग शब्द से किया गया है, यह आत्मव्यापार इसलिए कहा जाता है कि आत्मा के अभाव में तीनों की क्रिया नहीं हो सकती। आचार्य अकलंकदेव ने तीनों योगों के बाह्य और आभ्यन्तर कारण बताकर उसकी व्याख्या की है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से मनन के अभिमुख आत्मा का जो प्रदेशपरिस्पन्दन है वह मनोयोग कहलाता है। मनोवर्गणा का आलम्बन बाह्य कारण है। वीर्यान्तरायकर्म का क्षय, क्षयोपशम तथा नोइन्द्रियावरणकर्म का क्षय-क्षयोपशम इसका आभ्यन्तर कारण है।

बाह्य और आभ्यन्तर कारण-जन्य भाषाभिमुख आत्मा का प्रदेशपरिस्पन्द वचनयोग है। वचनवर्गणा का आलम्बन बाह्य कारण है और वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम तथा मतिज्ञानावरण और अक्षरश्रुतज्ञानावरण आदि कर्म का क्षयोपशम आभ्यन्तर कारण है।

बाह्य और आभ्यन्तर कारण से उत्पन्न गमन आदि विषयक आत्मा का प्रदेशपरिस्पन्दन काययोग है। किसी भी प्रकार का शरीरवर्गणा का आलम्बन इसका बाह्य कारण है। वीर्यान्तरायकर्म का क्षय-क्षयोपशम इसका आभ्यन्तर कारण है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वीर्यान्तरायकर्म का क्षय, जो आभ्यन्तर कारण है वह दोनों ही गुणस्थानों में समान है किन्तु वर्गणा का आलम्बनरूप बाह्य कारण समान नहीं होने से तेरहवें गुणस्थान में योगविधि होती है किन्तु चौदहवें में नहीं।[१५३] यहाँ एक प्रश्न यह भी उद्‌बुद्ध होता है कि मनोयोग और वचनयोग में किसी न किसी प्रकार का काययोग का आलम्बन होता ही है। इसलिए केवल एक काययोग को मानना पर्याप्त है। उत्तर में निवेदन है—मनोयोग और वचनयोग में काययोग की प्रधानता है। जब काययोग मनन करने में सहायक बनाता है, तब मनोयोग है और जब काययोग भाषा बोलने में सहयोगी बनाता है, तब वह वचनयोग कहलाता है। व्यवहार की दृष्टि से काययोग के ही ये तीन प्रकार हैं। जो पुद्‌गल मन बनने के योग्य हैं, जिन्हें मनोवर्गणा के पुद्‌गल कहा गया है, जब वे मन के रूप में परिणत हो जाते हैं तब उन्हें द्रव्य-मन कहते हैं। श्वेताम्बरपरम्परा के अनुसार द्रव्यमन का शरीर में कोई स्थानविशेष नहीं है, वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। दिगम्बरपरम्परा की दृष्टि से द्रव्यमन का स्थान हृदय है और उसका आकार कमल के सदृश है। भाषावर्गणा के पुद्‌गल जब वचन रूप में परिणत होते हैं तो वे वचन कहलाते हैं। औदारिक और वैक्रिय आदि शरीर वर्गणाओं के पुद्‌गलों से जो योग प्रवर्तमान होता है, वह काययोग है[१५४]। इस प्रकार आलम्बनभेद से योग के तीन प्रकार हैं। जैनदृष्टि से मन, वचन और काया ये तीनों पुद्‌गलमय हैं और पुद्‌गल की जो स्वाभाविक गति है वह आत्मा के बिना भी उसमें हो सकती है पर जब पुद्‌गल मन, वचन और काया के रूप में परिणत हों तब आत्मा के सहयोग से जो विशिष्ट प्रकार का व्यापार होता है वह अपरिणत में असंभव है। पुद्‌गल का मन आदि रूप में परिणमन होना भी आत्मा के कर्माधीन ही है। इसलिए उसके व्यापार को आत्मव्यापार कहा है। मन, वचन और काया के प्रयोग के पन्द्रह प्रकार बताये हैं जो निम्नलिखित हैं—

---

१५३. तत्त्वार्थसूत्र राजवार्तिक ६/१/१०.

१५४. दर्शन और चिंतन (हिन्दी) पृष्ठ ३०९-३११— पंडित सुखलालजी

१. सत्यमनःप्रयोग २. असत्यामनःप्रयोग ३. सत्यमृषामनःप्रयोग ४. असत्यामृषामनःप्रयोग ५. सत्यवचनप्रयोग ६. असत्यवचनप्रयोग ७. सत्यमृषावचनप्रयोग ८. असत्यामृषावचनप्रयोग ९. औदारिककायप्रयोग १०. औदारिकमिश्र-कायप्रयोग ११. वैक्रियकायप्रयोग १२. वैक्रियमिश्रकायप्रयोग १३. आहारककायप्रयोग १४. आहारकमिश्रकायप्रयोग १५. कार्मणकायप्रयोग ।

प्रज्ञापना की टीका में आचार्य मलयगिरि ने इन पन्द्रह प्रयोग के भेदों में तैजसकाययोग का निर्देश न होने से कार्मण के साथ तैजस को मिलाकर तैजसकार्मणशरीरप्रयोग की चर्चा की है।[१५५]

इन पन्द्रह प्रयोगों की जीव में और विशेष रूप से चौवीस दण्डकों में योजना बताई है। प्रयोग के विवेचन के पश्चात् इस पद में गतिप्रपात का भी निरूपण है। उसके पांच प्रकार बताये हैं—प्रयोगगति, ततगति, बन्धन-छेदनगति, उपपातगति और विहायोगति। इनके भी अवान्तर अनेक भेद-प्रभेद हैं।

लेश्या : एक विश्लेषण

सत्रहवाँ लेश्यापद है। लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक समूह हैं। उनमें से एक समूह का नाम लेश्या है। उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति में लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा या छाया किया है।[१५६] दिगम्बरपरम्परा के आचार्य शिवार्य ने लेश्या उसे कहा है जो जीव का परिणाम छायापुद्गलों से प्रभावित होता हो।[१५७] प्राचीन जैन वाङ्मय में शरीर के वर्ण, आणविक आभा और उससे प्रभावित होने वाले विचार इन तीनों अर्थों में लेश्या शब्द व्यवहृत हुआ है। शरीर के वर्ण और आणविक आभा द्रव्यलेश्या है[१५८] तो विचार भावलेश्या हैं।[१५९]

विभिन्न ग्रन्थों में लेश्या की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। प्राचीन पंचसंग्रह,[१६०] धवला,[१६१] गोम्मटसार[१६२] आदि में लिखा है कि जीव जिसके द्वारा अपने को पुण्य-पाप से लिप्त करता है वह लेश्या है। तत्त्वार्थवार्तिक,[१६३] पंचास्तिकाय[१६४] आदि ग्रन्थों के अनुसार कषाय के उदय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति लेश्या है। स्थानांग-अभयदेववृत्ति,[१६५] ध्यानशतक,[१६६] प्रभृति ग्रन्थों में लिखा है—जिसके द्वारा प्राणी कर्म

---

१५५. प्रज्ञापनाटीका पत्र ३१९ —आचार्य मलयगिरि

१५६. लेशयति—श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या—अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०

१५७. जह बाहिरलेस्साओ, किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स।
अब्भन्तरलेस्साओ, तह किण्हादीय पुरिसस्स॥ —मूलाराधना, ७।१९०७

१५८. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९४
(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५३९

१५९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ५४०

१६०. प्राचीन पंचसंग्रह १-१४२

१६१. धवला, पु. १, पृ. १५०

१६२. गोम्मटसार, जीवकाण्ड ४८९

१६३. तत्त्वार्थवार्तिक २, ६, ८

१६४. पंचास्तिकाय जयसेनाचार्य वृत्ति १४०

१६५. लिश्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या। —स्थानांग अभयदेववृत्ति ५१, पृष्ठ ३१.

१६६. कृष्णादि द्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रयुज्यते॥ —ध्यानशतक हरिभद्रीयावृत्ति १४

से संश्लिष्ट होता है उसका नाम लेश्या है। कृष्ण आदि द्रव्य की सहायता से जो जीव का परिणाम होता है वह लेश्या है। योग परिणाम लेश्या है।[167]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुसार लेश्या से जीव और कर्म के पुद्गलों का सम्बन्ध होता है, कर्म की स्थिति निष्पन्न होती है और कर्म का उदय होता है। आत्मा की शुद्धि और अशुद्धि के साथ लेश्या का सम्बन्ध है। पौद्गलिक लेश्या का मन की विचारधारा पर प्रभाव पड़ता है और मन की विचारधारा का लेश्या पर प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार की लेश्या होगी वैसी ही मानसिक परिणति होगी। कितने ही मूर्धन्य मनीषियों का यह मन्तव्य है कि कषाय की मंदता से अध्यवसाय में विशुद्धि होती है और अध्यवसाय की विशुद्धि से लेश्या की शुद्धि होती है।[168]

जिस परिभाषा के अनुसार योगप्रवृत्ति लेश्या है, उस दृष्टि से तेरहवें गुणस्थान तक भावलेश्या का सद्भाव है और जिस परिभाषा के अनुसार कषायोदय-अनुरंजित योगप्रवृत्ति लेश्या है, उस दृष्टि से दसवें गुणस्थान पर्यन्त ही लेश्या है। ये दोनों परिभाषाएँ अपेक्षाकृत होने से एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं। जहाँ योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है, वहाँ पर प्रकृति और प्रदेशबन्ध के निमित्तभूत परिणाम लेश्या के रूप में विवक्षित हैं और जहाँ-कषायोदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है, वहाँ स्थिति, अनुभाग आदि चारों बन्ध के निमित्तभूत परिणाम लेश्या के रूप में विवक्षित हैं।[169]

प्रस्तुत पद में छः उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में नारक आदि चौवीस दण्डकों के सम्बन्ध में आहार, शरीर, श्वासोच्छ्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया, आयु आदि का वर्णन है। जिन नारक जीवों के शरीर की अवगाहना बड़ी है उनमें आहार आदि भी अधिक है। नारकों में उत्तरोत्तर अवगाहना बढ़ती है। प्रथम नरक की अपेक्षा द्वितीय में और द्वितीय से तृतीय में। पर देवों में इससे उल्टा क्रम है। वहाँ पर उत्तरोत्तर अवगाहना कम होती है और आहार की मात्रा भी। आहार की मात्रा अधिक होना दुःख का ही कारण है। दुःखी व्यक्ति अधिक खाता है, सुखी कम। सलेश्य जीवों की अपेक्षा नारक आदि चौवीस दण्डकों में सम-विषम आहार आदि की चर्चा है। द्वितीय उद्देशक में लेश्या के कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल, ये छः भेद बताकर नरक आदि चार गतियों के जीवों में कितनी-कितनी लेश्याएँ होती हैं इसका विस्तार से निरूपण है। अपेक्षा दृष्टि से लेश्या के अल्पबहुत्व का भी चिन्तन इसमें किया गया है। साथ ही २४ दण्डक के जीवों को लेकर लेश्या की अपेक्षा से ऋद्धि के अल्प और बहुत्व के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। तृतीय उद्देशक में जन्म और मृत्यु काल की लेश्या सम्बन्धी चर्चा है। अमुक-अमुक लेश्या वाले जीवों के अवधिज्ञान की विषय-मर्यादा पर भी प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ उद्देशक में एक लेश्या का दूसरी लेश्या में परिणमन होने पर उसके वर्ण, रस, गंध, स्पर्श किस प्रकार परिवर्तित होते हैं, इसकी विस्तृत चर्चा है। लेश्याओं के विविध परिणाम, उनके प्रदेश, अवगाहना, क्षेत्र, और स्थान की

---

१६७. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ६५०

१६८. (क) लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जनस्स।
अज्झवसाणविसोधी, मंदलेसायस्स णादव्वा ॥ —मूलाराधना १।१९११

(ख) अन्तर्विशुद्धितो जन्तोः शुद्धिः सम्पद्यते बहिः।
वाह्यो हि शुध्यते दोषः सर्वमन्तरदोषतः ॥ —मूलाराधना (अमितगति), ७।१९६७

१६९. जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होइ।
तत्तो दोण्णं कज्जं, बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥४८९॥ —गो. जीवकाण्ड

अपेक्षा से अल्पबहुत्व द्रव्य और प्रदेश को लेकर किया गया है। पांचवें उद्देशक में एक लेश्या का दूसरी लेश्या में देव-नारक की अपेक्षा से परिणमन नहीं होता, यह बताया है। छठे उद्देशक में विविध क्षेत्रों में रहे हुए मनुष्य और मनुष्यनी की अपेक्षा से चिन्तन किया गया है। यह स्मरण रखना होगा कि जो लेश्या माता-पिता में होती है वही लेश्या पुत्र और पुत्री में भी हो, यह नियम नहीं है।

जीव को लेश्या की प्राप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीत हो जाने पर तथा अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर जीव परलोक में जन्म ग्रहण करता है, क्योंकि मृत्युकाल में आगामी भव की और उत्पत्तिकाल में उसी लेश्या का अन्तर्मुहूर्त काल तक होना आवश्यक है। जीव जिस लेश्या में मरता है, अगले भव में उसी लेश्या में जन्म लेता है।[१७०]

उत्तराध्ययन में किस किस लेश्या वाले जीव के किस किस प्रकार के अध्यवसाय होते हैं तथा भगवती में लेश्याओं के द्रव्य और भाव ये भेद किए गए हैं। पर प्रज्ञापना का लेश्यापद बहुत ही विस्तृत होने पर भी उसमें उसकी परिभाषा एवं द्रव्य और भाव आदि बातों की कमी है। इस कमी के सम्बन्ध में आगमप्रभावक पुण्यविजयजी महाराज का यह मानना है कि यह इस आगम की प्राचीनता का प्रतीक है।

कायस्थिति : एक विवेचन

अठारहवें पद का नाम कायस्थिति है। इसमें जीव और अजीव दोनों अपनी अपनी पर्याय में कितने काल तक रहते हैं, इस पर चिन्तन किया गया है। चतुर्थ स्थितिपद और इस पद में अन्तर यह है कि स्थितिपद में तो २४ दण्डकों में जीवों की भवस्थिति अर्थात् एक भव की अपेक्षा से आयुष्य का विचार है जबकि इस पद में एक जीव मरकर सतत उसी पर्याय में जन्म लेता रहे तो ऐसे सब भवों की परम्परा की काल-मर्यादा अथवा उन सभी भवों में आयुष्य का कुल जोड़ कितना होगा ? स्थितिपद में तो केवल एक भव की आयु का ही विचार है जब कि प्रस्तुत पद में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय आदि अजीव द्रव्य, जो काय के रूप में जाने जाते हैं, उनका उस रूप में रहने के काल का अर्थात् स्थिति का भी विचार किया गया है।

इसमें जीव, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयत, उपयोग, आहार, भाषक, परित्त, पर्याप्त, सूक्ष्म, संज्ञी, भव (सिद्धि), अस्ति (काय), चरिम की अपेक्षा से कायस्थिति का वर्णन है। वनस्पति की कायस्थिति 'असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा' बताई है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी वनस्पति का जीव अनादि काल से वनस्पतिरूप में नहीं रह सकता। उस जीव ने वनस्पति के अतिरिक्त अन्य भव किये होने चाहिये। इससे यह स्पष्ट है प्रज्ञापना के रचयिता आचार्य श्याम के समय तक व्यवहारराशि-अव्यवहार-राशि की कल्पना पैदा नहीं हुई थी। व्यवहारराशि-अव्यवहारराशि की कल्पना दार्शनिक युग की देन है। यही कारण है कि प्रज्ञापना की टीका में व्यवहारराशि और अव्यवहारराशि, ये दो भेद वनस्पति के किए गये हैं और निगोद के जीवों के स्वरूप का वर्णन है। माता मरुदेवी का जीव अनादि काल से वनस्पति में था; इसका उल्लेख टीका में किया गया है।[१७१]

इस पद में अनेक ज्ञातव्य विषयों पर चर्चा की गई है। टीकाकार मलयगिरि ने मूल सूत्र में आई हुई अनेक बातों का स्पष्टीकरण टीका में किया है।

---

१७०. जल्लेसाइं दव्वाइं आयइत्ता कालं करेइ, तल्लेसेसु उववज्जइ।

१७१. प्रज्ञापना टीका पत्र ३७९।३८५

उन्नीसवाँ सम्यक्त्वपद है। इसमें जीवों के चौवीस दण्डकों में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के सम्बन्ध में विचार करते हुए बताया है कि सम्यग्-मिथ्यादृष्टि केवल पंचेन्द्रिय होता है और एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि ही होता है। द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते। षट्खण्डागम में असंज्ञी पंचेन्द्रिय को मिथ्यादृष्टि ही कहा है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक होते हैं। सम्यक्त्व से तात्पर्य है—व्यवहार से जीवादि का श्रद्धान और निश्चय से आत्मा का श्रद्धान है।[१७२] जीव-अजीव आदि नौ पदार्थ हैं। इस प्रकार उन परमार्थभूत पदार्थों के सद्भाव का उपदेश से अथवा निसर्ग से होने वाले श्रद्धान को सम्यक्त्व जानना चाहिये।[१७३]

अन्तक्रिया : एक चिन्तन

बीसवें पद का नाम अन्तक्रिया है। मृत्यु होने पर जीव का स्थूल शरीर यहीं पर रह जाता है पर तैजस और कार्मण, जो सूक्ष्म शरीर हैं, उसके साथ रहते हैं। कार्मणशरीर के द्वारा ही फिर स्थूल शरीर निष्पन्न होता है। अतः स्थूल शरीर के एक बार छूट जाने के बाद भी सूक्ष्म शरीर रहने के कारण जन्म-मरण की परम्परा का अन्त नहीं होता। जब सूक्ष्म शरीर नष्ट हो जाते हैं तो भवपरम्परा का भी अन्त हो जाता है। अन्तक्रिया का अर्थ है जन्म-मरण की परम्परा का अन्त करना। भव का अन्त करने वाली क्रिया अन्तक्रिया है। यह क्रिया दो अर्थों में व्यवहृत हुई है—नवीन भव अथवा मोक्ष, दूसरे शब्दों में यहाँ पर मोक्ष और मरण इन दोनों अर्थों में अन्तक्रिया शब्द का प्रयोग हुआ है। स्थानांग में भरत, गजसुकुमाल, सनत्कुमार और माता मरुदेवी की जो अन्तक्रिया बताई गई है, वह जन्म-मरण का अन्त कर मोक्ष प्राप्त करने की क्रिया है। वे आत्मा एवं शरीर आदि से उत्पन्न क्रियाओं का अन्त कर अक्रिय बन गए।[१७४] प्रस्तुत पद में अन्तक्रिया का विचार जीवों के नरक आदि चौवीस दण्डकों में किया गया है। यह भी बताया है कि सिर्फ मानव ही अन्तक्रिया यानी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। इसका वर्णन दस द्वारों के द्वारा किया गया है।

इक्कीसवाँ 'अवगाहनासंस्थानपद है। इस पद में जीवों के शरीर के भेद, संस्थान-आकृति, प्रमाण-शरीर का माप, शरीरनिर्माण के लिए पुद्गलों का चयन, जीव में एक साथ कौनसे शरीर होते हैं? शरीरों के द्रव्यों और प्रदेशों का अल्प-बहुत्व और अवगाहना का अल्प-बहुत्व इन सात द्वारों से शरीर के सम्बन्ध में विचारणा की गई है। गति आदि अनेक द्वारों से पूर्व में जीवों की विचारणा हुई है पर उनमें शरीरद्वार नहीं है। यहाँ पर प्रथम विधिद्वार में शरीर के पांच भेदों—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण का वर्णन करने के पश्चात् औदारिक आदि शरीरों के भेदों की चर्चा है। औदारिकशरीरधारी एकेन्द्रिय आदि में कौनसा संस्थान है, उनकी अवगाहना कितनी है? एक जीव में एक साथ कितने-कितने शरीर सम्भव हैं? शरीर के द्रव्य-प्रदेशों का अल्पबहुत्व, शरीर की अवगाहना का अल्पबहुत्व आदि के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा है।

---

१७२. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥ —दर्शनप्राभृत, २०

१७३. जीवाऽजीवा य बंधो य, पुन्न-पावाऽऽसवो तहा।
संवरो णिज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव॥
तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥ —उत्तराध्ययन २८।१४-१५

१७४. स्थानांग, स्थान ४।१

क्रिया : एक चिन्तन

बाईसवाँ क्रियापद है। प्राचीन युग में सुकृत-दुष्कृत, पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल कर्म के लिए क्रिया शब्द व्यवहृत होता था और क्रिया करने वालों के लिए क्रियावादी शब्द का प्रयोग किया जाता था। आगम व पाली-पिटकों में प्रस्तुत अर्थ में क्रिया का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है।[१७६] प्रस्तुत पद में क्रिया-कर्म की विचारणा की गई है। कर्म अर्थात् वासना या संस्कार, जिनके कारण पुनर्जन्म होता है। जब हम आत्मा के जन्म-जन्मान्तर की कल्पना करते हैं तब उसके कारण-रूप कर्म की विचारणा अनिवार्य हो जाती है। महावीर और बुद्ध के समय क्रियावाद शब्द कर्म को मानने वालों के लिए प्रचलित था। इसलिए क्रियावाद और कर्मवाद दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हो गए थे। उसके बाद कालक्रम से क्रियावाद शब्द के स्थान पर कर्मवाद ही प्रचलित हो गया। इसका एक कारण यह भी है कर्म-विचार की सूक्ष्मता ज्यों-ज्यों बढ़ती गई त्यों-त्यों वह क्रिया-विचार से दूर भी होता गया। यह क्रियाविचार कर्मविचार की पूर्वभूमिका के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है। प्रज्ञापना में क्रियापद, सूत्रकृताङ्ग में क्रियास्थान[१७७] और भगवती[१७८] में अनेक प्रसंगों पर क्रिया और क्रियावाद की चर्चा की गई है। इससे ज्ञात होता है उस समय क्रिया की चर्चा का कितना महत्त्व था।

प्रस्तुत पद में विभिन्न दृष्टियों से क्रिया पर चिन्तन है। क्रिया का सामान्य अर्थ प्रवृत्ति है, पर यहाँ विशेष प्रवृत्ति के अर्थ में क्रिया शब्द व्यवहृत हुआ है। क्योंकि विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें क्रियाकारित्व न हो। वस्तु वही है जिसमें अर्थ-क्रिया की क्षमता हो, जिसमें अर्थ-क्रिया की क्षमता नहीं वह अवस्तु है। इसलिए हर एक वस्तु में प्रवृत्ति तो है ही पर यहाँ विशेष प्रवृत्ति को लेकर ही क्रिया शब्द का प्रयोग हुआ है। क्रिया के कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी, प्राणातिपातकी, ये पांच प्रकार बताए हैं। क्रिया के जो ये पांच विभाग किए गए हैं वे हिंसा और अहिंसा को लक्ष्य में रखकर किए गए हैं। इन पांचों क्रियाओं में अठारह पापस्थान-प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान आदि समाविष्ट हो जाते हैं। तीसरे रूप में क्रिया के पांच प्रकार इस प्रकार बताए हैं—आरंभिया, पारिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खानक्रिया तथा मिच्छादंसणवत्तिया। ये पांच क्रियाएं भी अठारह पापस्थानों में समाविष्ट हो जाती हैं। यहाँ पर किसके द्वारा कौनसी क्रिया होती है, यह भी बताया है। उदाहरण के रूप में—प्राणातिपात से होने वाली क्रिया षट्जीवनिकाय के सम्बन्ध में होती है। नरक आदि चौवीस दण्डकों के जीव छह प्रकार का प्राणातिपात करते हैं। मृषावाद सभी द्रव्यों के सम्बन्ध में किया जाता है। जो द्रव्य ग्रहण किया जाता है उसके सम्बन्ध में अदत्तादान होता है। रूप और रूप वाले द्रव्यों के सम्बन्ध में मैथुन होता है। परिग्रह सर्वद्रव्यों के विषय में होता है। प्राणातिपात आदि क्रियाओं के द्वारा कर्म की कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है, इस संबन्ध में भी चर्चा-विचारणा की गई है।

स्थानांग[१७९] में विस्तार के साथ क्रियाओं के भेद-प्रभेदों की चर्चाएं हैं। वहाँ जीवक्रिया, अजीवक्रिया और फिर उनके भेद, उपभेद—कुल बहत्तर कहे गए हैं। सूत्रकृताङ्ग[१८०] में तेरह क्रियास्थान बताए हैं तो

---

१७६. दीघनिकाय सामञ्जफलसुत्त

१७७. सूत्रकृताङ्ग १।१२।१

१७८. भगवती ३०-१

१७९. स्थानाङ्ग, पहला स्थान, सूत्र ४ : द्वितीय स्थान, सूत्र २-३७

१८०. सूत्रकृताङ्ग २।२।२

तत्त्वार्थसूत्र[181] में पच्चीस क्रियाओं का निर्देश है। भगवती[182] में भी अनेक स्थलों में क्रियाओं का वर्णन मिलता है। उन सभी के साथ प्रज्ञापना के प्रस्तुत क्रियापद की तुलना सहज रूप से की जा सकती है, पर विस्तारभय से हम यहाँ तुलना नहीं दे रहे हैं।

कर्मसिद्धान्त : एक चिन्तन

तेईस से लेकर सत्ताईसवें पद तक के कर्मप्रकृति, कर्मवन्ध, कर्मवन्ध-वेद, कर्मवेद-वन्ध, कर्मवेदवेदक, इन पांच पदों में कर्म सम्वन्धी विचारणा की गई है। कर्मसिद्धान्त भारतीय चिन्तकों के चिन्तन का नवनीत है। वस्तुतः आस्तिक दर्शनों का भव्य-भवन कर्मसिद्धान्त पर ही आधृत है। भले ही कर्म के स्वरूप-निर्णय के सम्वन्ध में मतैक्य न हो, पर सभी चिन्तकों ने आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए कर्म-मुक्ति आवश्यक मानी है। यही कारण है कि सभी दर्शनिकों ने कर्म के सम्बन्ध में चिंतन किया है। परन्तु जैनदर्शन का कर्म संबंधी चिन्तन वहुत ही सूक्ष्मता को लिए हुए है। इस विराट् विश्व में विविध प्रकार के प्राणियों में जो विषमताएँ दृग्गोचर होती हैं, उनका मूल कर्म है।

जैनदर्शन ने कर्म को केवल संस्कारमात्र ही नहीं माना अपितु वह एक वस्तुभूत पदार्थ है जो राग-द्वेष की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ वँध जाता है। वे पदार्थ जीवप्रदेश के क्षेत्र में स्थित, सूक्ष्म, कर्म-प्रायोग्य अनन्तानन्त परमाणुओं से वने होते हैं। आत्मा अपने सभी प्रदेशों—सर्वांग से कर्मों को आकृष्ट करता है। वे कर्मस्कन्ध ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय प्रभृति विभिन्न प्रकृतियों या रूपों में परिणत होते हैं। प्रत्येक आत्मप्रदेश पर अनन्तानन्त कर्मपुद्गलस्कन्ध चिपके रहते हैं।

राग-द्वेषमय आत्म-परिणति भावकर्म है और उससे आकृष्ट-संश्लिष्ट होने वाले पुद्गल द्रव्यकर्म हैं। कार्मणवर्गणा, जो पुद्गलद्रव्य का एक प्रकार है, सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है। वह कार्मणवर्गणा ही जीव के भावों का निमित्त पाकर कर्म रूप में परिणत होती है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि आत्मा अमूर्त और कर्मद्रव्य मूर्त है तो अमूर्त्त के साथ मूर्त्त का वन्ध कैसे संभव है? समाधान इस प्रकार है—जैनदर्शन ने जीव और कर्म को प्रवाह की दृष्टि से अनादि माना है। उसका यह मंतव्य नहीं है कि जीव पहले पूर्ण शुद्ध था, उसके पश्चात् कर्मों से आवद्ध हुआ। जो जीव संसार में अवस्थित है, जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ है, उसके प्रतिपल-प्रतिक्षण राग-द्वेषरूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों के फलस्वरूप निरन्तर-सतत कर्म वँधते रहते हैं। उन कर्मों के वन्ध से उसे विविध गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने पर शरीर होता है, शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं और इन्द्रियों से वह आत्मा विषय ग्रहण करता है। विषयों को ग्रहण करने से राग-द्वेष के भाव उद्‌वुद्ध होते है। इस प्रकार भावों से कर्म और कर्मो से भाव समुत्पन्न होते रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि जो जीव मूर्त्त कर्मो से बँधा हुआ है अर्थात् स्वरूपतः अमूर्त्त होने पर भी कर्मवद्ध होने से मूर्त्त वना हुआ है, उसी के नूतन कर्म वँधते हैं। इस तरह मूर्त्त का मूर्त्त के साथ संयोग होता है और मूर्त्त का मूर्त्त के साथ वन्ध भी होता है। आत्मा में अवस्थित पुराने कर्मों के कारण ही नूतन कर्म वँधते हैं।

आत्मा के साथ कर्मवन्ध की प्रक्रिया चार प्रकार की है—प्रकृतिवन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभागवन्ध, और प्रदेशवन्ध। जव आत्मा कर्मपुद्‌गलों को ग्रहण करता है, उस समय वे पुद्‌गल एकरूपी होते हैं। परन्तु वन्धकाल में वे *विभिन्न* प्रकृतियों-स्वभाव वाले हो जाते हैं। यह प्रकृतिवन्ध कहलाता है। वद्ध कर्मों में समय की मर्यादा

---

१८१. अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः। —तत्त्वार्थसूत्र ६।६

१८२. भगवती शतक १, उद्देशक २; शतक ८, उद्देशक ४; शतक ३, उद्देशक ३

का होना स्थितिबन्ध है। आत्मपरिणामों की तीव्रता और मंदता के कारण कर्मफल में तीव्रता या मंदता होना अनुभागवन्ध है और कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक होना प्रदेशवन्ध है। योग के कारण प्रकृति और प्रदेशवन्ध होता है और कषाय के कारण स्थिति और अनुभागवन्ध होता है।

प्रस्तुत पदों में विभिन्न प्रकृतियों के आधार पर कर्म के मूल आठ भेद कहे गए हैं। कर्म की आठों मूल प्रकृतियाँ नैरयिक आदि सभी जीवों में होती है। ज्ञानावरण आदि कर्मों के वन्ध का मूल कारण राग और द्वेष है। राग में माया और लोभ का तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश किया गया है। कर्मों के वेदन—अनुभव के सम्बन्ध में वताते हुए कहा है—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म तो चौवीसों दण्डकों के जीव वेदते ही हैं परन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों को कोई जीव वेदते भी हैं और नहीं भी वेदते। यहाँ पर वेदना के लिए 'अनुभाव' शब्द का प्रयोग किया गया है।

आहार : एक चिन्तन

अट्ठाईसवें पद का नाम आहारपद है। इसमें जीवों की आहार संबंधी विचारणा दो उद्देशकों द्वारा की गई है। प्रथम उद्देशक में ग्यारह द्वारों से और दूसरे उद्देशक में तेरह द्वारों से आहार के सम्बन्ध में विचार किया गया है। चौवीस दण्डकों में जीवों का आहार सचित्त होता है, अचित्त होता है या मिश्र होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि वैक्रियशरीरधारी जीवों का आहार अचित्त ही होता है परन्तु औदारिक-शरीरधारी जीव तीनों प्रकार का आहार ग्रहण करते हैं। नारकादि चौवीस दण्डकों में सात द्वारों से अर्थात् नारक आदि जीव आहारार्थी हैं या नहीं ? कितने समय के पश्चात् वे आहारार्थी होते हैं ? आहार में वे क्या लेते हैं ? सभी दिशाओं में से आहार ग्रहण कर क्या सम्पूर्ण आहार को परिणत करते हैं ? जो आहार के पुद्गल वे लेते हैं, वे सर्वभाव से लेते हैं या अमुक भाग का ही आहार लेते हैं ? क्या ग्रहण किए हुए सभी पुद्गलों का आहार करते हैं ? आहार में लिए हुए पुद्गलों का क्या होता है ? इन सात द्वारों से आहार सम्बन्धी विचारणा की गई है। जीव जो आहारार्थी आहार लेते हैं वह आभोगनिर्वर्तित—स्वयं की इच्छा होने पर आहार लेना और अनाभोगनिर्वर्तित—विना इच्छा के आहार लेना, इस तरह दो प्रकार का है। इच्छा होने पर आहार लेने में जीवों की भिन्न-भिन्न कालस्थिति है परन्तु विना इच्छा लिया जाने वाला आहार निरंतर लिया जाता है। वर्ण-रस आदि से सम्पन्न अनन्त प्रदेशी स्कन्ध वाला और असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र में अवगाढ और आत्मप्रदेशों से स्पृष्ट ऐसे पुद्गल ही आहार के लिए उपयोगी होते हैं।

प्रस्तुत पद के दूसरे उद्देशक में आहार, भव्य, संज्ञी, लेश्या, दृष्टि, संयत, कषाय, ज्ञान, योग, उपयोग, वेद, शरीर, और पर्याप्ति इन तेरह द्वारों के माध्यम से जीवों के आहारक और अनाहारक विकल्पों की चर्चा की गई है। प्रथम उद्देशक में जो आहार के भेदों की चर्चा है, उसकी यहाँ पर कोई चर्चा नहीं है। आहारक और अनाहारक इन दो पदों के आधार से छह भंगों की रचना की है और किन-किन जीवों में कितने भंग (विकल्प) प्राप्त होते हैं, इस सम्वन्ध में चिंतन किया गया है।

आचार्य मलयगिरि ने तीसरे संज्ञी द्वार में यह प्रश्न उत्पन्न किया है कि संज्ञी का अर्थ समनस्क हैं। जब जीव विग्रहगति करता है उस समय जीव अनाहारक होता है। विग्रहगति में मन नहीं होता। फिर उन्हें संज्ञी कैसे कहा ? आचार्य ने इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया है—जव जीव विग्रहगति करता है तव वह संज्ञी जीव सम्वन्धी आयुकर्म का वेदन करता है, इस कारण उसे संज्ञी कहा है, भले ही उस समय उसके

मन न हो। दूसरा प्रश्न यह है—नारक, भवनपति और वाणव्यन्तर को असंज्ञी क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि इन तीनों में असंज्ञी जीव उत्पन्न होता है, इस अपेक्षा से उन्हें असंज्ञी कहा है।

उपयोग और पश्यत्ता

उनतीसवें, तीसवें और तेतीसवें, इन तीन पदों में क्रमशः उपयोग, पश्यत्ता और अवधि की चर्चा है। प्रज्ञापनासूत्र में जीवों के बोध-व्यापार अथवा ज्ञान-व्यापार के सम्बन्ध में इन पदों में चर्चा-विचारणा की गई है, अतएव हमने यहाँ पर तीनों को एक साथ लिया है।

जैन दृष्टि से आत्मा विज्ञाता है,[१८३] उसमें न रूप है, न रस है, न गन्ध है। वह अरूपी है, लोक-प्रमाण असंख्यप्रदेशी है, नित्य है, उपयोग उसका विशिष्ट गुण है।[१८४]संख्या की दृष्टि से वह अनन्त है। उपयोग—यह आत्मा का लक्षण भी है और गुण भी,[१८५] उपयोग में अवधि का समावेश होने पर भी इसके लिए अलग पद देने का कारण यह है कि उस काल में अवधि का विशेष विचार हुआ था। प्रस्तुत पद में उपयोग के और पश्यत्ता के दो दो भेद किये हैं—साकारोपयोग (ज्ञान) और अनाकारोपयोग (दर्शन), साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता।

आचार्य अभयदेव ने पश्यत्ता को उपयोग-विशेष ही कहा है। अधिक स्पष्टीकरण करते हुए यह भी बताया है कि जिस बोध में केवल त्रैकालिक अवबोध होता हो वह पश्यत्ता है परन्तु जिस बोध में वर्तमानकालिक बोध होता है वह उपयोग है। यही कारण है कि मतिज्ञान और मति-अज्ञान को साकारपश्यत्ता के भेदों में नहीं लिया है; क्योंकि मतिज्ञान और मति-अज्ञान का विषय वर्तमान काल में जो पदार्थ है वह बनता है। अनाकार-पश्यत्ता में अचक्षुदर्शन क्यों नहीं लिया गया है ? इस प्रश्न का समाधान आचार्य ने इस प्रकार किया है कि पश्यत्ता प्रकृष्ट ईक्षण है और प्रेक्षण तो केवल चक्षुदर्शन में ही संभव है, अन्य इन्द्रियों द्वारा होने वाले दर्शन में नहीं। अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षु का उपयोग स्वल्पकालीन होता है और जहाँ पर स्वल्पकालीन उपयोग होता है वहाँ बोधक्रिया में अत्यन्त शीघ्रता होती है। यही इस प्रकृष्टता का कारण है।[१८६]

आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि पश्यत्ता शब्द रूढि के कारण उपयोग शब्द की तरह साकार और अनाकार बोध का प्रतिपादन करने वाला है, तथापि यह समझना आवश्यक है कि जहाँ पर लम्बे समय तक उपयोग होता है वहीं पर तीनों काल का बोध सम्भव है। मतिज्ञान में दीर्घकाल का उपयोग नहीं है। इसलिए उसमें त्रैकालिक बोध नहीं होता, जिससे उसे पश्यत्ता में स्थान नहीं दिया गया है।[१८७] यही है उपयोग और पश्यत्ता में अन्तर।

उपयोग और पश्यत्ता इन दोनों की प्ररूपणा जीवों के चौबीस दण्डकों में निर्दिष्ट की गई है। वस्तुतः इनमें विशेष कोई अन्तर नहीं है। पश्यत्तापद में केवलज्ञानी का ज्ञान और दर्शन का उपयोग युगपत् है या क्रमशः इस सम्बन्ध में भी चर्चा में करते हुए तर्क दिया है कि ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार। इसलिए एक ही समय में दोनों उपयोग कैसे हो सकते हैं ? साकार का अर्थ सविकल्प है और अनाकार का अर्थ निर्विकल्प। जो

---

१८३. आचारांग ५।५ सूत्र १६५
१८४. आचारांग ५।६ सूत्र १७०-१७१
१८५. गुणओ उवओगगुणे। —भगवती २।१०।११८
१८६, भगवती सूत्र, अभयदेववृत्ति पृष्ठ ७१४
१८७. प्रज्ञापना, मलयगिरि वृत्ति पृष्ठ ७३०

उपयोग वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करता है वह सविकल्प है और जो उपयोग सामान्य अंश को ग्रहण करता है वह निर्विकल्प है।[१८८]

ज्ञान दर्शन : एक चिन्तन

ज्ञान और दर्शन की मान्यता जैन-साहित्य में अत्यधिक प्राचीन है। ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म का नाम ज्ञानावरण है और दर्शन को आच्छादित करने वाला कर्म दर्शनावरण है। इन कर्मों के क्षय अथवा क्षयोपशम से ज्ञान और दर्शन गुण प्रकट होते हैं। आगम-साहित्य में यत्र-तत्र ज्ञान के लिए 'जाणइ' और दर्शन के लिए 'पासइ' शब्द व्यवहृत हुआ है।

दिगम्वर आचार्यों का यह अभिमत रहा है कि वहिर्मुख उपयोग ज्ञान है और अन्तर्मुख उपयोग दर्शन है। आचार्य वीरसेन षट्खण्डागम की धवलाटीका में लिखते हैं कि सामान्य—विशेषात्मक वाह्यार्थ का ग्रहण ज्ञान है और तदात्मक आत्मा का ग्रहण दर्शन है।[१८९] दर्शन और ज्ञान में यही अन्तर है कि दर्शन सामान्य-विशेपात्मक आत्मा का उपयोग है—स्वरूप-दर्शन है, जवकि ज्ञान आत्मा से इतर प्रमेय का ग्रहण करता है। जिनका यह मन्तव्य है कि सामान्य का ग्रहण दर्शन है और विशेष का ग्रहण ज्ञान है, वे प्रस्तुत मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान के विषय से अनभिज्ञ हैं। सामान्य और विशेष ये दोनों पदार्थ के धर्म हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व नहीं है। केवल सामान्य और केवल विशेष का ग्रहण करने वाला ज्ञान अप्रमाण है। इसी तरह विशेप व्यतिरिक्त सामान्य का ग्रहण करने वाला दर्शन मिथ्या है।[१९०] प्रस्तुत मत का प्रतिपादन करते हुए द्रव्य-संग्रह की वृत्ति में ब्रह्मदेव ने लिखा है—ज्ञान और दर्शन का दो दृष्टियों से चिन्तन करना चाहिये—तर्कदृष्टि से और सिद्धान्तदृष्टि से। दर्शन को सामान्यग्राही मानना तर्कदृष्टि से उचित है किन्तु सिद्धान्तदृष्टि से आत्मा का सही उपयोग दर्शन है और वाह्य अर्थ का ग्रहण ज्ञान है।[१९१] व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान और दर्शन में भिन्नता है पर नैश्चयिक दृष्टि से ज्ञान और दर्शन में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है।[१९२] सामान्य और विशेष के आधार से ज्ञान और दर्शन का जो भेद किया गया है उसका निराकरण अन्य प्रकार से भी किया गया है। यह अन्य दार्शनिकों को समझाने के लिए सामान्य और विशेप का प्रयोग किया गया है किन्तु जो जैन तत्त्वज्ञान के ज्ञाता हैं उनके लिए आगमिक व्याख्यान ही ग्राह्य है। शास्त्रीय परम्परा के अनुसार आत्मा और इतर का भेद ही वस्तुतः सारपूर्ण है।[१९३]

उल्लिखित विचारधारा को मानने वाले आचार्यों की संख्या अधिक नहीं है, अधिकांशतः दार्शनिक आचार्यों ने साकार और अनाकार के भेद को स्वीकार किया है। दर्शन को सामान्यग्राही मानने का तात्पर्य इतना ही है कि उस उपयोग में सामान्य धर्म प्रतिविम्वित होता है और ज्ञानोपयोग में विशेप धर्म झलकता है। वस्तु में दोनों धर्म हैं पर उपयोग किसी एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण कर पाता है। उपयोग में सामान्य और विशेष का भेद होता है किन्तु वस्तु में नहीं।

---

१८८. तत्त्वार्थसूत्र भाष्य १।९
१८९. षट्खण्डागम, धवला टीका १।१।४
१९०. षट्खण्डागम, धवला वृत्ति १।१।४
१९१. द्रव्यसंग्रहवृत्ति गाथा ४४
१९२. द्रव्यसंग्रहवृत्ति गाथा ४४
१९३. द्रव्यसंग्रहवृत्ति गाथा ४४

काल की दृष्टि से दर्शन और ज्ञान का क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न पर भी चिन्तन करना आवश्यक है। छद्मस्थों के लिए सभी आचार्यों का एक मत है कि छद्मस्थों को दर्शन और ज्ञान क्रमशः होता है, युगपद् नहीं। केवली में दर्शन और ज्ञान का उपयोग किस प्रकार होता है, इस सम्बन्ध में आचार्यों के तीन मत हैं। प्रथम मत के अनुसार ज्ञान और दर्शन क्रमशः होते हैं। द्वितीय मान्यता के अनुसार दर्शन और ज्ञान युगपद् होते हैं। तृतीय मान्यतानुसार ज्ञान और दर्शन में अभेद है अर्थात् दोनों एक हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति,[१९४] विशेषावश्यकभाष्य[१९५] आदि में भी कहा गया है कि केवली के भी दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते। श्वेताम्बर परम्परा के आगम इस सम्बन्ध में एक मत हैं, वे केवली के दर्शन और ज्ञान को युगपत् नहीं मानते।[१९६]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवलदर्शन और केवलज्ञान युगपत् होते हैं।[१९७] आचार्य उमास्वाति का भी यही अभिमत रहा है। मति-श्रुत आदि का उपयोग क्रम से होता है, युगपत् नहीं। केवली में दर्शन और ज्ञानात्मक उपयोग प्रत्येक क्षण में युगपत् होता है।[१९८] नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट लिखा है कि जैसे सूर्य में प्रकाश और आतप एक साथ रहता है उसी प्रकार केवली में दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं।[१९९]

तीसरी परम्परा चतुर्थ शताब्दी के महान् दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की है। उन्होंने सन्मति-तर्कप्रकरण ग्रन्थ में लिखा है—मनःपर्याय तक तो ज्ञान और दर्शन का भेद सिद्ध कर सकते हैं किन्तु केवलज्ञान-केवलदर्शन में भेद सिद्ध करना संभव नहीं।[२००] दर्शनावरण और ज्ञानावरण का क्षय युगपत् होता है। उस क्षय से होने वाले उपयोग में 'यह प्रथम होता है, यह बाद में होता है' इस प्रकार का भेद किस प्रकार से किया जा सकता है ?[२०१] कैवल्य की प्राप्ति जिस समय होती है उस समय सर्वप्रथम मोहनीयकर्म का क्षय होता है। उसके पश्चात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण तथा अन्तराय का युगपत् क्षय होता है। जब दर्शनावरण और ज्ञानावरण दोनों के क्षय में काल का भेद नहीं है, तब यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम केवलदर्शन होता है, बाद में केवलज्ञान। इस समस्या के समाधान के लिए कोई यह मानें कि दोनों का युगपत् सद्भाव है तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते। इस समस्या का सबसे सरल और तर्कसंगत समाधान यह है कि केवली अवस्था में दर्शन और ज्ञान में भेद नहीं होता। दर्शन और ज्ञान को पृथक्-पृथक् मानने से एक समस्या और उत्पन्न होती है कि यदि केवली एक ही क्षण में सभी कुछ जान लेता है तो उसे सदा के लिए सब कुछ जानते रहना चाहिए। यदि उसका ज्ञान सदा पूर्ण नहीं है तो वह सर्वज्ञ कैसा ?[२०२]

---

१९४. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ९७७-९७९
१९५. विशेषावश्यकभाष्य गाथा ३०८८-३१३५
१९६. भगवती सूत्र १८/८ तथा भगवती, शतक १४, उद्देशक १०
१९७. गोम्मटसार, जीवकाण्ड ७३० और द्रव्यसंग्रह ४४
१९८. तत्त्वार्थसूत्र भाष्य १/३१
१९९. नियमसार, गाथा १५९
२००. सन्मति. प्रकरण २/३
२०१. सन्मति. प्रकरण २/९
२०२. सन्मति. प्रकरण २/१०

यदि उसका ज्ञान सदा पूर्ण है तो क्रम और अक्रम का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वह सदा एकरूप है। वहाँ पर दर्शन और ज्ञान में किसी भी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है। ज्ञान सविकल्प है और दर्शन निर्विकल्प है, इस प्रकार का भेद आवरण रूप कर्म के क्षय के पश्चात् नहीं रहता।[२०३] जहाँ पर उपयोग की अपूर्णता है वहीं पर सविकल्पक और निर्विकल्पक का भेद होता है। पूर्ण उपयोग होने पर किसी प्रकार का भेद नहीं होता। एक समस्या और है, और वह यह है कि ज्ञान हमेशा दर्शनपूर्वक होता है किन्तु दर्शन ज्ञानपूर्वक नहीं होता।[२०४] केवली को एक वार जब सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब फिर दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शन ज्ञानपूर्वक नहीं होता। एतदर्थ ज्ञान और दर्शन का क्रमभाव नहीं घट सकता।

दिगम्बरपरम्परा में केवल युगपत् पक्ष ही मान्य रहा है। श्वेताम्बरपरम्परा में इसकी क्रम, युगपत् और अभेद ये तीन धाराएँ बनीं। इन तीनों धाराओं का विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के महान् तार्किक यशोविजयजी ने नई दृष्टि से समन्वय किया है।[२०५] ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से क्रमिक पक्ष संगत है। यह दृष्टि वर्तमान समय को ग्रहण करती है। प्रथम समय का ज्ञान कारण है और द्वितीय समय का दर्शन उसका कार्य है। ज्ञान और दर्शन में कारण और कार्य का क्रम है। व्यवहारनय भेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से युगपत् पक्ष भी संगत हैं। संग्रहनय अभेदस्पर्शी है, उसकी दृष्टि से अभेद पक्ष भी संगत है। तर्कदृष्टि से देखने पर इन तीन धाराओं में अभेद पक्ष अधिक युक्तिसंगत लगता है।

दूसरा दृष्टिकोण आगमिक है। उसका प्रतिपादन स्वभावस्पर्शी है। प्रथम समय में वस्तुगत भिन्नताओं को जानना और दूसरे समय में भिन्नतागत अभिन्नता को जानना स्वभावसिद्ध है। ज्ञान का स्वभाव ही इस प्रकार का है कि भेद में अभेद और अभेद में भेद समाया हुआ है, तथापि भेदप्रधान ज्ञान और अभेदप्रधान दर्शन का समय एक नहीं होता।[२०६]

प्रज्ञापना में उपयोग और पश्यत्ता के सम्बन्ध में अन्य चर्चा नहीं है। अवधिपद में अवधिज्ञान के सम्बन्ध में भेद, विषय, संस्थान, आभ्यन्तर और बाह्य अवधि, देशावधि, अवधि की क्षय-वृद्धि, प्रतिपाति और अप्रतिपाति-इन सात विषयों की विस्तृत चर्चा है। अवधिज्ञान के दो भेद हैं—एक तो जन्म से प्राप्त होता है, दूसरा कर्म के क्षयोपशम से। देवों नारकों में जन्म से ही अवधिज्ञान होता है किन्तु मनुष्यों और तिर्यंच पंचेन्द्रियों का अवधिज्ञान क्षयोपशमिक है। यद्यपि दोनों प्रकार के ज्ञान क्षयोपशमजन्य ही हैं तथापि देव-नारकों को वह क्षयोपशम भव के निमित्त से होता है और मनुष्यों एवं तिर्यंचों को तपोनुष्ठान आदि बाह्य निमित्तों से होता है। अवधिज्ञान किसमें कितना होता है इसकी भी विस्तृत चर्चा है। परमावधिज्ञान केवल मनुष्य में ही होता है। प्रज्ञापना के मूल पाठ में अवधिज्ञान का निरूपण तो है पर परिभाषा नहीं दी है। अवधिज्ञान का तात्पर्य यह है—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही आत्मा से जो रूपी पदार्थ का सीमित ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है।

---

२०३. सन्मति. प्रकरण, २/११

२०४. सन्मति. प्रकरण, २/२२

२०५. ज्ञानबिन्दु, पृष्ठ १५४-१६४

२०६. (क) विशेष विवरण के लिए देखिए धर्मसंग्रहणी गाथा १३३६-१३५९

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, सिद्धसेन गणी टीका, अध्याय १, सू ३१, पृ. ७७/१

(ग) नन्दीसूत्र, मलयगिरि वृत्ति पृ. १३४-१३८

संज्ञा : एक चिन्तन

इकतीसवें संज्ञीपद में सिद्धों सहित सम्पूर्ण जीवों को संज्ञी, असंज्ञी और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी इन तीन भेदों में विभक्त करके विचार किया गया है। सिद्ध न तो संज्ञी हैं और न असंज्ञी, इसलिए उनको नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहा है। मनुष्य में भी जो केवली हैं वे भी सिद्ध समान हैं और इसी संज्ञा वाले हैं। क्योंकि मन होने पर भी वे उसके व्यापार से ज्ञान प्राप्त नहीं करते। जीव संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के हैं। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी ही होते हैं। नारक, भवनपति, वाणव्यंतर और पंचेन्द्रिय तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के हैं। ज्योतिष्क और वैमानिक सिर्फ संज्ञी हैं।

यहाँ पर संज्ञा का क्या अर्थ लेना चाहिए? यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि मनुष्यों, नारकों, भवनपतियों और वाणव्यंतर देवों को असंज्ञी कहा है। इसलिए जिसके मन होता है वह संज्ञी है, यह अर्थ यहाँ पर घटित नहीं होता। अतएव आचार्य मलयगिरि ने संज्ञा शब्द के दो अर्थ किए हैं, तथापि पूरा समाधान नहीं हो पाता। नारक, भवनपति, वाणव्यंतर आदि को संज्ञी और असंज्ञी कहा है, वे जीव पूर्व भव में संज्ञी और असंज्ञी थे इस दृष्टि से उनको संज्ञी और असंज्ञी कहा है।[२०७]

आगमप्रभावक पुण्यविजय जी महाराज[२०८] का अभिमत है कि यहाँ पर संज्ञी-असंज्ञी शब्द जो आया है वह किस अर्थ का सही द्योतक है? अन्वेषणीय है। संज्ञा शब्द का प्रयोग आगमसाहित्य में विभिन्न अर्थों को लेकर हुआ है। आचारांग में[२०९] संज्ञा शब्द पूर्वभव के जातिस्मरण ज्ञान के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। दशाश्रुत-स्कन्ध[२१०] में दत्तचित्त समाधि का उल्लेख है, वहाँ भी जातिस्मृति के अर्थ में ही 'सण्णिनाणं' शब्द का उपयोग हुआ है। स्थानांग[२११] में प्रथम स्थान में एक संज्ञा का उल्लेख है तो चतुर्थ स्थान में आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा, इन चार संज्ञाओं का उल्लेख है[२१२] तो दसवें स्थान[२१३] में दस संज्ञाओं का वर्णन है, उपर्युक्त चार संज्ञाओं के अतिरिक्त क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक और ओघ इन संज्ञाओं का उल्लेख है।

इस प्रकार संज्ञा के दो अर्थ हैं—प्रत्यभिज्ञान और अनुभूति। इन्ही में मतिज्ञान का एक नाम संज्ञा निर्दिष्ट है।[२१४] तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध, इन्हें एकार्थक माना है।[२१५] मलयगिरि[२१६] और अभयदेव[२१७] दोनों ने संज्ञा का अर्थ व्यंजनावग्रह के पश्चात् होने वाली एक

२०७. प्रज्ञापनासूत्र भाग २, पुण्यविजय जी म. की प्रस्तावना पृष्ठ १४२
२०८. प्रज्ञापना, प्रस्तावना, पृष्ठ १४२
२०९. आचारांग १-१
२१०. दशाश्रुतस्कन्ध, ५ वीं दशा
२११. स्थानांग, प्रथम स्थान, सूत्र ३०
२१२. स्थानांग, चतुर्थ स्थान, सूत्र ३५६
२१३. स्थानांग, दसवां स्थान, सूत्र १०५
२१४. ईहाअपोहवीमंसा, मग्गणा य गवेषणा।
सण्णा सई मई पण्णा, सव्वं आभिणिबोहियं॥ —नंदीसूत्र ५४, गा. ६
२१५. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। —तत्त्वार्थसूत्र १/१३
२१६. संज्ञानं संज्ञा व्यंजनावग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेष इत्यर्थः। —नंदीवृत्ति, पत्र १८७
२१७. संज्ञानं संज्ञा व्यंजनावग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेषः। —स्थानांगवृत्ति, पत्र १९

प्रकार की मति किया है। आचार्य अभयदेव ने दूसरा अर्थ संज्ञा का अनुभूति भी किया है।[218] संज्ञा के जो दस प्रकार स्थानांग में बताए हैं उनमें अनुभूति ही घटित होता है।[219] आचार्य उमास्वाति ने संज्ञी-असंज्ञी का समाधान करते हुए लिखा है कि संज्ञी वह है जो मन वाला है[220] और भाष्य में उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि संज्ञी शब्द से वे ही जीव अभिप्रेत हैं जिनमें संप्रधारण संज्ञा होती है[221] क्योंकि संप्रधारण संज्ञा वाले को ही मन होता है। आहार आदि संज्ञा के कारण जो संज्ञी कहलाते हैं, वे जीव यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं।

बत्तीसवें पद का नाम संयत है। इसमें संयत, असंयत, संयतासंयत और नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयता-संयत इस प्रकार संयम के चार भेदों को लेकर समस्त जीवों का विचार किया गया है। नारक, एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये असंयत होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच असंयत और संयतासंयत होते हैं। मनुष्य में प्रथम के तीन प्रकार होते है और सिद्धों में संयत का चौथा प्रकार नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत है। संयम के आधार से जीवों के विचार करने की पद्धति महत्त्वपूर्ण है।

प्रविचारणा : एक चिन्तन

चौंतीसवें पद का नाम प्रविचारणा है। प्रस्तुत पद में 'पवियारण' (प्रविचारण) शब्द का जो प्रयोग हुआ है उसका मूल 'प्रविचार' शब्द में है।[222] पद के प्रारम्भ में जहाँ द्वारों का निरूपण है वहाँ 'परियारणा' और मूल में 'परियारणया' ऐसा पाठ है। क्रीडा, रति, इन्द्रियों के कामभोग और मैथुन के लिए संस्कृत में प्रविचार अथवा प्रविचारणा और प्राकृत में परियारणा अथवा पवियारणा शब्द का प्रयोग हुआ है। परिचारणा कब, किसको और किस प्रकार की सम्भव है, इस विषय की चर्चा प्रस्तुत पद में २४ दण्डकों के आधार से की गई है। नारकों के सम्बन्ध में कहा है कि वे उपपात क्षेत्र में आकर तुरन्त ही आहार के पुद्गल ग्रहण करना आरम्भ कर देते हैं। इससे उनके शरीर की निष्पत्ति होती है और पुद्गल अंगोपांग, इन्द्रियादि रूप से परिणत होने के पश्चात् वे परिचारण प्रारम्भ करते हैं अर्थात् शब्दादि सभी विषयों का उपभोग करना शुरु करते हैं। परिचारण के बाद विकुर्वणा—अनेक प्रकार के रूप धारण करने की प्रक्रिया करते हैं। देवों में इस क्रम में यह अन्तर है कि उनकी विकुर्वणा करने के बाद परिचारणा होती है। एकेन्द्रिय जीवों में परिचारणा नारक की तरह है किन्तु उसमें विकुर्वणा नहीं है, सिर्फ वायुकाय में विकुर्वणा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में एकेन्द्रिय की तरह, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य में नारक की तरह परिचारणा है।

प्रस्तुत पद में जीवों के आहारग्रहण के दो भेद—आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित—बताकर भी चर्चा की गई। एकेन्द्रिय के अतिरिक्त सभी जीव आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित आहार लेते हैं परन्तु एकेन्द्रिय में सिर्फ अनाभोगनिर्वर्तित आहार ही होता है। जीव अपनी इच्छा से उपयोगपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं। वह आभोगनिर्वर्तित है और इच्छा न होते हुए भी जो लोमाहार आदि के द्वारा सतत आहार का ग्रहण होता रहता है वह अनाभोगनिर्वर्तित है।

---

२१८. आहारभयाद्युपाधिका वा चेतना संज्ञा। —स्थानांग वृत्ति, पत्र ४७

२१९. स्थानांग १०/१०५

२२०. संज्ञिनः समनस्काः। —तत्त्वार्थसूत्र २/२५

२२१. ईहापोहयुक्ता गुणदोषविचारणात्मिका सम्प्रधारणसंज्ञा। —तत्त्वार्थभाष्य २/२५

२२२. (क) कायप्रविचारो नाम मैथुनविषयोपसेवनम् —तत्त्वार्थभाष्य ४-८

(ख) प्रवीचारो मैथुनोपसेवनम्। —सर्वार्थसिद्धि ४-७

आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना की टीका में लिखा है कि एकेन्द्रिय में भी अपटु मन है क्योंकि मनोलब्धि सभी जीवों में है। द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक अपटु मन है तो फिर एकेन्द्रिय में ही अनाभोगनिर्वर्तित आहार कहा है और शेष में क्यों नहीं ? इस प्रश्न का सम्यक् समाधान नहीं है। आगमप्रभावक पुण्यविजय जी महाराज का ऐसा मन्तव्य है कि संभवत: रसेन्द्रिय वाले प्राणी के मुख होता है इसलिए उसे खाने की इच्छा होती है। अतएव उसमें आभोगनिर्वर्तित आहार माना गया हो और जिसमें रसेन्द्रिय का अभाव है उसमें अनाभोगनिर्वर्तित माना हो। इस प्रकरण में आहार ग्रहण करने वाला व्यक्ति आहार के पुद्गलों को जानता है, देखता है और जानता भी नहीं, देखता भी नहीं, आदि विकल्प कर उस पर चिन्तन किया है। अध्यवसाय के सम्बन्ध में भी प्रासंगिक चर्चा की गई है। मुख्य रूप से अध्यवसाय दो प्रकार के होते हैं—एक प्रशस्त दूसरा अप्रशस्त। तरतमता की दृष्टि से उन अध्यवसायों के असंख्यात भेद होते हैं। चौबीसों दण्डकों के जीवों के अध्यवसायों की चर्चा की गई है।

देवों की परिचारणा के सम्बन्ध में चार विकल्प बताए गए हैं—

१. देव	सदेवी	सपरिचार
२. देव	सदेवी	अपरिचार
३. देव	अदेवी	सपरिचार
४, देव	अदेवी	अपरिचार

भवनपति, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क, सौधर्म और ईशान, इनमें देवियां हैं। इसलिए प्रथम विकल्प है। यहाँ पर देव और देवियों में कायिक परिचारणा है। सनत्कुमार से लेकर अच्युत कल्प तक केवल देव ही होते हैं, देवियां नहीं होतीं। तथापि उनमें देवियों के अभाव में भी परिचारणा है। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानों में देव हैं, देवियां नहीं हैं और परिचारणा भी नहीं है। द्वितीय विकल्प देव हैं, देवियां हैं और अपरिचारक हैं यह विकल्प कहीं संभव नही है।

देवी नहीं है तथापि परिचारणा किस प्रकार संभव है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है (१) सनत्-कुमार-माहेन्द्रकल्प में स्पर्शपरिचारणा है (२) ब्रह्मलोक-लान्तक कल्प में रूपपरिचारणा है (३) महाशुक्र-सहस्रार में शब्दपरिचारणा है। (४) आनत-प्राणत-आरण-अच्युत कल्प में मन:परिचारणा है।

कायपरिचारणा में मनुष्य की तरह देव देवी के साथ मैथुन सेवन करता है। देवों में शुक्र के पुद्गल यहाँ बताये हैं और वे शुक्रपुद्गल देवियों में जाकर पांच इन्द्रियों के रूप में परिणत होते हैं। उस शुक्र से गर्भाधान नहीं होता[२२३] क्योंकि देवों में वैक्रिय शरीर है। यह शुक्र वैक्रियवर्गणाओं से निर्मित होता है। जहाँ पर स्पर्श आदि परिचारणा बताई गई है उन देवलोकों में देवियां नहीं होतीं, पर जब उन देवों की इच्छा होती है तब सहस्रार देवलोक तक देवियां विकुर्वणा करके वहाँ उपस्थित होती हैं और देव अनुक्रम से उनके स्पर्श, रूप, शब्द से संतुष्ट होते हैं।[२२४] टीकाकार ने यहाँ स्पष्टीकरण किया है—उन देवों में भी शुक्रविसर्जन होता है अर्थात् देव और देवियों में सम्पर्क नहीं होता तथापि शुक्र-संक्रमण होता है और उसके परिणमन से उनके रूप-लावण्य में वृद्धि होती है।

---

२२३. केवलं ते वैक्रियशरीरान्तर्गता इति न गर्भाधानहेतवः। —प्रज्ञापनावृत्ति पत्र ५५०

२२४. पुद्गलसंक्रमो दिव्यप्रभावादवसेयः। —प्रज्ञापनावृत्ति पत्र ५५१

आनत-प्राणत-आरण-अच्युत कल्प में जब देवों की इच्छा मनःपरिचारणा की होती है तब देवी अपने स्थान पर रहकर ही दिव्य रूप और शृंगार सजाती है और वे देव स्वस्थान पर रहकर ही संतुष्ट होते हैं और देवी भी अपने स्थान पर रहकर ही रूप-लावण्यवती बन जाती है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि कायपरिचारणा की अपेक्षा स्पर्शपरिचारणा में अधिक सुख है, उससे रूपपरिचारणा में अधिक सुख है, उससे शब्दपरिचारणा में अधिक सुख है, उससे मनःपरिचारणा में अधिक सुख है और अपरिचारणा वाले देवों में उससे भी अधिक सुख है। इससे स्पष्ट है कि परिचारणा मे सुख का अभाव है पर प्राणी चारित्रमोहनीय की प्रबलता के कारण उसमें सुख की अनुभूति करता है।[२२५]

वेदना : एक चिन्तन

पैंतीसवाँ पद वेदनापद है। चौबीस दण्डकों में जीवों को अनेक प्रकार की वेदना का जो अनुभव होता है, उसकी विचारणा इस पद में की गई है। वेदना के अनेक प्रकार बताये गये है, जैसे कि (१) शीत, उष्ण, शीतोष्ण (२) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव (३) शारीरिक, मानसिक और उभय (४) साता, असाता, सातासाता (५) दुःखा, सुखा, अदुःखा-असुखा (६) आभ्युपगमिकी, औपक्रमिकी (७) निदा-अनिदा आदि। संज्ञी की वेदना निदा है और असंज्ञी की वेदना को अनिदा कहा है।

शीतोष्ण वेदना के सम्बन्ध में आचार्य मलयगिरि ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि उपयोग क्रमिक है तो फिर शीत और उष्ण इन दोनों का युगपत् अनुभव किस प्रकार हो सकता है? प्रश्न का समाधान करते हुए लिखा है—उपयोग क्रमिक है परन्तु शीघ्र संचारण के कारण अनुभव करते समय क्रम का अनुभव नही होता, इसी कारण आगम में शीतोष्ण वेदना का युगपत् अनुभव कहा है।[२२६] यही बात शारीरिक-मानसिक साता-साता के सम्बन्ध में है।[२२७]

आचार्य मलयगिरि ने अदुःखा-असुखा वेदना का अर्थ सुख-दुःखात्मिका किया है अर्थात् जिसे सुख संज्ञा न दी जा सके, क्योंकि उसमें दुःख का भी अनुभव है। दुःख संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि उसमें सुख का भी अनुभव है।[२२८] साता-असाता तथा सुख औरं दुःख में क्या भेद है? इस प्रश्न का उत्तर भी आचार्य मलयगिरि ने यह दिया है कि वेदनीयकर्म के पुद्गलों का क्रम-प्राप्त उदय होने जो वेदना होती है वह साता-असाता है पर जब कोई दूसरा व्यक्ति कोई उदीरणा करता है उस समय जो साता-असाता का अनुभव होता है वह सुख-दुःख कहलाता है।[२२९]

वेदना के आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी ये दो प्रकार है। अभ्युपगम का अर्थ अंगीकार है। हम कितनी ही बातों को स्वेच्छा से स्वीकार करते है। तपस्या किसी कर्म के उदय से नहीं होती, वह अभ्युपगम के कारण की जाती है। तप में जो वेदना होती है वह आभ्युपगमिकी वेदना है। उपक्रम का अर्थ कर्म की उदीरणा

---

२२५. प्रज्ञापनाटीका, पत्र २५२
२२६. प्रज्ञापनाटीका, पत्र ५५५
२२७. प्रज्ञापनाटीका, पत्र ५५६
२२८. प्रज्ञापनाटीका, पत्र ५५६
२२९. प्रज्ञापनाटीका, पत्र ५५६

का हेतु है। शरीर में जब रोग होता है तो उससे कर्म की उदीरणा होती है इसलिए वह कर्म की उदीरणा का उपक्रम है। उपक्रम के निमित्त से होने वाली वेदना औपक्रमिकी वेदना है।[२३०]

समुद्घात : एक चिन्तन

छत्तीसवें पद का नाम समुद्घातपद है। शरीर से बाहर आत्मप्रदेशों के प्रक्षेप को समुद्घात कहते हैं।[२३१] दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि सम्भूत होकर आत्मप्रदेशों के शरीर से बाहर जाने का नाम समुद्घात है।[२३२] समुद्घात के सात प्रकार बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—१. वेदनासमुद्घात, असातावेदनीय कर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात। २. कषायसमुद्घात, कषायमोहकर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात। ३. मारणान्तिकसमुद्घात, आयुष्य के अन्तर्मुहूर्त्त अवशिष्ट रह जाने पर उसके आश्रित होने वाला समुद्घात। ४. वैक्रियसमुद्घात, वैक्रियनामकर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात। ५. तैजससमुद्घात, तैजसनामकर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात। ६. आहारकसमुद्घात, आहारकनामकर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात। ७. केवलिसमुद्घात, वेदनीय, नाम गोत्र और आयुष्य कर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात।

इन सात समुद्घातों में से किस जीव में कितने समुद्घात पाए जा सकते हैं, इस पर विचार करते हुए लिखा है—नरक में प्रथम चार समुद्घात हैं। देवों में और तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों में प्रथम पाँच समुद्घात हैं। वायु के अतिरिक्त शेष एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में प्रथम तीन समुद्घात हैं। वायुकाय में प्रथम चार समुद्घात हैं। मनुष्य में सातों ही समुद्घात हो सकते हैं। जीवों की दृष्टि से समुद्घात की अपेक्षा से अल्प-बहुत्व पर चिंतन करते हुए बताया है कि जघन्य संख्या आहारकसमुद्घात करने वाले की है और सबसे अधिक संख्या वेदनासमुद्घात करने वाले की है। उनसे अधिक जीव ऐसे हैं जो समुद्घात नहीं करते। इसी तरह दण्डकों के सम्बन्ध में भी अल्पबहुत्व की दृष्टि से चिंतन किया है। कषायसमुद्घात के चार प्रकार किए गये हैं और दण्डकों के आधार पर विचार किया गया है। पूर्व के छहों समुद्घात छाद्मस्थिक हैं। इन समुद्घातों में अव-गाहना और स्पर्श कितने होते हैं तथा कितने काल तक ये रहते हैं? समुद्घात के समय जीव को कितनी क्रियाएँ होती हैं? इन सभी प्रश्नों पर विचार किया है।

केवलिसमुद्घात के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा है। केवलिसमुद्घात करने के पूर्व एक विशेष क्रिया होती है जो शुभ योग रूप होती है। उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उसका कार्य है उदयावलिका में कर्म-दलिकों का निक्षेप करना। यह क्रिया आवर्जीकरण कहलाती है। मोक्ष की ओर आत्मा आवर्जित यानी झुकी हुई होने से इसे आवर्जितकरण भी कहते हैं। केवलज्ञानियों के द्वारा अवश्य किए जाने के कारण इसे आवश्यककरण भी कहते हैं। विशेषावश्यकभाष्य, पंचसंग्रह आदि में ये तीनों नाम प्राप्त होते हैं।[२३३] दिगम्बर परम्परा के साहित्य में केवल आवर्जितकरण नाम ही मिलता है।[२३४]

---

२३०. अभ्युपगमेन—अङ्गीकारेण निर्वृत्ता तत्र वा भवा आभ्युपगमिकी तया—शिरोलोचतपश्चरणादिकया वेदनया—पीडया उपक्रमेण—कर्मोदीरणकारणेन निर्वृत्ता तत्र वा भवा औपक्रमिकी तया—ज्वरातीसारादिजन्यया। —स्थानांग वृत्ति पत्र ८४

२३१. समुद्घननं समुद्घातः शरीराद् बहिर्जीवप्रदेशप्रक्षेपः। —स्थानांग अभयदेव वृत्ति ३८०

२३२. हन्तर्गमिक्रियात्वात् सम्भूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्हननं समुद्घातः। —तत्त्वार्थवार्तिक १, २०, १२

२३३. (क) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३०५०-५१ (ख) पंचसंग्रह, द्वार १, गाथा १६ की टीका

२३४. लब्धिसार, गा. ६१७

जब वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति और दलिक आयुकर्म की स्थिति और दलिकों से अधिक हों तब उन सभी को बराबर करने के लिये केवलिसमुद्घात होता है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु अवशेष रहने पर यह समुद्घात होता है। केवलिसमुद्घात का कालप्रमाण आठ समय का है। प्रथम समय में आत्मा के प्रदेशों को शरीर से बाहर निकाला जाता है। उस समय उनका आकार दण्ड सदृश होता है। आत्मप्रदेशों का यह दण्ड-रूप ऊँचाई में लोक के ऊपर से नीचे तक अर्थात् चौदह रज्जु लम्बा होता है। उसकी मोटाई केवल स्वयं के शरीर के बराबर होती हैं। दूसरे समय में उस दण्ड को पूर्व, पश्चिम या उत्तर, दक्षिण में विस्तीर्ण कर उसका आकार कपाट के सदृश बनाया जाता है। तृतीय समय में कपाट के आकार के आत्मप्रदेशों को मंथाकार बनाया जाता है अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों तरफ फैलाने से उसका आकार मथनी का सा बन जाता है। चतुर्थ-समय में विदिशाओं के खाली भागों को आत्मप्रदेशों से पूर्ण करके उन्हें सम्पूर्ण लोक में व्याप्त किया जाता है। पाँचवें समय में आत्मा के लोकव्यापी आत्मप्रदेशों को संहरण के द्वारा फिर मंथाकार बनाया जाता है। छठे समय में मंथाकार से कपाटाकार बना लिया जाता है। सातवें समय में आत्मप्रदेश फिर दण्ड रूप में परिणत होते हैं और आठवें समय में पुनः वे अपनी असली स्थिति में आ जाते हैं।

वैदिक परम्परा [२३५] के ग्रन्थों में आत्मा की व्यापकता के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। उसकी तुलना हम केवलिसमुद्घात के चतुर्थ समय में जब आत्मा लोकव्यापी बन जाता है, उससे कर सकते हैं।

व्याख्यासाहित्य

इस प्रकार प्रज्ञापना के छत्तीस पदों में विपुल द्रव्यानुयोग सम्बन्धी सामग्री का अपूर्व संकलन है। इस प्रकार का संकलन अन्यत्र दुर्लभ है। प्रज्ञापना का विषय गम्भीरता को लिए हुए है। आगमों के गम्भीर रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए मूर्धन्य मनीषियों के द्वारा व्याख्या साहित्य का निर्माण किया गया। प्रज्ञापना पर निरुक्ति और भाष्य नहीं लिखे गए। आचार्य हरिभद्र ने प्रज्ञापना की प्रदेश-व्याख्या में प्रज्ञापना की अवचूर्णि का उल्लेख किया है।[२३६] इससे यह स्पष्ट है आचार्य हरिभद्र के पूर्व इस पर कोई न कोई अवचूर्णि अवश्य रही होगी, क्योंकि व्याख्या में यत्र-तत्र 'एतदुक्तं भवति', 'किमुक्तं भवति' 'अयमत्र भावार्थः,' 'इदमत्र हृदयम्,' 'एतेसिं भावणा' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। आचार्य मलयगिरि[२३७] ने भी अपनी वृत्ति में चूर्णि का उल्लेख किया है। यहाँ यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि अवचूर्णि या चूर्णि जो प्रज्ञापना पर रचित थी उसका रचयिता कौन था? मुनिश्री पुण्यविजय जी महाराज का अभिमत है कि चूर्णि के रचयिता आचार्य हरिभद्र के गुरु ही होने चाहिए, क्योंकि व्याख्या में ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं—'एवं तावत् पूज्यपादा व्याचक्षते,' 'गुरवस्तु', 'इह तु पूज्याः', 'अत्र गुरवो व्याचक्षते'। पुण्यविजय जी महाराज का यह भी मन्तव्य है कि प्रज्ञापना पर आचार्य हरिभद्र के गुरु जिनभट्ट के अतिरिक्त अन्य आचार्यों की व्यख्याएँ भी होनी चाहिये।[२३८] पर वे आज उपलब्ध नहीं हैं, इसलिए इनका क्या रूप था? यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता।

---

२३५. (क) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतःपात्। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-३, १११-५
(ख) सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ —भगवद् गीता, १३, १३

२३६. अलमतिप्रसङ्गेन अवचूर्णिकामात्रमेतदिति। —प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या, पृ. २८, ११३

२३७. प्रज्ञापना मलयगिरि वृत्ति, पत्र २६९-२७१

२३८. प्रज्ञापना प्रस्तावना, पृ. १५२

प्रज्ञापना पर वर्तमान में जो टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमें सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र की प्रदेशव्याख्या है। हरिभद्र जैन आगमों के प्राचीन टीकाकार हैं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, नन्दी, अनुयोगद्वार, पिण्डनिर्युक्ति प्रभृति पर महत्त्वपूर्ण टीकाएं लिखी हैं। प्रज्ञापना की टीका में सर्वप्रथम जैनप्रवचन की महिमा गाई है।[२३९] उसके पश्चात् मंगल का विश्लेषण किया है और साथ में यह भी सूचित किया है कि मंगल की विशेष व्याख्या आवश्यक टीका में की गई है। भव्य-अभव्य का विवेचन करते हुए आचार्य ने वादिमुख्य कृत अभव्य-स्वभाव के सूचक श्लोक को भी उद्धृत किया है।[२४०]

प्रज्ञापना पर दूसरी वृत्ति नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव की है। पर यह वृत्ति सम्पूर्ण प्रज्ञापना पर नहीं है केवल प्रज्ञापना के तीसरे पद—जीवों के अल्पबहुत्व—पर है। आचार्य ने १३३ गाथाओं के द्वारा इस पद पर प्रकाश डाला है। स्वयं आचार्य ने उसे 'संग्रह' की अभिधा प्रदान की है। यह व्याख्या धर्मरत्नसंग्रहणी और प्रज्ञापनोद्धार नाम से भी विश्रुत है।

इस संग्रहणी पर कुलमण्डनगणी ने संवत् १४४१ में एक अवचूर्णि का निर्माण किया है। आत्मानन्द जैन सभा भावनगर से प्रज्ञापना तृतीय पद संग्रहणी पर एक अवचूर्णि प्रकाशित हुई है। पर उस अवचूर्णि के रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। यह अवचूर्णि कुलमण्डनगणी विरचित अवचूर्णि से कुछ विस्तृत है। पुण्यविजय जी महाराज का यह अभिमत है कि कुलमण्डनकृत अवचूर्णि को ही अधिक स्पष्ट करने के लिये किसी विज्ञ ने इसकी रचना की है।

प्रज्ञापना पर विस्तृत व्याख्या मलयगिरि की है। आचार्य मलयगिरि सुप्रसिद्ध टीकाकार रहे हैं। उनकी टीकाओं में विषय की विशदता, भाषा की प्रांजलता, शैली की प्रौढ़ता एक साथ देखी जा सकती है। कहा जाता है कि उन्होंने छब्बीस ग्रन्थों पर वृत्तियाँ लिखी हैं, उनमें से बीस ग्रन्थ उपलब्ध हैं, छह ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। मलयगिरि ने स्वतन्त्र ग्रन्थ न लिखकर टीकाएँ ही लिखी हैं पर उनकी टीकाओं में प्रकाण्ड पाण्डित्य मुखरित हुआ है। वे सर्वप्रथम मूल सूत्र के शब्दार्थ की व्याख्या करते हैं, अर्थ का स्पष्ट निर्देश करते हैं, उसके पश्चात् विस्तृत विवेचन करते हैं। विषय से सम्बन्धित प्रासंगिक विषयों को भी वे छूते चले जाते हैं। विषय को प्रामाणिक बनाने के लिए प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण भी देते हैं। प्रज्ञापनावृत्ति उनकी महत्त्वपूर्ण वृत्ति है। यह वृत्ति आचार्य हरिभद्र की प्रदेशव्याख्या से चार गुणी अधिक विस्तृत है। प्रज्ञापना के गुरु गम्भीर रहस्यों को समझने के लिए यह वृत्ति अत्यन्त उपयोगी है। वृत्ति के प्रारम्भ में आचार्य ने मंगलसूचक चार श्लोक दिए हैं। प्रथम श्लोक में भगवान् महावीर की स्तुति है। द्वितीय में जिनप्रवचन को नमस्कार किया गया है तो तृतीय श्लोक में गुरु को नमन किया गया है और चतुर्थ श्लोक में प्रज्ञापना पर वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है।[२४१]

---

२३९. रागादिवध्यपटः सुरलोकसेतुरानन्ददुन्दुभिरसत्कृतिवंचितानाम्।
संसारचारकपलायनफालघंटा, जैनं वचस्तदिह को न भजेत विद्वान् ॥१॥ —प्रज्ञापना प्रदेशव्याख्या

२४०. सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव! तवापि खिलान्यभूवन्।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥१॥ —प्रज्ञापना प्रदेशव्याख्या

२४१. जयति नमदमरमुकुटप्रतिबिम्बच्छद्मविहितबहुरूपः।
उद्धर्तुमिव समस्तं विश्वं भवपङ्कतो वीरः ॥१॥
जिनवचनामृतजलधिं वन्दे यद्बिन्दुमात्रमादाय।
अभवन्नूनं सत्त्वा जन्म-जरा-व्याधिपरिहीनाः ॥२॥
प्रणमत गुरुपदपङ्कजमधरीकृतकामधेनुकल्पलतम्।
यदुपास्तिवशान्निरुपममश्नुवते ब्रह्म तनुभाजः ॥३॥
जडमतिरपि गुरुचरणोपास्तिसमुद्भूतविपुलमतिविभवः।
समयानुसारतोऽहं विदधे प्रज्ञापनाविवृतिम् ॥४॥ —प्रज्ञापना टीका

आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना का शब्दार्थ करते हुए लिखा है कि 'प्रकर्षेण ज्ञाप्यन्ते अनयेति प्रज्ञापना' अर्थात् जिसके द्वारा जीव-अजीव आदि पदार्थों का ज्ञान किया जाय वह प्रज्ञापना है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्ति में प्रज्ञापना को उपांग के रूप में उल्लिखित किया है पर आचार्य मलयगिरि ने उनसे आगे बढ़कर समवायाङ्ग का उपांग प्रज्ञापना को बताया है। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि समवायाङ्ग में निरूपित अर्थ का प्रतिपादन प्रज्ञापना में हुआ है, उन्होंने यह भी लिखा है कि कहा जा सकता है कि समवायाङ्ग निरूपित अर्थ का प्रज्ञापना में प्रतिपादन करना उचित नही, पर यह कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि प्रज्ञापना में समवायाङ्ग प्रतिपादित अर्थ का ही विस्तार है और यह विस्तार मदमति शिष्य के विशेष उपकार के लिए किया गया है। इसलिए इसकी रचना पूर्ण सार्थक है। विज्ञों का यह मानना है कि अमुक अंग का अमुक उपांग है, इस प्रकार की व्यवस्था आचार्य हरिभद्र के पश्चात् और आचार्य मलयगिरि के पूर्व हुई है।

हम यह पूर्व ही लिख चुके है कि मलयगिरि की वृत्ति का मूलाधार आचार्य हरिभद्र की प्रदेशव्याख्या रही है तथापि आचार्य मलयगिरि ने अन्य अनेक ग्रन्थों का उपयोग किया है।[२४२] उदाहरण के रूप में आचार्य हरिभद्र ने स्त्री तीर्थंकर बन सकती है या नही? इसके लिए सिद्धप्राभृत का संकेत किया है जबकि आचार्य मलयगिरि ने स्त्रीमुक्त होती है या नही? उस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की रचना कर विस्तार से विश्लेषण किया है।[२४३]

इसी प्रकार सिद्ध के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों के मन्तव्य की चर्चा करके अन्त में जैनदर्शन की दृष्टि से सिद्ध के स्वरूप की संस्थापना की है।[२४४] सामान्य रूप से आचार्य मलयगिरि ने व्याख्या के सम्बन्ध में विभिन्न चिन्तकों के मतभेद का सूचन किया है पर कुछ स्थलों पर उन्होंने अपना स्वतन्त्र मत भी प्रकट किया है और जहाँ उन्हें लगा कि यह उलझन भरा है वहाँ उन्होंने अपना मत न देकर केवलिगम्य कहकर सन्तोष किया है। यह कथन उनकी भवभीरुता का द्योतक है। आज जिन विषयों में कुछ भी नहीं जानते उस विषय में भी जो लोग अधिकार के साथ अपना मत दे देते है, उन्हें उस महान् आचार्य से प्रेरणा लेनी चाहिये।

आचार्य मलयगिरि ने कितने ही विषयों की चर्चा तर्क और श्रद्धा दोनो ही दृष्टि से की है। जैसे;— प्रज्ञापना की रचना श्यामाचार्य ने की तथापि इसमें श्रमण भगवान् महावीर और गणधर गौतम का संवाद कैसे? भगवान् महावीर और गौतम का संवाद होने पर भी इसमें अनेक मतभेदो का उल्लेख कैसे? सिद्ध के पन्द्रह भेदों की व्याख्या के साथ उनकी समीक्षा भी की है। स्त्रियाँ मोक्ष पा सकती है, वे षडावश्यक, कालिक और उत्कालिक सूत्रों का अध्ययन कर सकती है, निगोद की चर्चा, म्लेच्छ की व्याख्या, असख्यात आकाश प्रदेशों में अनन्त प्रदेशी स्कन्ध का समावेश किस प्रकार होता है? भाषा के पुद्गलों के ग्रहण और निसर्ग की चर्चा, अनन्त जीव होने पर भी शरीर असंख्यात कैसे? आदि विविध विषयों पर कलम चलाकर आचार्य ने अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का ज्वलन्त परिचय दिया है। अनेक विषयों की संगति बिठाने हेतु आचार्य ने नयदृष्टि का अवलम्ब लेकर व्याख्या की है और अनेक स्थलों पर पूर्वाचार्यो का और पूर्व संप्रदायों की मान्यताओं का उल्लेख किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान १६००० श्लोक प्रमाण है।

---

२४२. (क) पाणिनिः स्वप्राकृतव्याकरणे—पत्र ५, पत्रा ३६५ (ख) उत्तराध्य. निर्युक्ति गाथा—पत्र १२। जीवाभिगमचूर्णि प. ३०८ आदि।

२४३. पण्णवणासुत्तं-प्रस्तावना भाग २, पृ. १५४-१५७

२४४. देखिए—पण्णवणासुत्तं-प्रस्तावना २,१५७

आचार्य मलयगिरि की व्याख्या के पश्चात् अन्य कुछ आचार्यों ने भी व्याख्याएँ लिखी हैं, पर वे व्याख्याएँ पूर्ण आगम पर नहीं है और न इतनी विस्तृत ही हैं। मुनि चन्द्रसूरि ने प्रज्ञापना के वनस्पति के विषय को लेकर वनस्पतिसप्ततिका ग्रन्थ लिखा है जिसमें ७१ गाथाएं हैं। इस पर एक अज्ञात लेखक की एक अवचूरि भी है। यह अप्रकाशित है और इसकी प्रति लालभाई दलपतभाई विद्यामन्दिर ग्रन्थगार में है।

प्रज्ञापनाबीजक—यह हर्षकुलगणी की रचना है, ऐसा विज्ञों का मत है। क्योंकि ग्रन्थ के प्रारम्भ में और अन्त में कहीं पर भी कोई सूचना नहीं है। इसमें प्रज्ञापना के छत्तीस पदों की विषयसूची संस्कृत भाषा में दी गई है। यह प्रति भी अप्रकाशित है और लालभाई दलपतभाई विद्यामन्दिर ग्रन्थागार के संग्रह में है।

पद्मसुन्दरकृत अवचूरि—यह भी एक अप्रकाशित रचना है, जिसका संकेत आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका में किया है। इसकी प्रति भी उपर्युक्त ग्रन्थागार में उपलब्ध है।

धनविमलकृत बालावबोध भी अप्रकाशित रचना है। सर्वप्रथम भाषानुवाद इसमें हुआ है जिसे टबा कहते हैं। इस टबे की रचना संवत् १७६७ से पहले की है। श्री जीवविजयकृत दूसरा टबा यानी बालावबोध भी प्राप्त होता है। यह टबा १७६४ संवत् में रचित है। परमानन्दकृत स्तवक अर्थात् बालावबोध प्राप्त है, जो संवत् १८७६ की रचना है। यह टबा रायधनपतसिंह बहादुर की प्रज्ञापना की आवृत्ति में प्रकाशित है। श्री नानकचंदकृत संस्कृतछाया भी प्राप्त है, जो रायधनपतसिंह बहादुर ने प्रकाशित की है (प्रज्ञापना के साथ)। पण्डित भगवानदास हरकचन्द ने प्रज्ञापनासूत्र का अनुवाद भी तैयार किया था, जो विक्रम संवत् १९९१ में प्रकाशित हुआ। आचार्य अमोलकऋषि जी महाराज ने भी हिन्दी अनुवाद सहित प्रज्ञापना का एक संस्करण प्रकाशित किया था। इस प्रकार समय-समय पर प्रज्ञापना पर विविध व्याख्या साहित्य लिखा गया है।

सर्वप्रथम सन् १८८४ में मलयगिरिविहित विवरण, रामचन्द्रकृत संस्कृतछाया व परमानन्दर्षिकृत स्तवक के साथ प्रज्ञापना का धनपतसिंह ने बनारस से संस्करण प्रकाशित किया। उसके पश्चात् सन् १९१८-१९१९ में आगमोदय समिति बम्बई ने मलयगिरि टीका के साथ प्रज्ञापना का संस्करण प्रकाशित किया। विक्रम संवत् १९९१ में भगवानदास हर्षचन्द्र जैन सोसायटी अहमदाबाद से मलयगिरि टीका के अनुवाद के साथ प्रज्ञापना का संस्करण निकला। सन् १९४७-१९४९ में ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम, जैन पुस्तक प्रचार संस्था, सूरत से हरिभद्रविहित प्रदेशव्याख्या सहित प्रज्ञापना का संस्करण निकला। सन् १९७१ में श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से पण्णवणासुत्तं मूल पाठ और विस्तृत प्रस्तावना के साथ, पुण्यविजयजी महाराज द्वारा सम्पादित एक शानदार प्रकाशन प्रकाशित हुआ है। विक्रम सम्वत् १९७५ में श्री अमोलकऋषिजी महाराज कृत हिन्दी अनुवाद सहित हैदराबाद से एक प्रकाशन निकला है। वि. सम्वत् २०११ में सूत्रागमसमिति गुडगांव छावनी से श्री पुप्फभिक्खु द्वारा सम्पादित प्रज्ञापना का मूल पाठ प्रकाशित हुआ है। इस तरह समय समय पर आज तक प्रज्ञापना के विविध संस्करण निकले हैं।

प्रस्तुत संस्करण

प्रज्ञापना के अनेक संस्करण प्रकाशित होने पर भी एक ऐसे संस्करण की आवश्यकता थी जिसमें शुद्ध मूल पाठ हो, अर्थ हो और मुख्य स्थलों पर विवेचन भी हो, जिससे विषय सहज रूप से समझा जा सके। इसी दृष्टि से प्रस्तुत आगम का प्रकाशन हो रहा है। श्रमणसंघ के युवाचार्य महामहिम मधुकर मुनिजी महाराज ने आगमों के अभिनव संस्करण निकालने की योजना बनाई। यह योजना युवाचार्यश्री की दूरदर्शिता, दृढ़संकल्प, शक्ति और आगमसाहित्य के प्रति अगाध भक्ति का पावन प्रतीक है। युवाचार्यश्री के प्रबल पुरुषार्थ के फलस्वरूप ही स्वल्पकाल में अनेक आगम

प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक आगम शीघ्र प्रकाशित होने वाले हैं। अनेक मनीषियों के सहयोग के कारण यह गुरुतर कार्य सहज और सुगम हो गया है।

प्रस्तुत प्रज्ञापना के संस्करण की अपनी विशेषता है। इसमें शुद्ध मूलपाठ, भावार्थ और विवेचन है। विवेचन न बहुत अधिक लम्बा है और न बहुत संक्षिप्त ही। विषय को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन टीकाओं का भी उपयोग किया है। विषय बहुत ही गम्भीर होने पर भी विवेचनकार ने उसे सहज, सरल और सरस बनाने के लिए भरसक प्रयास किया है। यह कहा जाय कि विवेचन में गागर में सागर भर दिया गया है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्रज्ञापना जैन-तत्त्व-ज्ञान का बृहत् कोष है। इसमें जैनसिद्धान्त के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का संकलन है। उपांगों में यह सबसे अधिक विशाल है। अंगों में जो स्थान व्याख्याप्रज्ञप्ति का है वही स्थान उपांगों में प्रज्ञापना का है। इसका सम्पादनकार्य सरल नहीं अपितु कठिन और कठिनतर है पर परम आह्लाद है कि वाग् देवता के वरद पुत्र श्री ज्ञानमुनिजी ने इस महान् कार्य को सम्पन्न किया है। मुनिश्री का प्रकाण्ड पाण्डित्य यत्र-तत्र मुखरित हुआ है। उन्होंने गम्भीर और सूक्ष्म विषय को अपने चिन्तन की सूक्ष्मता और तीक्ष्णता से स्पर्श किया है। जिससे विषय विद्वानों के लिए ही नहीं, सामान्य जिज्ञासुओं के लिए भी हस्तामलकवत् हो गया है। उन्होंने प्रज्ञापना का सम्पादन और विवेचन कर भारती के भंडार में एक अनमोल भेंट समर्पित की है। तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। साथ ही इसमें पण्डित शोभाचंद्रजी भारिल्ल का श्रम भी मुखरित हो रहा है।

प्रज्ञापना की प्रस्तावना में बहुत ही विस्तार के साथ लिखना चाहता था, क्योंकि प्रज्ञापना में ऐसे अनेक मौलिक विषय हैं जिन पर तुलनात्मक दृष्टि से चिंतन करना आवश्यक था, पर अस्वस्थ हो जाने के कारण चाहते हुए भी नहीं लिख सका। बहुत समय पहले प्रस्तावना आरम्भ की और सोचा—प्रथम भाग में जा सकेगी किन्तु स्वास्थ्य के साथ न देने से वह विचार स्थगित रहा। परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनि महाराज का मार्गदर्शन भी मेरे लिए अतीव उपयोगी रहा है।

मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ विश्वास है कि प्रज्ञापना का यह शानदार संस्करण प्रबुद्ध पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। वे इसका स्वाध्याय कर अपने ज्ञान में अभिवृद्धि करेंगे। अन्य आगमों की तरह यह आगम भी जन-जन के मन को मुग्ध करेगा।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जैन स्थानक
मदनगंज-किशनगढ़
विजयदशमी
१६ अक्तूबर १९८३

विषयानुक्रमणिका

तेईसवाँ कर्मप्रकृतिपद

प्रथम उद्देशक

द्वितीय उद्देशक

चौवीसवां कर्मबन्धपद

पच्चीसवां कर्मबन्ध-वेदपद

छब्बीसवां कर्मवेद-बंधपद

सत्ताईसवां कर्मवेद-वेदपद

अट्ठाईसवां आहारपद

प्रथम उद्देशक

द्वितीय उद्देशक

उनतीसवां उपयोग पद

तीसवां पश्यत्तापद

इकतीसवां संज्ञिपद

बत्तीसवां संयतपद

तेतीसवां अवधिपद

चौतीसवां परिचारणापद

पैंतीसवां वेदनापद

छत्तीसवां समुद्घातपद

□□

सिरिसामज्जवायग-विरइयं
चउत्थं उवंगं

पण्णवणासुत्तं

[तइयखंडो]

श्रीमत्-श्यामार्यवाचक-विरचित
चतुर्थ उपाङ्ग

प्रज्ञापनासूत्र

[तृतीय खण्ड]

तेवीसइमओ सत्तावीसइमपंज्जंताइं पयाइं

तेईसवें पद से सत्ताईसवें पद पर्यन्त

प्राथमिक

※ ये प्रज्ञापनासूत्र के तेईसवें से सत्ताईसवें पद तक पांच पद हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— (२३) कर्मप्रकृतिपद, (२४) कर्मबन्धपद, (२५) कर्मबन्ध-वेदपद, (२६) कर्मवेद-बन्धपद और (२७) कर्मवेद-वेदकपद।

※ ये पांचों पद कर्मसिद्धान्त के प्रतिपादक हैं और एक-दूसरे से परस्पर संलग्न हैं।

※ जैनदर्शन तार्किक और वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा को निश्चयदृष्टि से परमात्मतुल्य माना गया है, फिर वह आत्मा पृथ्वी, जल या वनस्पतिगत हो या कीट-पतंग-पशु-पक्षी-मानवादि रूप हो, तात्त्विक दृष्टि से समान है। प्रश्न हो सकता है, जब तत्त्वतः सभी जीव (आत्मा) समान हैं, तब उनमें परस्पर वैषम्य क्यों? एक धनी, एक निर्धन, एक छोटा, एक विशालकाय, एक बुद्धिमान् दूसरा मंदबुद्धि, एक सुखी, एक दुःखी, इत्यादि विषमताएँ क्यों हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कर्मसिद्धान्त का जन्म हुआ। कर्माधीन होकर ही जीव विभिन्न प्रकार के शरीर, इन्द्रिय, गति, जाति, अंगोपांग आदि की न्यूनाधिकता वाले हैं। आत्मगुणों के विकास की न्यूनाधिकता का कारण भी कर्म ही है।

कर्मसिद्धान्त से तीन प्रयोजन मुख्य रूप से फलित होते हैं—

(१) वैदिकधर्म की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता के भ्रान्त अंश को दूर करना।
(२) बौद्धधर्म के एकान्त क्षणिकवाद को युक्तिविहीन बताना।
(३) आत्मा को जडतत्त्व से भिन्न स्वतंत्र चेतन के रूप में प्रतिष्ठापित करना।

※ भगवान् महावीरकालीन भारतवर्ष में जैन, बौद्ध और वैदिक, ये तीन धर्म की मुख्य धाराएँ थीं। वेदानुगामी कतिपय दर्शनों में ईश्वर को सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ मानते हुए भी उसे जगत् का कर्त्ता-हर्ता-धर्ता माना जाता था। कर्म जड होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल भुगवा नहीं सकते, अतः जीव को अच्छे-बुरे कर्मों का फल भुगवाने वाला ईश्वर ही है। जीव चाहे जितनी उच्चकोटि का हो, वह ईश्वर हो नहीं सकता। जीव जीव ही रहेगा, ईश्वर नहीं होगा। जीव का विकास ईश्वर की इच्छा या अनुग्रह के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार कई दर्शन तो जीव को ईश्वर के हाथ की कठपुतली मानने लगे थे।

इस प्रकार के भ्रान्तिपूर्ण विश्वास में चार बड़ी भूलें थीं—(१) कृतकृत्य ईश्वर का निष्प्रयोजन सृष्टि के प्रपंच में पड़ना और रागद्वेषयुक्त बनना। (२) आत्मा की स्वतंत्रता और शक्ति का दब जाना। (३) कर्म की शक्ति की अनभिज्ञता और (४) जप, तप संयम-

व्रतादि की साधना की व्यर्थता। इन भूलों का परिमार्जन करने और संसार को वस्तुस्थिति से अवगत कराने हेतु भगवान् महावीर ने वाणी से ही नहीं अपने कर्म-क्षय के कार्यों से कर्म-सिद्धान्त की यथार्थता का प्रतिपादन किया।

※ तथागत बुद्ध कर्म और उसके विपाक को मानते थे, किन्तु उनके क्षणिकवाद के सिद्धान्त से कर्मविपाक की उपपत्ति कथमपि नहीं हो सकती। स्वकृत कर्म का स्वयं फलभोग तथा परकृत कर्म के फलभोग का स्व में अभाव तभी घटित हो सकता है, जबकि आत्मा को न तो एकान्त-नित्य माना जाए और न ही एकान्त क्षणिक।

※ कुछ नास्तिक दर्शनवादी पुनर्जन्म, परलोक को मानते ही नहीं थे। उनके मतानुसार शुभ तथा अशुभ कर्म का शुभ एवं अशुभ फल घटित ही नहीं होता। तब फिर अध्यात्मसाधना का अर्थ क्या है? इस प्रश्न के यथार्थरूप से समाधान के लिए भगवान् महावीर ने कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया। क्योंकि कर्म न हों तो जन्म-जन्मान्तर तथा इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट ही नहीं सकता।

※ जो लोग यह कहते हैं, जीव अज्ञानी है, वह स्वकृत कर्म के दुःखद फल को स्वयं भोगने में असमर्थ है, इसलिए कर्मफल भुगवाने वाला ईश्वर है, ऐसा मानना चाहिए। वे कर्म की विशिष्ट शक्ति से अनभिज्ञ हैं। यदि कर्मफलप्राप्ति में दूसरे को सहायक माना जाएगा तो स्वकृत कर्म निरर्थक हो जाएँगे तथा जीव के स्वकृत पुरुषार्थ की हानि भी होगी और उसमें सत्कार्यों में प्रवृत्ति, असत्कार्यों से निवृत्ति के लिए उत्साह नहीं जागेगा।

यही कारण है कि भगवान् महावीर ने प्रस्तुत २३ वें **कर्मप्रकृतिपद** में ईश्वर या किसी भी शक्ति को सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति या विनाशकर्त्ता और कर्मफलप्रदाता के रूप में न मान कर स्वयं जीव को ही कर्मबन्ध करने, कर्मफल का वेदन करने तथा स्वकृतकर्मों तथा कर्म-क्षय का फल भोगने का अधिकारी बताया है। जीव अनादिकाल से स्वकृतकर्मों के वश होकर विविध गतियों, योनियों आदि में भ्रमण कर रहा है। जीव अपने ही शुभाशुभ कर्मों के साथ परभव में जाता है, स्वतः सुखदुःखादि पाता है।

※ कुछ दार्शनिक कर्मसिद्धान्त पर एक आक्षेप यह करते हैं कि प्रस्तुत २३ वें पद के अनुसार समस्त जीवों के साथ कर्म सदा से लगे हुए हैं और कर्म एवं आत्मा का अनादि सम्बन्ध है, तो फिर कर्म का सर्वथा नाश कदापि नहीं हो सकेगा। लेकिन कर्मसिद्धान्त के बारे में ऐसा एकान्त सार्वकालिक नियम नहीं है। इसी कारण आगे चलकर २३ वें पद के दूसरे उद्देशक में स्पष्ट बताया गया है कि जितने भी कर्म हैं, सबकी एक कालमर्यादा है। वह काल परिपूर्ण होने पर उस कर्म का क्षय हो जाता है। स्वर्ण और मिट्टी का दूध और घी का प्रवाहरूप से अनादि-सम्बन्ध होते हुए भी प्रयत्न-विशेष से वे पृथक्-पृथक् होते देखे जाते हैं। उसी प्रकार आत्मा और कर्म का प्रवाहरूप से अनादि-सम्बन्ध होने पर भी, व्यक्तिशः अनादि-सम्बन्ध नहीं है। आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध का भी अन्त होता है। पूर्वबद्ध कर्मस्थिति पूर्ण होने पर वह आत्मा से पृथक् हो जाता है। नवीन कर्मों का बन्ध होता रहता है। इस प्रकार प्रवाहरूप से कर्म के अनादि होने पर भी तप, संयम, व्रत आदि के द्वारा कर्मों का प्रवाह एक दिन नष्ट हो जाता है और आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

पूर्वकथन से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व अनादिकालीन है और कर्मबन्ध होता रहता है। ऐसी स्थिति में सहज ही एक प्रश्न उठता है कि आत्मा पहले है या कर्म ? यदि आत्मा पहले है तो कर्म का बन्ध उसके साथ जबसे हुआ तबसे उसे 'सादि' मानना पड़ेगा। जैनदर्शन का समाधान है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। परन्तु कर्म का प्रवाह कब तक चलेगा ? सर्वज्ञ के सिवाय कोई नहीं जानता और न ही बता सकता है, क्योंकि भूतकाल के समान भविष्यकाल भी अनन्त है।

कुछ व्यक्ति शंका कर सकते हैं कि सभी जीव आत्मामय हैं और आत्मा का लक्षण ज्ञान है, तब फिर सभी जीवों को एक समान ज्ञान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यही है कि आत्मा वस्तुतः ज्ञानमय है, किन्तु उस पर कर्मों का आवरण पड़ा हुआ है और उस आवरण के कारण ही आत्मारूपी सूर्य का ज्ञानगुणरूप प्रकाश कर्मरूपी मेघों से ढंका हुआ है। बादल हटते ही जैसे सूर्य का प्रकाश प्रकट हो जाता है, वैसे ही कर्मों का आवरण दूर होते ही आत्मा के ज्ञानादि गुण अधिकाधिक प्रकट होने लगते हैं।

※ इस पर से एक प्रश्न फिर समुद्भूत होता है कि कर्म बलवान् है या आत्मा ? बाह्यदृष्टि से कर्म शक्तिशाली प्रतीत होते हैं, क्योंकि कर्म के वशवर्ती होकर आत्मा नाना योनियों में जन्म-मरण के चक्कर काटती रहती है, परन्तु अन्तर्दृष्टि से देखा जाए तो आत्मा की शक्ति असीम (अनन्त) है। वह जैसे अपनी परिणति से कर्मों का आस्रव एवं बन्ध करती है, वैसे ही कर्मों को क्षय करने की क्षमता भी रखती है। कर्म चाहे जितने शक्तिशाली क्यों न प्रतीत हों, लेकिन आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न है। कठोरतम पाषाणों की चट्टानों को मुलायम पानी टुकड़े-टुकड़े कर देता है। वैसे ही आत्मा की अनन्त शक्ति कर्मों को चूर-चूर कर देती है।

※ इसके लिए कर्म और आत्मा की पृथक्-पृथक् शक्तियों को पहिचानने के लिए दोनों के लक्षणों को जान लेना आवश्यक है। आत्मा अपने-आप में शुद्ध (निश्चय) रूप में ज्ञान, दर्शन, आनन्द एवं शक्तिमय (वीर्यमय) है। कर्मों के आवरण के कारण उसके ये गुण दबे हुए हैं। कर्मों का आवरण सर्वथा हटते ही चेतना पूर्णरूप से प्रकट हो जाती है, आत्मा परमात्मा बन जाती है।

कर्म का लक्षण है—मिथ्यात्व आदि पांच कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पांचों में से किसी के भी निमित्त से आत्मा में एक प्रकार का अचेतन द्रव्य आता है, जिसे अन्य दर्शनों में अदृश्य, अविद्या, माया, प्रकृति, संस्कार आदि विविध नामों से पुकारा जाता है, अतः वह कर्म ही है, जो रागद्वेष का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बंध जाता है और समय पाकर वह (कर्म) सुख-दुःखरूप फल देने लगता है।

※ कर्म के मुख्यतया दो भेद हैं—भावकर्म और द्रव्यकर्म। जीव के साथ रागद्वेषरूप भावों का निमित्त पाकर अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है, उन भावों का नाम **भावकर्म** है तथा वह अचेतन कर्मद्रव्य जब आत्मा के साथ क्षीर-नीरवत् एक होकर सम्बद्ध हो जाता है, तब वह **द्रव्यकर्म** कहलाता है।

यद्यपि जैनदर्शन में भावकर्मबन्ध के मुख्यतया मिथ्यात्वादी पांच कारण एवं संक्षेप में कषाय और

योग के दो कारण वतलाए हैं, तथापि तेईसवें पद के प्रथम उद्देशक में राग और द्वेष को ही भावकर्मवन्ध का कारण वतलाया है। चार कषायों को इन्हीं दो के अन्तर्गत कर दिया गया है। कोई भी मानसिक या वैचारिक प्रवृत्ति हो, या तो वह राग (आसक्तिरूप) या वह द्वेष (घृणा या क्रोधादि) रूप होगी। अतः रागमूलक या द्वेषमूलक प्रवृत्ति को ही भावकर्मवन्ध का कारण माना गया है। प्राणी जान सके या नहीं, पर उसकी राग-द्वेषात्मक वासना के कारण अव्यक्तरूप से भावकर्म द्रव्यकर्मरूप में श्लिष्ट होते रहते हैं। कर्म की बंधकता (कर्मलेप पैदा करने की शक्ति) भी रागद्वेष के सम्बन्ध से ही है।

※ रागद्वेषजनित मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार क्रोधादिकषायवश शारीरिक, वाचिक क्रिया होती है, वही द्रव्यकर्मोपार्जन का कारण वनती है। जो क्रिया कषायजनित होती है, उससे होने वाला कर्मवन्ध विशेष वलवान् होता है, किन्तु कषायरहित क्रिया से होने वाला कर्मवन्ध निर्वल और अल्पस्थितिक होता है। वह थोड़े-से प्रयत्न एवं समय में नष्ट किया जा सकता है। वस्तुतः जव प्राणी मन-वचन-काया से प्रवृत्ति करता है, तव चारों ओर से तद्योग्य कर्मपुद्गल-परमाणुओं का ग्रहण होता है। इन्हीं गृहीत पुद्गल-परमाणु-समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ वद्ध होना द्रव्यकर्म कहलाता है।

वस्तुतः जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार वैसी-वैसी उसकी मति और परिणति होती रहती है। पूर्ववद्ध कर्म उदय में आता है तो आत्मा की परिणति को प्रभावित करता है और उसी के अनुसार नवीन कर्मबन्ध होता रहता है। यह चक्र अनादिकाल से (प्रवाहरूप से) चला आ रहा है।

※ आत्मा निश्चयदृष्टि से ज्ञान-दर्शनमय शुद्ध होने पर भी अपनी कषायात्मक वैकारिक प्रवृत्ति या क्रिया द्वारा ऐसे संस्कारों (भावकर्मों) का आकर्षण करती रहती है और कर्मपुद्गलों को भी तदनुसार ग्रहण करती रहती है। इस ग्रहण करने की प्रक्रिया में मन-वचन-काय का परिस्पन्दन सहयोगी वनता है। कषाय या रागद्वेष की तीव्रता-मन्दता के अनुसार ही जीव को उन-उन कर्मों का बन्ध होता है तथा बन्धे हुए कर्मों के अनुसार ही तत्काल या कालान्तर में सुख-दुःख-रूप शुभाशुभ फल प्राप्त होता रहता है। किन्तु जब यह आत्मा अपनी विशिष्ट ज्ञानादि शक्ति से समस्त कर्मों से रहित होकर पूर्णरूप से—कर्ममुक्त हो जाती है तब पुनः कर्म आत्मा के साथ सम्वद्ध नहीं होते और न अपना फल देते हैं।

※ कर्मसिद्धान्तानुसार एक वात स्पष्ट है कि आत्मा ही अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार वैसे स्वभाव और परिस्थिति का निर्माण करती है, जिसका प्रभाव वाह्य सामग्री पर पड़ता है और तदनुसार परिणमन होता है, तदनुसार ही कर्मफल स्वतः प्राप्त होता है। कर्म के परिपाक का जब समय आता है, तव उसके उदयकाल में जैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सामग्री होती है, वैसा ही उसका तीव्र, मन्द, मध्यम फल प्राप्त होता है। इस फलप्राप्ति का प्रदाता कोई अन्य नहीं है। कर्मफल प्रदाता दूसरे को माना जाए तो स्वयंकृत कर्म निरर्थक हो जाएँगे, तथा जीव के स्व-पुरुषार्थ की भी हानि होगी। फिर तो सत्कार्यों में प्रवृत्ति और असत्कार्यों से निवत्ति के लिए न तो उत्साह जाग्रत होगा, न पुरुषार्थ ही।

इस दृष्टि से २३ वें से २७ वें पद तक कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में उद्भूत होने वाले विविध प्रश्नों का समाधान किया गया है। कर्मबन्ध के चार प्रकारों की दृष्टि से यहाँ यथार्थ एवं स्पष्ट समाधान किया गया है। द्रव्यकर्मों के बन्ध को प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध और अनुभावबन्ध, इन चार प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है।

बद्ध कर्मपरमाणुओं का आत्मा के ज्ञानादि गुणों के आवरण के रूप में परिणत होना, उन कर्म-पुद्गलों में विभिन्न प्रकार के स्वभाव उत्पन्न होना, **प्रकृतिबन्ध** है। कर्मविपाक (कर्मफल) के काल की अवधि (जघन्य-उत्कृष्ट कालमर्यादा) उत्पन्न होना **स्थितिबन्ध** है। गृहीत पुद्गल-परमाणुओं के समूह का कर्मरूप में आत्मप्रदेशों के साथ न्यूनाधिक रूप में बद्ध होना—**प्रदेशबन्ध** है। इसमें भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले कर्मपरमाणुओं (कर्मप्रदेशों) की संख्या का निर्धारण होता है और कर्मरूप में गृहीत पुद्गलपरमाणुओं के फल देने की शक्ति की तीव्रता-मन्दता आदि **अनुभाग (रस) बन्ध** है। कर्म के सम्बन्ध में समुद्भूत होने वाले कुछ प्रश्नों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है, जिनका समाधान इन पदों में दिया गया है। मूलकर्म कितने हैं? उनके उत्तर-भेद कितने हैं? आत्मा का कर्मों के साथ बन्ध कैसे और किन-किन कारणों से होता है? कर्मों में फल देने की शक्ति कैसे पैदा हो जाती है? कौन-सा कर्म कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रहता है? आत्मा के साथ लगा हुआ कर्म कितने समय तक फल देने में असमर्थ रहता है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नहीं? यदि हाँ, तो कैसे, किन आत्मपरिणामों से? एक कर्म के बन्ध के समय, दूसरे किन कर्मों का बन्ध या वेदन हो सकता है? किस कर्म के वेदन के समय अन्य किन-किन कर्मों का वेदन होता है? इस प्रकार बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता आदि अवस्थाओं की अपेक्षा से उत्पन्न होने वाले नाना प्रश्नों का सयुक्तिक विशद वर्णन किया गया है।

※ सर्वप्रथम तेईसवें 'कर्म-प्रकृति-पद' के प्रथम उद्देशक में पांच द्वारों के माध्यम से कर्म-सिद्धान्त की चर्चा की गई है। प्रथम द्वार में मूल कर्म-प्रकृति की संख्या और चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में उनके सद्भाव की प्ररूपणा है। दूसरे द्वार में बताया गया है कि समुच्चय जीव तथा चौवीस दण्डकवर्ती जीव किस प्रकार आठ कर्मों को बाँधते हैं? तीसरे द्वार में बताया गया है कि ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों को एक या अनेक समुच्चय जीव तथा चौवीस दण्डकवर्ती जीव, राग और द्वेष (जिनके अन्तर्गत क्रोधादि चार कषायों का समावेश हो जाता है), इन दो कारणों से बांधते हैं। चौथे द्वार में यह बताया गया है कि समुच्चय जीव या चौवीस दण्डकवर्ती जीव एकत्व एवं बहुत्व की अपेक्षा से, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों में किन-किन कर्मों का वेदन करता है? इसके पश्चात् पंचम कतिविध-अनुभाव द्वार में विस्तृत रूप से बताया गया है कि जीव के द्वारा बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध-स्पृष्ट, संचित, चित, उपचित, आपाक-प्राप्त, विपाक-प्राप्त, फल-प्राप्त, उदय-प्राप्त, कृत, निष्पादित, परिणामित, स्वतः या परतः उदीरित, उभयतः उदीरणा किये जाते हुए गति, स्थिति और भव की अपेक्षा से ज्ञानावरणीयादि किस-किस कर्म के कितने-कितने विपाक या फल हैं?

※ तेईसवें पद के द्वितीय उद्देशक में सर्वप्रथम अष्ट कर्मों की मूल और उत्तर-प्रकृतियों के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। तदनन्तर ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों की (भेद-प्रभेदसहित)

स्थिति का निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् यह निरूपण किया गया है कि एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों में से किस कर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ? तथा ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों की जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट स्थिति को बांधने वाले कौन-कौन जीव हैं ?

* चौवीसवें 'कर्मबन्ध-पद' में बताया गया है कि चौवीस दण्डकवर्ती जीव ज्ञानावरणीय आदि किसी एक कर्म को बांधता हुआ, अन्य किन-किन कर्मों को बाँधता है, अर्थात् कितने अन्य कर्मों को बांधता है ?

* पच्चीसवें कर्मबन्ध-वेदपद में बताया गया है कि जीव आठ कर्मों में से किसी एक कर्म को बांधता हुआ, अन्य किन-किन कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

* छब्वीसवें कर्मवेद-बन्धपद में कहा गया है कि जीव आठ कर्मों में से किसी एक कर्म को वेदता हुआ, अन्य कितने कर्मों का बन्ध करता है ?

* सत्ताईसवें 'कर्मवेद-वेदकपद' में कहा गया है कि जीव किसी एक कर्म के वेदन के साथ किन अन्य कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

* प्रस्तुत पांचों पदों के निरूपण द्वारा शास्त्रकार ने स्पष्ट ध्वनित कर दिया है कि जीव कर्म करने और फल भोगने में, नये कर्म बांधने तथा समभावपूर्वक कर्मफल भोगने में स्वतन्त्र है तथा कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन का उद्देश्य देवगति या अमुक प्रकार के शरीरादि की उपलब्धि करना नहीं है। अपितु कर्मों से सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति पाना, जन्म-मरण से छूटकारा पाना ही उसका लक्ष्य है। इसी में आत्मा के पुरुषार्थ की पूर्णता है तथा यही आत्मा के शुद्ध, सिद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप की उपलब्धि है। इस चतुर्थ पुरुषार्थ-मोक्ष के लिए पुण्यरूप या पापरूप दोनों प्रकार के कर्म त्याज्य हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप ही मोक्ष-पुरुषार्थ के परम साधन हैं जो कर्मक्षय के लिए नितान्त आवश्यक हैं। आत्मा अपने पुरुषार्थ के द्वारा क्रमशः कर्मनिर्जरा करता हुआ आत्मा की विशुद्धतापूर्वक सर्वथा कर्मक्षय कर सकता है। यही तथ्य शास्त्रकार के द्वारा ध्वनित किया गया है। □□

तेवीसइमं कम्मपगडिपयं

तेईसवाँ कर्मप्रकृतिपद

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

प्रथम उद्देशक में प्रतिपाद्य विषयों की संग्रहणीगाथा

१६६४. कति पगडी १ कह बंधति २ कतिहि व ठाणेहिं बंधए जीवो ३ ।
कति वेदेइ य पयडी ४ अणुभावो कतिविहो कस्स ५ ।। २१७ ।।

[१६६४ गाथार्थ—] (१) (कर्म-)प्रकृतियाँ कितनी हैं ?, (२) किस प्रकार बंधती हैं ?, (३) जीव कितने स्थानों से (कर्म) बांधता है ?, (४) कितनी (कर्म-)प्रकृतियों का वेदन करता है ?, (५) किस (कर्म) का अनुभाव (अनुभाग) कितने प्रकार का होता है ? ।।२१७।।

विवेचन—विविध पहलुओं से कर्मबन्धादि परिणाम-निरूपक पांच द्वार—(१) प्रथमद्वार— कर्मप्रकृतियों की संख्या का निरूपण करने वाला, **(२) द्वितीयद्वार**—कर्मबन्ध के प्रकार का निरूपक, **(३) तृतीयद्वार**—कर्म बांधने के स्थानों का निरूपक, **(४) चतुर्थद्वार**—वेदन की जानेवाली कर्मप्रकृतियों की गणना और **(५) पंचमद्वार**—विविध कर्मों के विभिन्न अनुभावों का निरूपण करने वाला।[1]

प्रथम : कति-प्रकृतिद्वार

१६६५. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ । तं जहा – णाणावरणिज्जं १ दरिसणावरणिज्जं २ वेदणिज्जं ३ मोहणिज्जं ४ आउयं ५ णामं ६ गोयं ७ अंतराइयं ८ ।

[१६६५ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही हैं ?

[१६६५ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ आठ कही हैं । वे इस प्रकार हैं—१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय ।

१६६६. णेरइयाणं भंते ! कति कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! एवं चेव । एवं जाव वेमाणियाणं ।

[१६६६ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं ?

[१६६६ उ.] गौतम ! इसी प्रकार पूर्ववत् आठ कर्मप्रकृतियाँ कही हैं । (नारकों के ही समान) यावत् वैमानिक तक (आठ कर्मप्रकृतियाँ समझनी चाहिए ।)

---

१. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. १५७-१५८

विवेचन—(१) कति-प्रकृतिद्वार—आठ कर्मप्रकृतियाँ और चौबीस दण्डकों में उनका सद्भाव— मूल कर्मप्रकृतियाँ आठ प्रसिद्ध हैं। नारक से लेकर वैमानिक तक समस्त संसारी जीवों के भी आठ ही कर्मप्रकृतियाँ लगी हुई हैं।

आठ कर्मप्रकृतियों का स्वरूप—(१) ज्ञानावरणीय—जो कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करे। सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के विशेष अंश का ग्रहण करना ज्ञान है। उसे जो आवृत करे, वह ज्ञानावरणीय है। (२) **दर्शनावरणीय**—पदार्थ के विशेषधर्म को ग्रहण न करके सामान्य धर्म को ग्रहण करना 'दर्शन' है। जो आत्मा के दर्शनगुण को आच्छादित करे, वह दर्शनावरणीय है। (३) **वेदनीय**—जिस कर्म के कारण आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करे। (४) **मोहनीय**—जो कर्म आत्मा को मूढ— सत्-असत् के विवेक से शून्य बनाता है। **आयुकर्म**—जो कर्म जीव को किसी न किसी भव में स्थित रखता है। **नामकर्म**—जो कर्म जीव के गतिपरिणाम आदि उत्पन्न करता है। **गोत्रकर्म**—जिस कर्म के कारण जीव उच्च अथवा नीच कहलाता है अथवा जिस कर्म के उदय से जीव प्रतिष्ठित कुल अथवा नीच—अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है। **अन्तरायकर्म**—जो कर्म जीव के और दानादि के बीच में व्यवधान अथवा विघ्न डालता है अथवा जो कर्म दानादि करने के लिए उद्यत जीव के लिये विघ्न उपस्थित करता है।[1]

द्वितीय : कह बंधति (किस प्रकार बंध करता है) द्वार

१६६७. कहण्णं भंते ! जीवे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं णियच्छति, दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं णियच्छति, दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं णियच्छति, मिच्छत्तेणं उदिण्णेणं गोयमा ! एवं खलु जीवे अट्ठ कम्मपगडीओ बंधइ।

[१६६७ प्र.] भगवन् ! जीव आठ कर्मप्रकृतियों को किस प्रकार बांधता है ?

[१६६७ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से (जीव) दर्शनावरणीय कर्म को निश्चय ही प्राप्त करता है, दर्शनावरणीय कर्म के उदय से (जीव) दर्शनमोहनीय कर्म को प्राप्त करता है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व को निश्चय ही प्राप्त करता है और हे गौतम ! इस प्रकार मिथ्यात्व के उदय होने पर जीव निश्चय ही आठ कर्मप्रकृतियों को बांधता है।

१६६८. कहण्णं भंते ! णेरइए अट्ठ कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! एवं चेव। एवं जाव वेमाणिए।

[१६६८ प्र.] भगवन् ! नारक आठ कर्मप्रकृतियों को किस प्रकार बांधता है ?

[१६६८ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्वोक्त कथनवत्) जानना चाहिए।

इसी प्रकार (असुरकुमार से लेकर) यावत् वैमानिकपर्यन्त (समझना चाहिए।)

१६६९. कहण्णं भंते ! जीवा अट्ठ कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! एवं चेव। एवं जाव वेमाणिया।

---

१. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भाग ५, पृ. १६१

[१६६९ प्र.] भगवन् ! बहुत-से जीव आठ कर्मप्रकृतियाँ किस प्रकार बांधते हैं ?

[१६६९ उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना। इसी प्रकार यावत् बहुत-से वैमानिकों तक (समझना चाहिए।)

विवेचन—समुच्चय जीव और चौबीस दण्डक में एकत्व-बहुत्व की विवक्षा से अष्टकर्मबन्ध के कारण—प्रस्तुत द्वितीय द्वार में जीव अष्टकर्मबन्ध किस प्रकार करता है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया गया है कि ज्ञानावरण का उत्कृष्ट उदय होने पर दर्शनावरणीय कर्म का आगमन होता है अर्थात् जीव दर्शनावरणीयकर्म को उदय से वेदता है। दर्शनावरणीय के उदय से दर्शनमोह का और दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व का और मिथ्यात्व के उदीर्ण होने पर आठों कर्मों का आगमन होता है, अर्थात् जीव मिथ्यात्व के उदय से आठ कर्मप्रकृतियों का बंध करता है। सभी जीवों में आठ कर्मों के बन्ध (या आगमन) या यही क्रम है। इन चारों सूत्रों का तात्पर्य यह है कि कर्म से कर्म आता—बंधता है।[1]

स्पष्टीकरण—आचार्य मलयगिरि ने इस सूत्र में प्रयुक्त 'खलु' शब्द का 'प्राय:' अर्थ करके इस सूत्रचतुष्टय को 'प्रायिक' माना है। इसका आशय यह है कि कोई-कोई सम्यग्दृष्टि भी आठ कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है। केवल सूक्ष्म-सम्परायगुणस्थानवर्ती संयत आदि आठ कर्मों का बन्ध नहीं करते।[2]

ज्ञातव्य—यहाँ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध के कारणों में केवल मिथ्यात्व को ही मूल कारण बताया गया है, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को नहीं, किन्तु पारम्परिक कारणों में अविरति, प्रमाद और कषाय का भी समावेश हो जाता है। क्योंकि जीव ज्ञानावरणादि कर्म बांधता है, उसके (सू. १६७० में) मुख्यतया दो कारण बताए गए हैं—राग और द्वेष। राग में माया और लोभ का तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश हो जाता है।[3]

तृतीयद्वार : कति-स्थान-बन्धद्वार

१६७०. जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं कतिहिं ठाणेहिं बंधति ?

गोयमा ! दोहिं ठाणेहिं। तं जहा—रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—माया य लोभे य। दोसे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—कोहे य माणे य। इच्चेतेहिं चउहिं ठाणेहिं वीरिओवग्गहिएहिं एवं खलु जीवे णाणावरणिज्जं कम्मं बंधति।

[१६७० प्र.] भगवन् ! जीव कितने स्थानों—कारणों से ज्ञानावरणीयकर्म बांधता है ?

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भाग २, (२३वें पद का विचार) पृ. १३१
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भाग ५, पृ. १६६

२. (क) मलयगिरि वृत्ति, (प्रज्ञापना) पत्र ४५४
(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. १६४

३. (क) पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३६२, सू. १६७०, पृ. ३६४ तथा पण्णवणासुत्तं भा. २ पृ. १३१
(ख) 'मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः'। —तत्त्वार्थसूत्र
(ग) **रागो य दोसो विय कम्मबीयं। —उत्तराध्ययन**

[१६७० उ.] गौतम ! वह दो कारणों (स्थानों) से (ज्ञानावरणीय-कर्मबन्ध करता है), यथा—राग से और द्वेष से। राग दो प्रकार का कहा है, यथा—माया और लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का कहा है, यथा—क्रोध और मान। इस प्रकार वीर्य से उपार्जित चार स्थानों (कारणों) से जीव ज्ञानावरणीयकर्म बांधता है।

१६७१. एवं णेरइए जाव वेमाणिए।

[१६७१] नैरयिक (से लेकर) यावत् वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार (कहना चाहिए।)

१६७२. जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं कतिहिं ठाणेहिं बंधंति ?

गोयमा ! दोहिं ठाणेहिं, एवं चेव।

[१६७२ प्र.] भगवन् ! बहुत जीव कितने कारणों से ज्ञानावरणीयकर्म बांधते हैं ?

[१६७२ उ.] गौतम ! पूर्वोक्त दो कारणों से (बांधते हैं।) तथा उन दो के भी पूर्ववत् चार प्रकार समझने चाहिए।

१६७३. एवं णेरइया जाव वेमाणिया।

[१६७३] इसी प्रकार बहुत से नैरयिकों (से लेकर) यावत् वैमानिकों तक समझना चाहिए।

१६७४. [१] एवं दंसणावरणिज्जं जाव अंतराइयं।

[१६७४-१] दर्शनावरणीय (से लेकर) यावत् अन्तरायकर्म तक कर्मबन्ध के ये ही कारण समझने चाहिए।

[२] एवं एते एगत्त-पोहत्तिया सोलस दंडगा।

[१६७४-२] इस प्रकार एकत्व (एकवचन) और बहुत्व (बहुवचन) की विवक्षा से ये सोलह दण्डक होते हैं।

विवेचन—कितने कारणों से कर्मबन्ध होता है ? द्वितीय द्वार में कर्मप्रकृतियों के बन्ध का क्रम तथा उनके बहिरंग कारण बताये गए हैं, जबकि इस तृतीय द्वार में कर्मबन्ध के अन्तरंग कारणों पर विचार किया गया है।[1]

राग-द्वेष एवं कषाय का स्वरूप—जो प्रीतिरूप हो, उसे राग और जो अप्रीतिरूप हो, उसे द्वेष कहते हैं। राग दो प्रकार का है—माया और लोभ। चूंकि ये दोनों प्रीतिरूप हैं, इसलिए राग में समाविष्ट हैं, जबकि क्रोध और मान ये दोनों अप्रीतिरूप हैं, इसलिये इनका समावेश द्वेष में हो जाता है। क्रोध तो अप्रीतिरूप है ही, मान भी दूसरों के गुणों के प्रति असहिष्णुतारूप होने से अप्रीतिरूप है।[2]

निष्कर्ष—(मूलपाठ के अनुसार) जीव अपने वीर्य से उपार्जित पूर्वोक्त (दो और) चार कारणों से ज्ञानावरणीय तथा शेष सात कर्मों का बंध करता है / करते हैं।[3]

---

१. पण्णवणासुत्तं भाग २ (२३वें पद पर विचार) पृ. १२५

२. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, पृ. १६९

३. वही पृ. १६९

चतुर्थद्वार : कति-प्रकृतिवेदन-द्वार

१६७५. जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेति ?

गोयमा ! अत्थेगइए वेदेति, अत्थेगइए णो वेदेति ।

[१६७५ प्र.] भगवन् ! क्या जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता है ?

[१६७५ उ.] गौतम ! कोई जीव (ज्ञानावरणीयकर्म का) वेदन करता है और कोई नहीं करता ।

१६७६. [१] णेरइए णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेति ?

गोयमा ! णियमा वेदेति ।

[१६७६-१ प्र.] भगवन् ! क्या नारक ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता (भोगता) है ?

[१६७६-१ उ.] गौतम ! वह नियम से वेदन करता है ।

[२] एवं जाव वेमाणिए । णवरं मणूसे जहा जीवे (सु. १६७५) ।

[१६७६-२] (असुरकुमार से लेकर) यावत् वैमानिकपर्यन्त इसी प्रकार जानना चाहिए, किन्तु मनुष्य के विषय में (सू. १६७५ में उक्त) जीव में समान वक्तव्यता समझनी चाहिए ।

१६७७. [१] जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

गोयमा ! एवं चेव ।

[१६७७-१ प्र.] भगवन् ! क्या बहुत जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन (अनुभव) करते हैं ?

[१६७७-१ उ.] गौतम ! पूर्ववत् सभी कथन जानना ।

[२] एवं जाव वेमाणिया ।

[१६७७-२] इसी प्रकार (बहुत से नैरयिकों से लेकर) यावत् वैमानिकों तक कहना चाहिए ।

१६७८. [१] एवं जहा णाणावरणिज्जं तहा दंसणावरणिज्जं मोहणिज्जं अंतराइयं च ।

[१६७८-१] जिस प्रकार ज्ञानावरणीय के सम्बन्ध में कथन किया गया है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म के वेदन के विषय में समझना चाहिए ।

[२] वेदणिज्जाऽऽउय-णाम-गोयाइं एवं चेव । णवरं मणूसे वि णियमा वेदेति ।

[१६७८-२] वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म के (जीव द्वारा वेदन के) विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए, किन्तु मनुष्य (इन चारों कर्मों का) वेदन नियम से करता है ।

[३] एवं एते एगत्त-पोहत्तिया सोलस दंडगा ।

[१६७८-३] इस प्रकार एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से ये सोलह दण्डक होते हैं ।

विवेचन—समुच्चयजीव द्वारा किन कर्मों का वेदन होता है, किनका नहीं ?—जिस जीव के घातिकर्मों का क्षय नहीं हुआ है, वह ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों का वेदन करता है, किन्तु जिसने घातिकर्मों का क्षय कर डाला है, वह इन चारों कर्मों का वेदन नहीं करता है । मनुष्य को

छोड़कर नैरयिक से लेकर वैमानिक तक कोई भी जीव घातिकर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होते, इसलिए वे ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का वेदन करते हैं, मनुष्यों में जिनके चार घातिकर्मों का क्षय हो चुका है, वे ज्ञानावरणीयादि चार कर्मों का वेदन नहीं करते, परन्तु जिनके चार घातिकर्मों का क्षय नहीं हुआ है, वे उनका वेदन करते हैं। किन्तु वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चार अघाति कर्मों का शेष जीवों की तरह मनुष्य भी वेदन करता है, क्योंकि ये चार अघातिकर्म मनुष्य में चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक बने रहते हैं। समुच्चय जीवों के कथन की अपेक्षा से संसारीजीव इन चार अघातिकर्मों का वेदन करते हैं; किन्तु मुक्त जीव वेदन नहीं करते।[1]

पंचमद्वार : कतिविध-अनुभावद्वार

१६७९. णाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स पुट्ठस्स बद्ध-फास-पुट्ठस्स संचितस्स चियस्स उवचितस्स आवागपत्तस्स विवागपत्तस्स फलपत्तस्स उदयपत्तस्स जीवेणं कडस्स जीवेणं णिव्वत्तियस्स जीवेणं परिणामियस्स सयं वा उदिण्णस्स परेण वा उदीरियस्स तदुभएण वा उदीरिज्जमाणस्स गतिं पप्प ठितिं पप्प भवं पप्प पोग्गलं पप्प पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ?

गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा—सोयावरणे १ सोयविण्णाणावरणे २ णेत्तावरणे ३ णेत्तविण्णाणावरणे ४ घाणावरणे ५ घाणविण्णाणावरणे ६ रसावरणे ७ रसविण्णाणावरणे ८ फासावरणे ९ फासविण्णाणावरणे १०। जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं जाणियव्वं ण जाणइ, जाणिउकामे वि ण याणइ, जाणित्ता वि ण याणति, उच्छण्णणाणी यावि भवति णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं। एस णं गोयमा ! णाणावरणिज्जे कम्मे। एस णं गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविहे अणुभावे पण्णत्ते १।

[१६७९ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध (बांधे गये), स्पृष्ट, बद्ध और स्पृष्ट किये हुए, संचित, चित और उपचित किये हुए, किञ्चित् पाक को प्राप्त, विपाक को प्राप्त, फल को प्राप्त तथा उदय-प्राप्त, जीव के द्वारा कृत, जीव के द्वारा निष्पादित, जीव के द्वारा परिणामित, स्वयं के द्वारा उदीर्ण (उदय को प्राप्त), दूसरे के द्वारा उदीरित (उदीरणा-प्राप्त) या दोनों के द्वारा उदीरणा-प्राप्त, ज्ञानावरणीयकर्म का, गति को प्राप्त करके, स्थिति को प्राप्त करके, भव को, पुद्गल को तथा पुद्गल-परिणाम को प्राप्त करके कितने प्रकार का अनुभाव (फल) कहा गया है ?

[१६७९ उ.] गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को प्राप्त ज्ञानावरणीयकर्म का दस प्रकार का अनुभाव कहा गया है यथा—(१) श्रोत्रावरण, (२) श्रोत्रविज्ञानावरण, (३) नेत्रावरण, (४) नेत्रविज्ञानावरण, (५) घ्राणावरण, (६) घ्राणविज्ञानावरण, (७) रसावरण, (८) रसविज्ञानावरण, (९) स्पर्शावरण और (१०) स्पर्शविज्ञानावरण।

---

१. (क) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. १७५-७६ (ख) पण्णवणासुत्तं भा. २, पृ. १३१

ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से जो पुद्गल को अथवा पुद्गलों को या पुद्गल-परिणाम को अथवा स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम को वेदता है, उनके उदय से जानने योग्य को नहीं जानता, जानने का इच्छुक होकर भी नहीं जानता, जानकर भी नहीं जानता अथवा तिरोहित ज्ञान वाला होता है। गौतम ! यह है ज्ञानावरणीयकर्म। हे गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को प्राप्त करके ज्ञानावरणीयकर्म का दस प्रकार का यह अनुभाव कहा गया है ।। १ ।।

१६८०. दरिसणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प णवविहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा—णिद्दा १ णिद्दाणिद्दा २ पयला ३ पयलापयला ४ थीणगिद्धी ५ चक्खुदंसणावरणे ६ अचक्खुदंसणावरणे ७ ओहिदंसणावरणे ८ केवलदंसणावरणे ९। जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं पासियव्वं ण पासति, पासिउकामे वि ण पासति, पासित्ता वि ण पासति, उच्छन्नदंसणी यावि भवति दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं। एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जे कम्मे। एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प णवविहे अणुभावे पण्णत्ते २।

[१६८० प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को प्राप्त करके दर्शनावरणीयकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ?

[१६८० उ.] गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को प्राप्त दर्शनावरणीयकर्म का नौ प्रकार का अनुभाव कहा गया है। यथा—१. निद्रा, २. निद्रा-निद्रा, ३. प्रचला, ४. प्रचला-प्रचला तथा ५. स्त्यानर्द्धि एवं ६. चक्षुदर्शनावरण, ७. अचक्षुदर्शनावरण, ८. अवधिदर्शनावरण और ९. केवलदर्शनावरण। दर्शनावरण के उदय से जो पुद्गल या पुद्गलों को अथवा पुद्गल-परिणाम को या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम को वेदता है, अथवा उनके उदय से देखने योग्य को नहीं देखता, देखना चाहते हुए भी नहीं देखता, देखकर भी नहीं देखता अथवा तिरोहित दर्शन वाला भी हो जाता है।

गौतम ! यह है दर्शनावरणीयकर्म। हे गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को पाकर दर्शनावरणीयकर्म का नौ प्रकार का अनुभाव कहा गया है ।। २ ।।

१६८१. [१] सातावेदणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ?

गोयमा ! सायावेदणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा—मणुण्णा सद्दा १ मणुण्णा रूवा २ मणुण्णा गंधा ३ मणुण्णा रसा ४ मणुण्णा फासा ५ मणोसुहता ६ वइसुहया ७ कायसुहया ८। जं वेएइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं सातावेदणिज्जं कम्मं वेदेति। एस णं गोयमा ! सातावेदणिज्जे कम्मे। एस णं गोयमा ! सातावेयणिज्जस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते।

[१६८१-१ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् पुद्गल-परिणाम को पाकर सातावेदनीय-कर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ?

[१६८१-१ उ.] गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध सातावेदनीयकर्म का यावत् आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है। यथा—१. मनोज्ञशब्द, २. मनोज्ञरूप, ३. मनोज्ञगन्ध, ४. मनोज्ञरस, ५. मनोज्ञस्पर्श, ६. मन का सौख्य, ७. वचन का सौख्य और ८. काया का सौख्य। जिस पुद्गल का अथवा पुद्गलों का अथवा पुद्गल-परिणाम का या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का वेदन किया जाता है, अथवा उनके उदय से सातावेदनीयकर्म को वेदा जाता है। गौतम ! यह है सातावेदनीयकर्म और हे गौतम ! यह (जीव के द्वारा बद्ध) सातावेदनीयकर्म का यावत् आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है।

[२] असातावेयणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं० तहेव पुच्छा उत्तरं च। नवरं अमणुण्णा सद्दा जाव कायदुहया। एस णं गोयमा ! असायावेदणिज्जस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते ३।

[१६८१-२ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् असातावेदनीयकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत्।

[१६८१-२ उ.] इसका उत्तर भी पूर्ववत् (सातावेदनीयकर्मसम्बन्धी कथन के समान) जानना किन्तु (अष्टविध अनुभाव के नामोल्लेख में) 'मनोज्ञ' के बदले सर्वत्र 'अमनोज्ञ' (तथा सुख के स्थान पर सर्वत्र दुःख) यावत् काया का दुःख जानना। हे गौतम ! इस प्रकार असातावेदनीयकर्म का यह अष्टविध अनुभाव कहा गया है ॥ ३ ॥

१६८२. मोहणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ?

गोयमा ! मोहणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा—सम्मत्तवेयणिज्जे १ मिच्छत्तवेयणिज्जे २ सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे ३ कसायवेयणिज्जे ४ णोकसायवेयणिज्जे ५। जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं मोहणिज्जं कम्मं वेदेति। एस णं गोयमा ! मोहणिज्जे कम्मे। एस णं गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते ४।

[११८२ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध····यावत् मोहनीयकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ?

[१६८२ उ.] गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् मोहनीयकर्म का पाँच प्रकार का अनुभाव कहा गया है। यथा—१. सम्यक्त्व-वेदनीय, २. मिथ्यात्व-वेदनीय, ३. सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, ४. कषाय-वेदनीय और ५. नो-कषाय-वेदनीय।

जिस पुद्गल का अथवा पुद्गलों का या पुद्गल परिणाम का या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का अथवा उनके उदय से मोहनीयकर्म का वेदन किया जाता है। गौतम ! यह है—मोहनीय-कर्म और हे गौतम ! यह मोहनीयकर्म का यावत् पंचविध अनुभाव कहा गया है ॥ ४ ॥

१६८३. आउअस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं० तहेव पुच्छा।

गोयमा ! आउअस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव चउव्विहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा—

णेरइयाउए १ तिरियाउए २ मणुयाउए ३ देवाउए ४। जं वेएइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं आउयं कम्मं वेदेति। एस णं गोयमा! आउए कम्मे। एस णं गोयमा! आउअस्स कम्मस्स जाव चउव्विहे अणुभावे पण्णत्ते ५।

[१६८३ प्र.] भगवन्! जीव के द्वारा बद्ध……यावत् आयुष्यकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१६८३ उ.] गौतम! जीव के द्वारा बद्ध यावत् आयुष्यकर्म का चार प्रकार का अनुभाव कहा गया है। यथा—१. नारकायु, २. तिर्यचायु, ३. मनुष्यायु और ४. देवायु।

जिस पुद्गल अथवा पुद्गलों का, पुद्गल-परिणाम का अथवा स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का या उनके उदय से आयुष्यकर्म का वेदन किया जाता है, गौतम! यह है—आयुष्यकर्म और यह आयुष्यकर्म का यावत् चार प्रकार का अनुभाव कहा गया है ॥ ५ ॥

१६८४. [१] सुभणामस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेणं० पुच्छा।

गोयमा! सुभणामस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव चोद्दसविहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा—इट्ठा सद्दा १ इट्ठा रूवा २ इट्ठा गंधा ३ इट्ठा रसा ४ इट्ठा फासा ५ इट्ठा गती ६ इट्ठा ठिती ७ इट्ठे लावण्णे ८ इट्ठा जसोकित्ती ९ इट्ठे उट्ठाण-कम्म-बल-विरिय-पुरिसक्कार-परक्कमे १० इट्ठस्सरता ११ कंतस्सरता १२ पियस्सरया १३ मणुण्णस्सरया १४। जं वेएइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गल-परिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं सुभणामं कम्मं वेदेति। एस णं गोयमा! सुभनामे कम्मे। एस णं गोयमा! सुभणामस्स कम्मस्स जाव चोद्दसविहे अणुभावे पण्णत्ते।

[१६८४-१ प्र.] भगवन्! जीव के द्वारा बद्ध यावत् शुभ नामकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है? इत्यादि प्रश्न।

[१६८४-१ उ.] गौतम! जीव के द्वारा बद्ध यावत् शुभ नामकर्म का चौदह प्रकार का अनुभाव कहा गया है। यथा—(१) इष्ट शब्द, (२) इष्ट रूप, (३) इष्ट गन्ध, (४) इष्ट रस, (५) इष्ट स्पर्श, (६) इष्ट गति, (७) इष्ट स्थिति, (८) इष्ट लावण्य, (९) इष्ट यशोकीर्ति, (१०) इष्ट उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम, (११) इष्ट-स्वरता, (१२) कान्त-स्वरता, (१३) प्रिय-स्वरता और (१४) मनोज्ञ-स्वरता।

जो पुद्गल अथवा पुद्गलों का या पुद्गल-परिणाम का अथवा स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का वेदन किया जाता है अथवा उनके उदय से शुभनामकर्म को वेदा जाता है, गौतम! यह है शुभनामकर्म तथा गौतम! यह शुभनामकर्म का यावत् चौदह प्रकार का अनुभाव कहा गया है।

[२] दुहणामस्स णं भंते!० पुच्छा।

गोयमा! एवं चेव। णवरं अणिट्ठा सद्दा १ जाव हीणस्सरया ११ दीणस्सरया १२ अणिट्ठस्सरया १३ अकंतस्सरया १४। जं वेदेति सेसं तं चेव जाव चोद्दसविहे अणुभावे पण्णत्ते ६।

[१६८४-२ प्र.] भगवन्! अशुभनामकर्म का जीव के द्वारा बद्ध यावत् कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है? इत्यादि पृच्छा।

[१६८४-२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् अशुभनामकर्म का अनुभाव भी चौदह प्रकार का कहा गया है, (किन्तु वह है इससे विपरीत), यथा—अनिष्ट शब्द आदि यावत् (११) हीन-स्वरता, (१२) दीन-स्वरता, (१३) अनिष्ट-स्वरता और (१४) अकान्त-स्वरता ।

जो पुद्गल आदि का वेदन किया जाता है यावत् अथवा उनके उदय से दुःखनामकर्म को वेदा जाता है । शेष सब पूर्ववत्, यावत् चौदह प्रकार का अनुभाव कहा गया है ।। ६ ।।

१६८५. [१] उच्चागोयस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं० पुच्छा ।

गोयमा ! उच्चागोयस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते । तं जहा—जातिविसिट्ठया १ कुलविसिट्ठया २ बलविसिट्ठया ३ रूवविसिट्ठया ४ तवविसिट्ठया ५ सुयविसिट्ठया ६ लाभविसिट्ठया ७ इस्सरियविसिट्ठया ८ । जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गल-परिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते ।

[१६८५-१ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् उच्चगोत्रकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[१६८५-१ उ.] गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् उच्चगोत्रकर्म का आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है । यथा—(१) जाति-विशिष्टता, (२) कुल-विशिष्टता, (३) बल-विशिष्टता, (४) रूप-विशिष्टता, (५) तप-विशिष्टता, (६) श्रुत-विशिष्टता, (७) लाभ-विशिष्टता और (८) ऐश्वर्य-विशिष्टता ।

जो पुद्गल अथवा पुद्गलों का, पुद्गल-परिणाम का या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का वेदन किया जाता है अथवा उनके उदय से उच्चगोत्रकर्म को वेदा जाता है, यावत् यही उच्चगोत्रकर्म है, जिसका (उपर्युक्त) आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है ।

[२] णीयागोयस्स णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! एवं चेव । णवरं जातिविहीणया जाव १ इस्सरियविहीणया ८ । जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं वा उदएणं जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते ७ ।

[१६८५-२ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् नीचगोत्रकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव ? इत्यादि पृच्छा ।

[१६८५-२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (नीचगोत्र का अनुभाव भी उतने ही प्रकार का है, परन्तु वह विपरीत है) यथा—जातिविहीनता यावत् ऐश्वर्यविहीनता । पुद्गल का, पुद्गलों का, अथवा पुद्गल-परिणाम का या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का जो वेदन किया जाता है अथवा उन्हीं के उदय से नीचगोत्रकर्म का वेदन किया जाता है । गौतम यह है—नीचगोत्रकर्म और यह यावत् उसका आठ प्रकार का अनुभाव कहा गया है ।। ७ ।।

१६८६. अंतराइयस्स ण भंते ! कम्मस्स जीवेणं० पुच्छा ।

गोयमा ! अंतराइयस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते । तं जहा—दाणंतराए १ लाभंतराए २ भोगंतराए ३ उवभोगंतराए ४ वीरियंतराए ५ । जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा जाव वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं वा, तेसिं वा उदएणं अंतराइयं कम्मं वेदेति । एस णं गोयमा ! अंतराइए कम्मे । एस णं गोयमा ! जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते ८ ।

[१६८६ प्र.] भगवन् ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् अन्तरायकर्म का कितने प्रकार का अनुभाव कहा गया है ? इत्यादि पूर्ववत् पृच्छा ।

[१६८६ उ.] गौतम ! जीव के द्वारा बद्ध यावत् अन्तरायकर्म का पांच प्रकार का अनुभाव कहा गया है, यथा—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय ।

पुद्गल का या पुद्गलों का अथवा पुद्गल-परिणाम का या स्वभाव से पुद्गलों के परिणाम का जो वेदन किया जाता है अथवा उनके उदय से जो अन्तरायकर्म को वेदा जाता है । यही है गौतम ! वह अन्तरायकर्म, जिसका हे गौतम ! पांच प्रकार का अनुभाव कहा गया है ।।८।।

विवेचन—बद्ध, पुट्ठ आदि पदों के विशेषार्थ—बद्ध—राग-द्वेष-परिणामों के वशीभूत होकर बांधा गया, अर्थात्—कर्मरूप में परिणत किया गया । **पुट्ठ-स्पृष्ट**— अर्थात् आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त । **बद्धफासपुट्ठ-बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट**—पुनः प्रगाढरूप में बद्ध तथा अत्यन्त स्पर्श से स्पृष्ट, अर्थात् आवेष्टन, परिवेष्टनरूप से अत्यन्त गाढतर बद्ध । **संचित**—जो संचित है, अर्थात्—अबाधाकाल के पश्चात् वेदन के योग्य रूप में निषिक्त किया गया है । **चित**—जो चय को प्राप्त हुआ है, अर्थात् उत्तरोत्तर स्थितियों में प्रदेश-हानि और रसवृद्धि करके स्थापित किया गया है । **उपचित**—उपचित, अर्थात् जो समानजातीय अन्य प्रकृतियों के दलिकों में संक्रमण करके उपचय को प्राप्त है । **विवागपत्त**—जो विपाक को प्राप्त हुआ है, अर्थात् विशेष फल देने को अभिमुख हुआ है । **आवागपत्त**—आपाकप्राप्त, अर्थात् जो थोड़ा-सा फल देने को अभिमुख हुआ है । **फलपत्त**—फलप्राप्त, अर्थात् अतएव जो फल देने को अभिमुख हुआ है । **उदयपत्त**—उदय-प्राप्त, जो सामग्री-वशात् उदय को प्राप्त है । **जीवेणं कडस्स**—जीव के—कर्मबन्धन-बद्ध जीव के द्वारा कृत । आशय यह है कि जीव उपयोग-स्वभाव वाला होने से रागादि परिणाम से युक्त होता है, अन्य नहीं । रागादि परिणाम से युक्त होकर वह कर्मोपार्जन करता है तथा रागादि परिणाम भी कर्मबन्धन से बद्ध जीव के ही होता है, कर्मबन्धनमुक्त सिद्धजीव के नहीं । अतः जीव के द्वारा कृत का भावार्थ है—कर्मबन्धन से बद्ध जीव के द्वारा उपार्जित । कहा भी है—

'जीवस्तु कर्मबन्धन-बद्धो, वीरस्य भगवतः कर्त्ता ।
सन्तत्याऽनाद्यं च तदिष्टं कर्मात्मनः कर्तुः ।।

अर्थात्—भगवान् महावीर के मत में कर्मबन्धन से बद्ध जीव ही कर्मों का कर्ता माना गया है । प्रवाह की अपेक्षा से कर्मबन्धन अनादिकालिक है । अतएव अनादिकालिक कर्मबन्धनबद्ध जीव (आत्मा) ही कर्मो का कर्ता अभीष्ट है ।

जीवेणं णिव्वत्तियस्स—जीव के द्वारा निष्पादित, अर्थात् जो ज्ञानावरणीय आदि कर्म जीव

के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि के रूप में व्यवस्थापित किया गया है। आशय यह है कि कर्मबन्ध के समय जीव सर्वप्रथम कर्मवर्गणा के साधारण (अविशिष्ट) पुद्गलों को ही ग्रहण करता है अर्थात् उस समय ज्ञानावरणीय आदि भेद नहीं होता। तत्पश्चात् अनाभोगिक वीर्य के द्वारा उसी कर्मबन्ध के समय ज्ञानावरणीय आदि विशेषरूप में परिणत—व्यवस्थापित करता है, जैसे—आहार को रसादिरूप धातुओं के रूप में परिणत किया जाता है, इसी प्रकार साधारण कर्मवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके ज्ञानावरणीय आदि विशिष्ट रूपों में परिणत करना 'निर्वर्तन' कहलाता है।

जीवेणं परिणामियस्स—जीव के द्वारा परिणामित, अर्थात् ज्ञान-प्रद्वेष, ज्ञान-निह्नव आदि विशिष्ट कारणों से उत्तरोत्तर परिणाम को प्राप्त किया गया। **सयं वा उदिण्णस्स**—जो ज्ञानावरणीय आदि कर्म स्वतः ही उदय को प्राप्त हुआ है, अर्थात्—परनिरपेक्ष होकर स्वयं ही विपाक को प्राप्त हुआ है। **परेण वा उदीरियस्स**—अथवा दूसरे के द्वारा उदीरित किया गया है, अर्थात्—उदय को प्राप्त कराया गया है। **तदुभएण वा उदीरिज्जमाणस्स**—अथवा जो (ज्ञानावरणीयादि) कर्म स्व और पर के द्वारा उदय को प्राप्त किया जा रहा है।

स्वनिमित्त से उदय को प्राप्त—गतिं पप्प—गति को प्राप्त करके, अर्थात्—कोई कर्म किसी गति को प्राप्त करके तीव्र अनुभाव वाला हो जाता है, जैसे—असातावेदनीय कर्म नरकगति को प्राप्त करके तीव्र अनुभाव वाला हो जाता है। नैरयिकों के लिए असातावेदनीय कर्म जितना तीव्र होता है, उतना तिर्यञ्चों आदि के लिए नहीं होता। **ठितिं पप्प**—स्थिति को प्राप्त अर्थात्—सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त अशुभकर्म मिथ्यात्व के समान तीव्र अनुभाव वाला होता है। **भवं पप्प**—भव को प्राप्त करके। आशय यह है कि कोई-कोई कर्म किसी भवविशेष को पाकर अपना विपाक विशेषरूप से प्रकट करता है। जैसे—मनुष्यभव या तिर्यञ्चभव को पाकर निद्रारूप दर्शनावरणीयकर्म अपना विशिष्ट अनुभाव प्रकट करता है। तात्पर्य यह है ज्ञानावरणीय आदि कर्म उस-उस गति, स्थिति या भव को प्राप्त करके स्वयं उदय को प्राप्त (फलाभिमुख) होता है।

परनिमित्त से उदय को प्राप्त—पोग्गलं पप्प—पुद्गल को प्राप्त करके। अर्थात् काष्ठ, ढेला या तलवार आदि पुद्गलों को प्राप्त करके अथवा किसी के द्वारा फेंके हुए काष्ठ, ढेला, पत्थर, खड्ग आदि के योग से भी असातावेदनीय आदि कर्म का या क्रोधादिरूप कषायमोहनीयकर्म आदि का उदय हो जाता है। **पोग्गलपरिणामं पप्प**—पुद्गल-परिणाम को प्राप्त करके, अर्थात् पुद्गल-परिणाम के योग से भी कोई कर्म उदय में आ जाता है, जैसे—मदिरापान के परिणामस्वरूप ज्ञानावरणीयकर्म का अथवा भक्षित आहार के न पचने से असातावेदनीयकर्म का उदय हो जाता है।[1]

प्रश्न का निष्कर्ष—सू. १६७९ के प्रश्न का निष्कर्ष यह है कि जो ज्ञानावरणीयकर्म बद्ध, स्पृष्ट आदि विभिन्न प्रकार के निमित्तों का योग पाकर उदय में आया है, उसका अनुभाव (विपाक-फल) कितने प्रकार का है?[2]

---

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका भाग. ५, पृ. १८१ से १८४ तक

२. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३६५

ज्ञानावरणीय कर्म का दस प्रकार का अनुभाव : क्या, क्यों और कैसे ?—मूलपाठ में ज्ञानावरणीयकर्म का श्रोत्रावरण आदि दस प्रकार का अनुभाव बताया है। श्रोत्रावरण का अर्थ है—श्रोत्रेन्द्रिय-विषयक क्षयोपशम (लब्धि) का आवरण, श्रोत्रविज्ञानावरण का अर्थ है—श्रोत्रेन्द्रिय के उपयोग का आवरण। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के लब्धि (क्षयोपशम) और उपयोग का आवरण समझ लेना चाहिए।

इनमें से एकेन्द्रिय जीवों को प्रायः श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और रसना-विषयक लब्धि और उपयोग का आवरण होता है। द्वीन्द्रिय जीवों को श्रोत्र, नेत्र और घ्राण-सम्बन्धी लब्धि और उपयोग का आवरण होता है। त्रीन्द्रिय जीवों को श्रोत्र और नेत्र-विषयक लब्धि और उपयोग का आवरण होता है। चतुरिन्द्रिय जीवों को श्रोत्र-विषयक लब्धि और उपयोग का आवरण होता है।

जिनका शरीर कुष्ठ आदि रोग से उपहत हो गया हो, उन्हें स्पर्शेन्द्रिय-सम्बन्धी लब्धि और उपयोग का आवरण होता है। जो जन्म से अन्धे, बहरे, गूंगे आदि हैं या बाद में हो गए हैं, नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों सम्बन्धी लब्धि और उपयोग का आवरण समझ लेना चाहिए।

इन्द्रियों की लब्धि और उपयोग का आवरण स्वयं ही उदय को प्राप्त या दूसरे के द्वारा उदीरित ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**जं वेदेइ पोग्गलं वा** इत्यादि, अर्थात्—दूसरे के द्वारा फेंके गए या प्रहार करने में समर्थ काष्ठ, खड्ग आदि पुद्गल अथवा बहुत-से पुद्गलों से, जो कि ज्ञान का उपघात करने में समर्थ होते हैं, ज्ञान का या ज्ञान-परिणति का उपघात-आघात होता है अथवा जिस भक्षित आहार या सेवित पेय का परिणाम अतिदुःखजनक होता है, उनसे भी ज्ञान-परिणति का उपघात होता है अथवा स्वभाव से शीत, उष्ण, धूप आदिरूप पुद्गल-परिणाम का जब वेदन किया जाता है, तब उससे इन्द्रियों का उपघात (क्षति) होने से ज्ञानपरिणति का भी उपघात होता है, जिसके कारण जीव इन्द्रिय-गोचर ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जान पाता। यहाँ तक ज्ञानावरणकर्म का **सापेक्ष उदय** बताया गया है।

इसके पश्चात् शास्त्रकार **निरपेक्ष उदय** भी बताते हैं—ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलों के उदय से जीव अपने जानने योग्य (ज्ञातव्य) का ज्ञान नहीं कर पाता, जानने की इच्छा होने पर भी जानने में समर्थ नहीं होता अथवा पहले जान कर भी पश्चात् ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से नहीं जान पाता, अथवा ज्ञानावरणीयकर्म के उदय से जीव का ज्ञान तिरोहित (लुप्त) हो जाता है। यही ज्ञानावरणीयकर्म का स्वरूप है।[1]

दर्शनावरणीयकर्म का नवविध अनुभाव : कारण, प्रकार और उदय—दर्शनावरणीयकर्म के अनुभाव के कारण वे ही बद्ध, स्पृष्ट आदि हैं, जो ज्ञानावरणीयकर्म के अनुभाव के लिए बताये हैं। वे अनुभाव नौ प्रकार के हैं, जिनमें निद्रादि का स्वरूप दो गाथाओं में इस प्रकार बताया गया है—

> **सुह-पडिबोहा णिद्दा, णिद्दाणिद्दा य दुक्खपडिबोहा।**
> **पयला होइ ठियस्स उ, पयल-पयला य चकमतो ॥ १ ॥**
> **थीणगिद्धी पुण अइसंकिलिट्ठ-कम्माणुवेयणे होई।**
> **महणिद्दा दिण-चिंतिय-वावार-पसाहणी पायं ॥ २ ॥**

---

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका भाग ५, पृ. १८५-१८६

अर्थात्—जिस निद्रा से सरलतापूर्वक जागा जा सके, वह 'निद्रा' है। जो निद्रा बड़ी कठिनाई से भंग हो, ऐसी गाढ़ी नींद को 'निद्रानिद्रा' कहते हैं। बैठे-बैठे आने वाली निद्रा 'प्रचला' कहलाती है तथा चलते-फिरते आने वाली निद्रा 'प्रचला-प्रचला' है। अत्यन्त संक्लिष्ट कर्मपरमाणुओं का वेदन होने पर आने वाली निद्रा स्त्यानर्द्धि या स्त्यानगृद्धि कहलाती है। इस महानिद्रा में जीव अपनी शक्ति से अनेकगुणी अधिक शक्ति पाकर प्रायः दिन में सोचे हुए असाधारण कार्य कर डालता है।

चक्षुदर्शनावरण आदि का स्वरूप—चक्षुदर्शनावरण—नेत्र के द्वारा होनेवाले दर्शन—सामान्य उपयोग का आवृत हो जाना। **अचक्षुदर्शनावरण**—नेत्र के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से होने वाले सामान्य उपयोग का आवृत होना। **अवधिदर्शनावरण**—अवधिदर्शन का आवृत हो जाना। **केवल-दर्शनावरण**—केवलदर्शन को उत्पन्न न होने देना।

दर्शनावरणीयकर्मोदय का प्रभाव—ज्ञानावरणीयकर्म की तरह दर्शनावरणीयकर्म में भी स्वयं उदय को प्राप्त अथवा दूसरे के द्वारा उदीरित दर्शनावरणीयकर्म के उदय से इन्द्रियों के लब्धि और उपयोग का आवरण हो जाता है। पूर्ववत् दर्शन-परिणाम का उपघात होता है, जिसके कारण जीव द्रष्टव्य—देखने योग्य इन्द्रियगोचर वस्तु को भी नहीं देख पाता, इत्यादि दर्शनावरणीयकर्म के उदय से पूर्ववत् दर्शनगुण की विविध प्रकार से क्षति हो जाती है।[1]

सातावेदनीय और असातावेदनीयकर्म का अष्टविध अनुभाव : कारण, प्रकार और उदय—सातावेदनीय और असातावेदनीय दोनों प्रकार के वेदनीयकर्मों के आठ-आठ प्रकार के अनुभाव बताए गए हैं। इन अनुभावों के कारण तो वे ही ज्ञानावरणीयकर्म-सम्बन्धी अनुभाव के समान हैं।

सातावेदनीय के अष्टविध अनुभावों का स्वरूप—(१) मनोज्ञ वेणु, वीणा आदि के शब्दों की प्राप्ति, (२) मनोज्ञ रूपों की प्राप्ति, (३) मनोज्ञ इत्र, चन्दन, फूल आदि सुगन्धों की प्राप्ति, (४) मनोज्ञ सुस्वादु रसों की प्राप्ति, (५) मनोज्ञ स्पर्शों की प्राप्ति, (६) मन में सुख का अनुभव, (७) वचन में सुखीपन, जिसका वचन सुनने मात्र से कर्ण और मन में आह्लाद उत्पन्न करने वाला हो और (८) काया का सुखीपन। सातावेदनीयकर्म के उदय से आठ प्रकार के अनुभाव होते हैं।

परनिमित्तक सातावेदनीयकर्मोदय—जिन माला, चन्दन आदि एक या अनेक पुद्गलों का आसेवन किया (वेदा) जाता है अथवा देश, काल, वय एवं अवस्था के अनुरूप आहारपरिणतिरूप पुद्गल-परिणाम वेदा जाता है अथवा स्वभाव से पुद्गलों के शीत, उष्ण, आतप आदि की वेदना के प्रतीकार के लिए यथावसर अभीष्ट पुद्गल-परिणाम का सेवन किया (वेदा) जाता है, जिससे मन को समाधि—प्रसन्नता प्राप्त होती है। यह परनिमित्तक सातावेदनीयकर्मों के उदय से सातावेदनीयकर्म का अनुभाव है। सातावेदनीयकर्म के फलस्वरूप साता-सुख का संवेदन (अनुभव) होता है। साता-वेदनीयकर्म के स्वतः उदय होने पर कभी-कभी मनोज्ञ शब्दादि (परनिमित्त) के बिना भी सुखसाता का संवेदन होता है। जैसे—तीर्थंकर भगवान् का जन्म होने पर नारक जीव भी किंचित् काल पर्यन्त सुख का वेदन (अनुभव) करते हैं।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. १८९ से १९१

असातावेदनीयकर्म का अष्टविध अनुभाव—सातावेदनीय के अनुभाव (विपाक) के समान है पर यह अनुभाव सातावेदनीय से विपरीत है। विष, शस्त्र, कण्टक आदि पुद्गल या पुद्गलों का जब वेदन किया जाता है अथवा अपथ्य या नीरस आहारादि पुद्गल-परिणाम का अथवा स्वभाव से यथाकाल होने वाले शीत, उष्ण, आतप आदिरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, तब मन को असमाधि होती है, शरीर को भी दुःखानुभव होता है तथा तदनुरूप वाणी से भी असाता के उद्गार निकलते हैं। ऐसा अनुभाव असातावेदनीय का है। असातावेदनीयकर्म के उदय से असाता-रूप (दुःखरूप) फल प्राप्त होता है। यह परतः असातावेदनीयोदय का प्रतिपादन है। किन्तु विना ही किसी परनिमित्त के असातावेदनीयकर्म-पुद्गलों के उदय से जो दुःखानुभव (दुःखवेदन) होता है, वह स्वतः असातावेदनीयोदय है।[1]

मोहनीयकर्म का पंचविध अनुभाव : क्या, क्यों और कैसे ?—पूर्वोक्त प्रकार से जीव के द्वारा बद्ध आदि विशिष्ट मोहनीयकर्म का पांच प्रकार का अनुभाव है—(१) सम्यक्त्ववेदनीय, (२) मिथ्यात्व-वेदनीय, (३) सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय, (४) कषायवेदनीय और (५) नोकषायवेदनीय। इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

सम्यक्त्ववेदनीय—जो मोहनीयकर्म सम्यक्त्व-प्रकृति के रूप में वेदन करने योग्य होता है, उसे सम्यक्त्ववेदनीय कहते हैं, अर्थात्—जिसका वेदन होने पर प्रशम आदि परिणाम उत्पन्न होता है, वह सम्यक्त्ववेदनीय है। **मिथ्यात्ववेदनीय**—जो मोहनीयकर्म मिथ्यात्व के रूप में वेदन करने योग्य है, उसे मिथ्यात्ववेदनीय कहते हैं। अर्थात्—जिसका वेदन होने पर दृष्टि मिथ्या हो जाती है, अर्थात् अदेव आदि में देव आदि की बुद्धि उत्पन्न होती है, वह मिथ्यात्ववेदनीय है। **सम्यक्त्व-मिथ्यात्ववेदनीय**—जिसका वेदन होने पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिला-जुला परिणाम उत्पन्न होता है, वह सम्यक्त्वमिथ्यात्ववेदनीय है। **कषायवेदनीय**—जिसका वेदन क्रोधादि परिणामों का कारण होता है, वह कषायवेदनीय है। **नोकषायवेदनीय**—जिसका वेदन हास्य आदि का कारण हो, वह नोकषायवेदनीय है।

परतः मोहनीय-कर्मोदय का प्रतिपादन—जिस पुद्गल-विषय अथवा जिन बहुत से पुद्गल विषयों—का वेदन किया जाता है। अथवा जिस पुद्गल-परिणाम को, जो कर्म पुद्गल-विशेष को ग्रहण करने में समर्थ हो एवं देश-काल के अनुरूप आहार परिणामरूप हो, वेदन किया जाता है। जैसे कि ब्राह्मी आदि के आहार-परिणमन से ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि आहार के परिणमन-विशेष से भी कभी-कभी कर्मपुद्गलों में विशेषता आ जाती है। कहा भी है—

उदय-क्खय-खओवसमोवसमा वि य जं च कम्मुणो भणिया।
दव्वं खेत्तं कालं भावं च भवं च संपप्प ॥१॥

अर्थात्—कर्मों के जो उदय, क्षय, क्षयोपशम और उपशम कहे गए हैं, वे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव का निमित्त पाकर होते हैं अथवा स्वभाव से ही जिस पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, जैसे—आकाश में बादलों आदि के विकार को देख कर मनुष्यों को ऐसा वेदन

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. २०४-२०५

(विवेक) उत्पन्न होता है कि मनुष्यों की आयु शरद् ऋतु के मेघों के समान है, सम्पत्ति पुष्पित वृक्ष के सार के समान है और विषयोपभोग स्वप्न में दृष्ट वस्तुओं के उपभोग के समान है। वस्तुतः इस जगत् में जो भी रमणीय प्रतीत होता है, वह केवल कल्पनामात्र ही है अथवा प्रशम आदि के कारणभूत जिस किसी बाह्य पदार्थ के प्रभाव से सम्यक्त्वमोहनीय आदि मोहनीयकर्म का वेदन किया जाता है, यह परतः मोहनीयकर्मोदय का प्रतिपादन है।

स्वतः मोहनीयकर्मोदय-प्रतिपादन—जो सम्यक्त्ववेदनीय आदि कर्मपुद्गलों के उदय से मोहनीयकर्म का वेदन (प्रशमादिरूपफल का वेदन) किया जाता है, वह स्वतः मोहनीय कर्मोदय है।[1]

आयुकर्म का अनुभाव : प्रकार, स्वरूप, कारण—आयुकर्म का अनुभाव चार प्रकार से होता है—नैरयिकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

परतः आयुकर्म का उदय—आयु का अपवर्तन (ह्रास) करने में समर्थ जिस या जिन शस्त्र आदि पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है अथवा विष एवं अन्न आदि परिणामरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है अथवा स्वभाव से आयु का अपवर्तन करने वाले शीत-उष्णादिरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, उससे भुज्यमान आयु का अपवर्तन होता है। यह है—आयुकर्म के परतः उदय का निरूपण।

स्वतः आयुकर्म का उदय—नारकायुकर्म आदि के पुद्गलों के उदय से जो नारकायु आदि कर्म का वेदन किया जाता है, वह स्वतः आयुकर्म का उदय है।[2]

नामकर्म के अनुभावों का निरूपण—नामकर्म के मुख्यतया दो भेद हैं—शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म। शुभनामकर्म का इष्ट शब्द आदि १४ प्रकार का अनुभाव (विपाक) कहा है। उनका स्वरूप इस प्रकार है—इष्ट का अर्थ है—अभिलषित (मनचाहा)। नामकर्म का प्रकरण होने से यहाँ अपने ही शब्द आदि समझने चाहिए। अपना ही अभीष्ट शब्द (वचन) इष्ट शब्द है। इसी तरह इष्ट रूप, गन्ध, रस और स्पर्श समझना चाहिए। इष्ट गति के दो अर्थ हैं—(१) देवगति या मनुष्य-गति अथवा (२) हाथी आदि जैसी उत्तम चाल। इष्ट स्थिति का अर्थ है—इष्ट और सहज सिंहासन आदि पर आरोहण। इष्ट लावण्य अर्थात्—अभीष्ट कान्ति-विशेष अथवा शारीरिक सौन्दर्य। इष्ट यशः **कीर्ति**—विशिष्ट पराक्रम प्रदर्शित करने से होने वाली ख्याति को यश कहते हैं और दान, पुण्य आदि से होने वाली ख्याति को कीर्ति कहते हैं। **उत्थानादि छह का विशेषार्थ**—शरीर-सम्बन्धी चेष्टा को **उत्थान,** भ्रमण आदि को **कर्म,** शारीरिक शक्ति को **बल,** आत्मा से उत्पन्न होने वाले सामर्थ्य को **वीर्य,** आत्मजन्य स्वाभिमान-विशेष को **पुरुषकार** और अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लेने वाले पुरुषार्थ को **पराक्रम** कहते हैं। **इष्ट स्वर**—वीणा आदि के समान वल्लभ स्वर। **कान्तस्वर**—कोकिला के स्वर के समान कमनीय स्वर। इष्ट सिद्धि आदि सम्बन्धी स्वर के समान जो स्वर बार-बार अभि-लषणीय हो, वह **प्रियस्वर;** तथा मनोवांछित लाभ आदि के तुल्य जो स्वर स्वाश्रय में प्रीति उत्पन्न कराए, वह **मनोज्ञ स्वर** कहलाता है।

शुभनामकर्म के परतः एवं स्वतः उदय का निरूपण—वीणा, वेणु, वर्ण, गन्ध, ताम्बूल, पट्टाम्बर, पालखी, सिंहासन आदि शुभ पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, इन वस्तुओं

---

१. प्रज्ञापनासूत्र प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५ पृ. २०८ से २१० तक

२. वही, भा. ५, पृ. २११

(पुद्गलों) के निमित्त से शब्द आदि की अभीष्टता सूचित की गई है। अथवा जिस ब्राह्मी औषधि आदि आहार के परिणमनरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है। अथवा स्वभाव से शुभ मेघ आदि की छटा या घटाटोप को देखकर शुभ पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है। जैसे—वर्षाकालीन मेघों की घटा देखकर युवतियाँ इष्ट स्वर में गान करने में प्रवृत्त होती हैं। उसके प्रभाव से शुभनामकर्म का वेदन किया जाता है। अर्थात् शुभनामकर्म के फलस्वरूप इष्ट-स्वरता आदि का अनुभव होता है। यह परनिमित्तक शुभनामकर्म का उदय है। जब शुभनामकर्म के पुद्गलों के उदय से इष्ट शब्दादि शुभनामकर्म का वेदन होता है, तब स्वतः नामकर्म का उदय समझना चाहिए।

अशुभनामकर्म का अनुभाव—जीव के द्वारा बद्ध, स्पृष्ट आदि विशेषणों से विशिष्ट दुःख (अशुभ) नामकर्म का अनुभाव भी पूर्ववत् १४ प्रकार का है, किन्तु वह शुभ से विपरीत है। जैसे—अनिष्ट शब्द इत्यादि।

गधा, ऊंट, कुत्ता आदि के शब्दादि अशुभ पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, क्योंकि उनके सम्बन्ध से अनिष्ट शब्दादि उत्पन्न होते हैं। यह सब पूर्वोक्त शुभनामकर्म से विपरीतरूप में समझ लेना चाहिए। अथवा विष आदि आहार-परिणामरूप जिस पुद्गल-परिणाम का या स्वभावतः वज्रपात (विजली गिरना) आदिरूप जिस पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है तथा उसके प्रभाव से अशुभनामकर्म के फलस्वरूप अनिष्टस्वरता आदि का अनुभव होता है। यह परतः अशुभनामकर्मोदय का अनुभाव है। जहाँ नामकर्म के अशुभकर्मपुद्गलों से अनिष्ट शब्दादि का वेदन होता हो, वहाँ स्वतः अशुभनामकर्मोदय समझना चाहिए।[1]

गोत्रकर्म का अनुभाव : भेद, प्रकार, कारण—गोत्रकर्म के भी मुख्यतया दो भेद हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। उच्च जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य की विशिष्टता का अनुभव (वेदन) उच्चगोत्रानुभाव है तथा नीच जाति आदि की विशिष्टता का अनुभव नीचगोत्रानुभाव है।

उच्चगोत्रानुभाव : कैसे और किन कारणों से ?—उस-उस द्रव्य के संयोग से या राजा आदि विशिष्ट पुरुष के संयोग से नीच जाति में जन्मा हुआ पुरुष भी जातिसम्पन्न और कुलसम्पन्न के समान लोकप्रिय हो जाता है। यह जाति और कुल की विशिष्टता हुई। बलविशेषता भी मल्ल आदि किसी विशिष्ट पुरुष के संयोग से होती है। जैसे—लकड़ी घुमाने से मल्लों में शारीरिक बल पैदा होता है, यह बल की विशेषता है। विशेष प्रकार के वस्त्रों और अलंकारों से रूप की विशेषता उत्पन्न होती है। पर्वत की चोटी पर खड़े होकर आतापना आदि लेने वाले में तप की विशेषता उत्पन्न होती है। रमणीय भूभाग में स्वाध्याय करने वाले में श्रुत की विशेषता उत्पन्न होती है। बहुमूल्य उत्तम रत्न आदि के संयोग से लाभ की विशेषता उत्पन्न होती है। धन, स्वर्ण आदि के सम्बन्ध से ऐश्वर्य की विशेषता उत्पन्न होती है। इस प्रकार बाह्य द्रव्यरूप शुभ पुद्गल या पुद्गलों का जो वेदन किया जाता है, या दिव्य फल आदि के आहार-परिणामरूप जिस पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, अथवा स्वभाव से जिन पुद्गलों का परिणाम, अकस्मात् जल धारा के आगमन आदि के रूप में वेदा जाता है, यही है उच्चगोत्र कर्मफल का वेदन। ये परतः उच्चगोत्रनामकर्मोदय के कारण हैं। स्वतः उच्चगोत्रकर्मोदय में तो उच्चगोत्र-नामकर्म के पुद्गलों का उदय ही कारण है।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. २१३ से २१७ तक

नीचगोत्रानुभाव : प्रकार और कारण—पूर्ववत् नीचगोत्रानुभाव भी ८ प्रकार का है, और उच्चगोत्र के फल से नीचगोत्र का फल एकदम विपरीत है। यथा—जाति-विहीनता आदि।

जाति-कुल-विहीनता—अधम कर्म या अधम पुरुष के संसर्गरूप-पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, जैसे कि अधर्मकर्मवशात् उत्तम कुल और जाति वाला व्यक्ति अधम आजीविका या चाण्डालकन्या का सेवन करता है, तब वह चाण्डाल के समान ही लोक-निन्दनीय होता है, यह जाति-कुल-विहीनता है। सुखशय्या आदि का योग न होने से बलहीनता होती है। दूषित अन्न, खराब वस्त्र आदि के योग से रूपहीनता होती है। दुष्ट जनों के सम्पर्क से तपोहीनता उत्पन्न होती है। साध्वाभास आदि के सम्पर्क से श्रुतविहीनता होती है। देशकाल आदि के प्रतिकूल कुक्रय (गलत खरीद) आदि से लाभविहीनता होती है। खराब घर एवं कुलटा स्त्री आदि के सम्पर्क से ऐश्वर्यहीनता होती है। अथवा बैंगन आदि आहारपरिणमनरूप पुद्गल-परिणाम का वेदन किया जाता है, क्योंकि बैंगन खाने से खुजली होती है, और उससे रूपविहीनता उत्पन्न होती है। अथवा स्वभाव से अशुभपुद्गल-परिणाम का जो वेदन किया जाता है, जैसे जलधारा के आगमन-सम्बन्धी विसंवाद, उसके प्रभाव से भी नीचगोत्रकर्म के फलस्वरूप जातिविहीनता आदि का वेदन होता है। यह परतः नीचगोत्रकर्मोदय का निरूपण हुआ। स्वतः नीचगोत्रोदय में नीचगोत्रकर्म के पुद्गलों का उदय कारणरूप होता है। उससे जातिविहीनता आदि का अनुभव किया जाता है।[1]

अन्तरायकर्म का पंचविध अनुभाव : स्वरूप और कारण—दान देने में विघ्न आ जाना दानान्तराय है, लाभ में बाधाएँ आना लाभान्तराय है, इसी प्रकार भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न होना भोगान्तराय आदि है।

विशिष्ट प्रकार के रत्नादि पुद्गल या पुद्गलों का वेदन किया जाता है, यावत् विशिष्ट रत्नादि पुद्गलों के सम्बन्ध से उस विषय में ही दानान्तरायकर्म का उदय होता है। सेंध आदि लगाने के उपकरण आदि के सम्बन्ध से लाभान्तराय कर्मोदय होता है। विशेष प्रकार के आहार के या अभोज्य अर्थ के सम्बन्ध से लोभ के कारण भोगान्तरायकर्म का उदय होता है। इसी प्रकार उपभोगान्तराय कर्म का उदय भी समझ लेना चाहिए। लकड़ी, शस्त्र आदि की चोट से वीर्यान्तराय का उदय होता है। अथवा जिस पुद्गलपरिणाम का—विशिष्ट आहार-औषध का वेदन किया जाता है, उससे भी, यानि विशिष्ट प्रकार के आहार और औषध आदि के परिणाम से वीर्यान्तरायकर्म का उदय होता है। अथवा स्वभाव से विचित्र शीत आदिरूप पुद्गलों के परिणाम के वेदन से भी दानान्तरायादि कर्मों का उदय होता है। जैसे—कोई व्यक्ति वस्त्र आदि का दान देना चाहता है, मगर गर्मी, सर्दी आदि का आवागमन देखकर दान नहीं कर पाता,—अदाता बन जाता है। यह हुआ परतः दानान्तरायदिकर्मोदय का प्रतिपादन। स्वतः दानान्तरायादिकर्मोदय में तो अन्तरायकर्म के पुद्गलों के उदय से दानान्तरायादि अन्तरायकर्म के फल का वेदन (अनुभव) होता है।[2]

॥ तेईसवाँ कर्म-प्रकृतिपद : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. २१८ से २२२ तक
२. वही, भा. ५, पृ. २२३ से २२४

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

मूल और उत्तर कर्मप्रकृतियों के भेद-प्रभेद की प्ररूपणा

१६८७. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

[१६८७ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही हैं ?

[१६८७ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियां आठ कही गई हैं । यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय ।

१६८८. णाणावरणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—आभिणिबोहियणाणावरणिज्जे जाव केवलणाणावरणिज्जे ।

[१६८८ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६८८ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है । यथा—आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय यावत् केवलज्ञानावरणीय ।

१६८९. [१] दरिसणावरणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—णिद्दापंचए य दंसणचउक्कए य ।

[१६८९-१ प्र.] भगवन् ! दर्शनावरणीयकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[१६८९-१ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा है । यथा—निद्रा-पंचक और दर्शनचतुष्क ।

[२] णिद्दापंचए णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा—णिद्दा जाव थीणगिद्धी ।

[१६८९-२ प्र.] भगवन् ! निद्रा-पंचक कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६८९-२ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है । यथा—निद्रा यावत् स्त्यानगृद्धि (स्त्यानर्द्धि) ।

[३] दंसणचउक्कए णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—चक्खुदंसणावरणिज्जे जाव केवलदंसणावरणिज्जे ।

[१६८९-३ प्र.] भगवन् ! दर्शनचतुष्क कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६८९-३ उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है । यथा—चक्षुदर्शनावरण यावत् केवलदर्शनावरण ।

१६९०. [१] वेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सातावेदणिज्जे य असातावेयणिज्जे य ।

[१६९०-१ प्र.] भगवन् ! वेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९०-१ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—सातावेदनीय और असातावेदनीय।

[२] सातावेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे० पुच्छा।

गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते। तं जहा—मणुण्णा सद्दा जाव कायसुहया (सु. १६८१ [१])।

[१६९०-२ प्र.] भगवन् ! सातावेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९०-२ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है। यथा—(सू. १६८१-१ के अनुसार) मनोज्ञ शब्द यावत् कायसुखता।

[३] असायावेदणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते। तं जहा—अमणुण्णा सद्दा जाव कायदुहया।

[१६९०-३ प्र.] भगवन् ! असातावेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९०-३ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है।

१६९१. [१] मोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—दंसणमोहणिज्जे य चरित्तमोहणिज्जे य।

[१६९१-१ प्र.] भगवन् ! मोहनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है।

[१६९१-१ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

[२] दंसणमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सम्मत्तवेयणिज्जे १ मिच्छत्तवेयणिज्जे २ सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे ३ य।

[१६९१-२ प्र.] भगवन् ! दर्शन-मोहनीयकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[१६९१-२ उ.] गौतम ! दर्शन-मोहनीयकर्म तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) सम्यक्त्ववेदनीय, (२) मिथ्यात्ववेदनीय और (३) सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय।

[३] चरित्तमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—कसायवेयणिज्जे य णोकसायवेयणिज्जे य।

[१६९१-३ प्र.] भगवन् ! चारित्रमोहनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९१-३ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय।

[४] कसायवेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! सोलसविहे पण्णत्ते। तं जहा—अणंताणुबंधी कोहे १ अणंताणुबंधी माणे २ अणंताणुबंधी माया ३ अणंताणुबंधी लोभे ४ अपच्चक्खाणे कोहे ५ एवं माणे ६ माया ७ लोभे ८

पच्चक्खाणावरणे कोहे ९ एवं माणे १० माया ११ लोभे १२ संजलणे कोहे १३ एवं माणे १४ माया १५ लोभे १६।

[१६९१-४ प्र.] भगवन् ! कषायवेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९१-४ उ.] गौतम ! वह सोलह प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध, (२) अनन्तानुबन्धी मान, (३) अनन्तानुबन्धी माया, (४) अनन्तानुबन्धी लोभ, (५-६-७-८) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ (९-१०-११-१२) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ, इसी प्रकार (१३-१४-१५-१६) संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ।

[५] णोकसायवेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! णवविहे पण्णत्ते। तं जहा—इत्थिवेए १ पुरिसवेए २ णपुंसगवेदे ३ हासे ४ रती ५ अरती ६ भये ७ सोगे ८ दुगुंछा ९।

[१६९१-५ प्र.] भगवन् ! नोकषाय-वेदनीयकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९१-५ उ.] गौतम ! वह नौ प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) स्त्रीवेद, (२) पुरुषवेद, (३) नपुंसकवेद, (४) हास्य, (५) रति, (६) अरति, (७) भय, (८) शोक और (९) जुगुप्सा।

१६९२. आउए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—णेरइयाउए जाव देवाउए।

[१६९२ प्र.] भगवन् ! आयुकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[१६९२ उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है। यथा—नारकायु यावत् देवायु।

१६९३. णामे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! बायालीसइविहे पण्णत्ते। तं जहा—गतिणामे १ जाइणामे २ सरीरणामे ३ सरीरंगोवंगणामे ४ सरीरबंधणणामे ५ सरीरसंघायणामे ६ संघयणणामे ७ संठाणणामे ८ वण्णणामे ९ गंधणामे १० रसणामे ११ फासणामे १२ अगुरुलहुयणामे १३ उवघायणामे १४ पराघायणामे १५ आणुपुव्वीणामे १६ उस्सासणामे १७ आयवणामे १८ उज्जोयणामे १९ विहायगतिणामे २० तसणामे २१ थावरणामे २२ सुहुमणामे २३ बादरणामे २४ पज्जत्तणामे २५ अपज्जत्तणामे २६ साहारणसरीरणामे २७ पत्तेयसरीरणामे २८ थिरणामे २९ अथिरणामे ३० सुभणामे ३१ असुभणामे ३२ सुभगणामे ३३ दूभगणामे ३४ सूसरणामे ३५ दूसरणामे ३६ आदेज्जणामे ३७ अणादेज्जणामे ३८ जसोकित्तिणामे ३९ अजसोकित्तिणामे ४० णिम्माणणामे ४१ तित्थगरणामे ४२।

[१६९३ प्र.] भगवन् ! नामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९३ उ.] गौतम ! वह बयालीस प्रकार का कहा है। यथा—(१) गतिनाम, (२) जातिनाम, (३) शरीरनाम, (४) शरीरांगोपांगनाम, (५) शरीर-बन्धननाम, (६) शरीर-संघातनाम, (७) संहनननाम, (८) संस्थाननाम, (९) वर्णनाम, (१०) गन्धनाम, (११) रसनाम, (१२) स्पर्शनाम, (१३) अगुरुलघुनाम, (१४) उपघातनाम, (१५) पराघातनाम, (१६) आनुपूर्वीनाम, (१७) उच्छ्वासनाम, (१८) आतप-नाम, (१९) उद्योत-नाम, (२०) विहायोगति-नाम, (२१) त्रस-नाम

(२२) स्थावर-नाम, (२३) सूक्ष्म-नाम, (२४) बादर-नाम, (२५) पर्याप्त-नाम, (२६) अपर्याप्त-नाम, (२७) साधारण-शरीरनाम, (२८) प्रत्येक-शरीरनाम, (२९) स्थिर-नाम, (३०) अस्थिर-नाम, (३१) शुभनाम, (३२) अशुभनाम, (३३) सुभग-नाम, (३४) दुर्भग-नाम, (३५) सुस्वर-नाम, (३६) दुःस्वर-नाम, (३७) आदेय-नाम, (३८) अनादेय-नाम, (३९) यशःकीर्ति-नाम, (४०) अयशःकीर्ति-नाम, (४१) निर्माण-नाम और (४२) तीर्थंकर-नाम।

१६९४. [१] गतिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—णिरयगतिणामे १ तिरियगतिणामे २ मणुयगतिणामे ३ देवगतिणामे ४।

[१६९४-१ प्र.] भगवन् ! गतिनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९४-१ उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) नरकगतिनाम, (२) तिर्यञ्चगतिनाम, (३) मनुष्यगतिनाम और (४) देवगतिनाम।

[२] जाइणामे णं भंते ! कम्मे० पुच्छा।

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—एगिंदियजाइणामे जाव पंचेंदियजाइणामे।

[१६९४-२ प्र.] भगवन् ! जातिनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९४-२ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—एकेन्द्रियजातिनाम, यावत् पंचेन्द्रियजातिनाम।

[३] सरीरणामे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—ओरालियसरीरणामे जाव कम्मगसरीरणामे।

[१६९४-३ प्र.] भगवन् ! शरीरनामकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[१६९४-३ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—औदारिकशरीरनाम यावत् कार्मणशरीरनाम।

[४] सरीरंगोवंगणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—ओरालियसरीरंगोवंगणामे १ वेउव्वियसरीरंगोवंगणामे २ आहारगसरीरंगोवंगणामे ३।

[१६९४-४ प्र.] भगवन् ! शरीरांगोपांगनाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९४-४ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) औदारिकशरीरांगोपांग, (२) वैक्रियशरीरांगोपांग और (३) आहारकशरीरांगोपांग नामकर्म।

[५] सरीरबंधणणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—ओरालियसरीरबंधणणामे जाव कम्मगसरीरबंधणणामे।

[१६९४-५ प्र.] भगवन् ! शरीरबन्धननाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९४-५ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—औदारिकशरीरबन्धन-नाम, यावत् कार्मणशरीरबन्धननाम।

[६] सरीरसंघायणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—ओरालियसरीरसंघातणामे जाव कम्मगसरीर-संघायणामे।

[१६९४-६ प्र.] भगवन् ! शरीरसंघातनामकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[१६९४-६ प्र.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—औदारिकशरीरसंघात नामकर्म यावत् कार्मणशरीरसंघातनामकर्म।

[७] संघयणणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—वइरोसभणारायसंघयणणामे १ उसभणारायसंघयणणामे २ णारायघसंयणणामे ३ अद्धणारायसंघयणणामे ४ कीलियासंघयणणामे ५ छेवट्टसंघयणणामे ६।

[१६९४-७ प्र.] भगवन् ! संहनननामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है।

[१६९४-७ उ.] गौतम ! वह छह प्रकार का कहा है। यथा—(१) वज्रऋषभनाराचसंहनन-नाम, (२) ऋषभनाराचसंहनननाम, (३) नाराचसंहनननाम, (४) अर्द्धनाराचसंहनननाम, (५) कीलिकासंहनननाम और (६) सेवार्त्तसंहनननामकर्म।

[८] संठाणणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—समचउरंससंठाणणामे १ णग्गोहपरिमंडलसंठाणणामे २ सातिसंठाणणामे ३ वामणसंठाणणामे ४ खुज्जसंठाणणामे ५ हुंडसंठाणणामे ६।

[१६९४-८ प्र.] भगवन् ! संस्थाननामकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[१६९४-८ उ.] गौतम ! वह छह प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) समचतुरस्रसंस्थान-नाम, (२) न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, (३) सादिसंस्थाननाम, (४) वामनसंस्थाननाम, (५) कुब्ज-संस्थाननाम और (६) हुण्डकसंस्थाननामकर्म।

[९] वण्णणामे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—कालवण्णणामे जाव सुक्किलवण्णणामे।

[१६९४-९ प्र.] भगवन् ! वर्णनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९४-९ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—कालवर्णनाम यावत् शुक्ल-वर्णनाम।

[१०] गंधणामे णं भंते ! कम्मे० पुच्छा।

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सुरभिगंधणामे १ दुरभिगंधणामे २।

[१६९४-१० प्र.] भगवन् ! गन्धनामकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

[१६९४-१० उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—सुरभिगन्धनाम और दुरभिगन्धनामकर्म।

[११] रसणामे णं० पुच्छा।

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—तित्तरसणामे जाव महुररसणामे।

[१६९४-११ प्र.] भगवन् ! रसनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९४-११ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—तिक्तरसनाम यावत् मधुररसनामकर्म।

[१२] फासणामे णं० पुच्छा।

गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते। तं जहा—कक्खडफासणामे जाव लुक्खफासणामे।

[१६९४-१२ प्र.] भगवन् ! स्पर्शनामकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९४-१२ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है। यथा—कर्कशस्पर्शनाम यावत् रूक्षस्पर्शनामकर्म।

[१३] अगुरुलहुअणामे एगागारे पण्णत्ते।

[१६९४-१३] अगुरुलघुनामकर्म एक प्रकार का कहा गया है।

[१४] उवघायणामे एगागारे पण्णत्ते।

[१६९४-१४] उपघातनामकर्म एक प्रकार का कहा है।

[१५] पराघायणामे एगागारे पण्णत्ते।

[१६९४-१५] पराघातनामकर्म एक प्रकार का कहा है।

[१६] आणुपुव्विणामे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—णेरइयाणुपुव्विणाम जाव देवाणुपुव्विणाम।

[१६९४-१६] आनुपूर्वीनामकर्म चार प्रकार का कहा गया है। यथा—नैरयिकानुपूर्वीनाम यावत् देवानुपूर्वीनामकर्म।

[१७] उस्सासणामे एगागारे पण्णत्ते।

[१६९४-१७] उच्छ्वासनामकर्म एक प्रकार का कहा गया है।

[१८] सेसाणि सव्वाणि एगागाराइं पण्णत्ताइं जाव तित्थगरणामे। णवरं विहायगतिणामे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पसत्थविहायगतिणामे य अपसत्थविहायगतिणामे य।

[१६९४-१८] शेष सब यावत् तीर्थंकरनामकर्म तक एक-एक प्रकार के कहे हैं। विशेष यह है कि विहायोगतिनामकर्म दो प्रकार का कहा है। यथा—प्रशस्तविहायोगतिनाम और अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म।

१६९५. [१] गोए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—उच्चागोए य णीयागोए य।

[१६९५-१ प्र.] भगवन् ! गोत्रकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९५-१ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

[२] उच्चागोए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते। तं जहा—जाइविसिट्ठया जाव इस्सरियविसिट्ठया।

[१६९५-२ प्र.] भगवन् ! उच्चगोत्रकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९५-२ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है। यथा—जातिविशिष्टता यावत् ऐश्वर्यविशिष्टता।

[३] एवं णीयागोए वि। णवरं जातिविहीणया जाव इस्सरियविहीणया।

[१६९५-३] इसी प्रकार नीचगोत्र भी आठ प्रकार का है। (किन्तु यह उच्चगोत्र से सर्वथा विपरीत है।) यथा—जातिविहीनता यावत् ऐश्वर्यविहीनता।

१६९६. अंतराइए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते। जहा—दाणंतराइए जाव वीरियंतराइए।

[१६९६ प्र.] भगवन् ! अन्तरायकर्म कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६९६ उ.] गौतम ! वह पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—दानान्तराय यावत् वीर्यान्तरायकर्म।

विवेचन—उत्तरकर्मप्रकृतियाँ—प्रथम उद्देशक में ज्ञानावरणीय आदि ८ मूल कर्मप्रकृतियों के अनुभाव का वर्णन करने के पश्चात् द्वितीय उद्देशक में सर्वप्रथम (सू. १६७९ से १६९६ तक में) मूल कर्मप्रकृतियों के अनुसार उत्तरकर्मप्रकृतियों के भेदों का निरूपण किया गया है।[1]

उत्तरकर्मप्रकृतियों का स्वरूप — (१) ज्ञानावरणीयकर्म के पांच उत्तरभेद हैं। **आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरण**—जो कर्म आभिनिबोधिक ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान को आवृत करता है, उसे आभिनिबोधिक ज्ञानावरण कहते हैं। इसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण आदि के विषय में समझ लेना चाहिए।

(२) दर्शनावरणीयकर्म—पदार्थ के सामान्य धर्म को—सत्ता के प्रतिभास को दर्शन कहते हैं। दर्शन को आवरण करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं। दर्शनावरण के दो भेद—निद्रापंचक और दर्शनचतुष्क हैं। निद्रापंचक के पांच भेदों का स्वरूप प्रथम उद्देशक में कहा जा चुका है। दर्शनचतुष्क चार प्रकार का है—**चक्षुदर्शनावरण**—चक्षु के द्वारा वस्तु के सामान्यधर्म के ग्रहण को रोकने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण है। **अचक्षुदर्शनावरण**—चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष स्पर्शन आदि इन्द्रियों और मन से होने वाले सामान्यधर्म के प्रतिभास को रोकने वाले कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं। **अवधिदर्शनावरण**—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ही रूपी द्रव्य के सामान्यधर्म के होने वाले बोध को रोकने वाले कर्म को अवधिदर्शनावरण कहते हैं। **केवलदर्शनावरण**—सम्पूर्ण द्रव्यों के होने वाले सामान्यधर्म के अवबोध को आवृत करने वाले को केवलदर्शनावरण कहते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि निद्रापंचक प्राप्त दर्शनशक्ति का उपघातक है, जबकि दर्शनचतुष्क मूल से ही दर्शनलब्धि का घातक होता है।[2]

---

१. पण्णवणासुत्त भा. १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ३६७ से ३७९ तक

२. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ३६८

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. २४१-२४२

(ग) कर्मग्रन्थ भा. १ (मरुधरकेसरीव्याख्या) पृ. ५९ से ६१ तक

(३) **वेदनीयकर्म**—जो कर्म इन्द्रियों के विषयों का अनुभवन—वेदन कराए, उसे वेदनीयकर्म कहते हैं। वेदनीयकर्म से आत्मा को जो सुख-दुःख का वेदन होता है, वह इन्द्रियजन्य सुख-दुःख अनुभव है। आत्मा को जो स्वाभाविक सुखानुभूति होती है वह कर्मोदय से नहीं होती। इसका स्वभाव तलवार की शहद-लगी धार को चाटने के समान है। इसके मुख्य दो प्रकार है—**(१) सातावेदनीय**—जिस कर्म के उदय से आत्मा को इन्द्रिविषय-सम्बन्धी सुख का अनुभव हो, उसे सातावेदनीयकर्म कहते हैं। **(२) असातावेदनीय**—जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रियविषयों की प्राप्ति में दुःख का अनुभव हो, उसे असातावेदनीय कहते हैं। सातावेदनीय के मनोज्ञ शब्द आदि आठ भेद हैं और इसके विपरीत असातावेदनीय के भी अमनोज्ञ शब्द आदि आठ भेद हैं। इनका अर्थ पहले लिखा जा चुका है।[1]

(४) **मोहनीयकर्म**—जिस प्रकार मद्य के नशे में चूर मनुष्य अपने हिताहित का भान भूल जाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से जीव में अपने वास्तविक स्वरूप एवं हिताहित को पहचानने और परखने की बुद्धि लुप्त हो जाती है, कदाचित् हिताहित को परखने की बुद्धि भी आ जाए तो भी तदनुसार आचरण करने का सामर्थ्य प्राप्त नहीं हो पाता, उसे मोहनीयकर्म कहते हैं। इसके मुख्यतः दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। **दर्शनमोहनीय**—जो पदार्थ जैसा है, उसे यथार्थरूप में वैसा ही समझना, तत्त्वार्थ पर श्रद्धान करना **दर्शन** कहलाता है, आत्मा के इस निजी दर्शनगुण का घात (आवृत) करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहते हैं। **चारित्रमोहनीय**—आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति अथवा उसमें रमणता करना चारित्र है अथवा सावद्ययोग से निवृत्ति तथा निरवद्ययोग में प्रवृत्तिरूप आत्मा का परिणाम चारित्र है। आत्मा के इस चारित्रगुण को घात करने या उत्पन्न न होने देने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं।

दर्शनमोहनीयकर्म के तीन भेद हैं—सम्यक्त्ववेदनीय, मिथ्यात्ववेदनीय और सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय। इन्हें क्रमशः शुद्ध, अशुद्ध और अर्द्धशुद्ध कहा गया है। जो कर्म शुद्ध होने से तत्त्वरुचि-रूप सम्यक्त्व में बाधक तो न हो, किन्तु आत्मस्वभावरूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होने देता, जिससे सूक्ष्म पदार्थों का स्वरूप विचारने में शंका उत्पन्न हो, सम्यक्त्व में मलिनता आ जाती हो, चल, मल, अगाढदोष उत्पन्न हो जाते हों, वह **सम्यक्त्ववेदनीय (मोहनीय)** है। जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो, अर्थात्—तत्त्वार्थ के अश्रद्धान के रूप में वेदा जाए उसे मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को तत्त्व (यथार्थ) के प्रति या जिन-प्रणीत तत्त्व में रुचि या अरुचि अथवा श्रद्धा या अश्रद्धा न होकर मिश्र स्थिति रहे, उसे सम्यक्त्व-मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय) या मिश्रमोहनीय कहते हैं।

(५) **चारित्रमोहनीयकर्म : भेद और स्वरूप**—चारित्रमोहनीयकर्म के मुख्य दो भेद हैं—कषाय-वेदनीय (मोहनीय) और नोकषायवेदनीय (मोहनीय)। **कषायवेदनीय**—जो कर्म क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में वेदा जाता हो, उसे कषायवेदनीय कहते हैं। कषाय का लक्षण विशेषावश्यक भाष्य में इस प्रकार कहा गया है- जो आत्मा के गुणों को कषे –नष्ट करे अथवा कष यानी जन्म-मरणरूप संसार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो, उसे कषाय कहते हैं। कषाय के क्रोध, मान,

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भाग १, (मरुधरकेसरी व्याख्या), पृ. ६५-६६
(ख) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. २४२

माया और लोभ, ये चार भेद है। **क्रोध**—समभाव को भूल कर आक्रोश से भर जाना, दूसरे पर रोष करना। **मान**—गर्व, अभिमान या झूठा आत्मप्रदर्शन। **माया**—कपटभाव अर्थात्—विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता का अभाव। **लोभ**—ममता के परिणाम। इसी कषायचतुष्टय के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मन्द स्थिति के कारण चार-चार प्रकार हो सकते हैं। वे क्रमश: अनन्तानुबन्धी (तीव्रतमस्थिति), अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतरस्थिति), प्रत्याख्यानावरण (तीव्रस्थिति) तथा संज्वलन (मंदस्थिति) हैं। इनके लक्षण क्रमश: इस प्रकार हैं—

अनन्तानुबन्धी—जो जीव के सम्यक्त्व आदि गुणों का घात करके अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण कराए, उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण–जो कषाय आत्मा के देशविरति चारित्र (श्रावकपन) का घात करे अर्थात् जिसके उदय से देशविरति—आंशिकत्यागरूप प्रत्याख्यान न हो सके, उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

प्रत्याख्यानावरण–जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में बाधा हो, अर्थात् श्रमणधर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

संज्वलन—जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति न हो, अर्थात् जो कषाय परीषह और उपसर्गों के द्वारा श्रमणधर्म के पालन करने को प्रभावित करे वह संज्वलन कषाय है।

इन चारों के साथ क्रोधादि चार कषायों को जोड़ने से कषायमोहनीय के १६ भेद हो जाते हैं।

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पर्वत के फटने से हुई दरार के समान जो क्रोध उपाय करने पर भी शान्त न हो। **अप्रत्याख्यानावरण क्रोध**—सूखी मिट्टी में आई हुई दरार जैसे पानी के संयोग से फिर भर जाती है, वैसे ही जो क्रोध कुछ परिश्रम और उपाय से शान्त हो जाता हो। **प्रत्याख्यानावरण क्रोध**—धूल (रेत) पर खींची हुई रेखा जैसे हवा चलने पर कुछ समय में भर जाती है, वैसे ही जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो जाता है। **संज्वलन क्रोध**—पानी पर खींची हुई लकीर के समान जो क्रोध तत्काल शान्त हो जाता है।

अनन्तानुबन्धी मान—जैसे कठिन परिश्रम से भी पत्थर के खंभे को नमाना असंभव है, वैसे ही जो मान कदापि दूर नहीं होता। **अप्रत्याख्यानावरण मान**—हड्डी को नमाने के लिए कठोर श्रम के सिवाय उपाय भी करना पड़ता है, वैसे ही जो मान अतिपरिश्रम और उपाय से दूर होता है। **प्रत्याख्यानावरण मान**—सूखा काष्ठ तेल आदि की मालिश से नरम हो जाता है, वैसे ही जो मान कुछ परिश्रम और उपाय से दूर होता हो। **संज्वलनमान**—बिना परिश्रम के नमाये जाने वाले बेंत के समान जो मान क्षणभर में अपने आग्रह को छोड़ कर नम जाता है।

अनन्तानुबन्धी माया—बाँस की जड़ में रहने वाली वक्रता-टेढापन का सीधा होना असम्भव होता है, इसी प्रकार जो माया छूटनी असंभव होती है। **अप्रत्याख्यानावरण माया**—मेंढे के सींग की

वक्रता कठोर परिश्रम व अनेक उपायों से दूर होती है, वैसे ही जो माया-परिणाम अत्यन्त परिश्रम व उपाय से दूर हो। **प्रत्याख्यानावरण माया**—चलते हुए बैल की मूत्ररेखा की वक्रता के समान जो माया कुटिल परिणाम वाली होने पर कुछ कठिनाई से दूर होती है। **संज्वलनमाया**—बांस के छिलके का टेढ़ापन जैसे बिना श्रम के सीधा हो जाता है, वैसे ही जो मायाभाव आसानी से दूर हो जाता है।

अनन्तानुबन्धी लोभ—जैसे किरमिची रंग किसी भी उपाय से नहीं छूटता, वैसे ही जिस लोभ के परिणाम उपाय करने पर भी न छूटते हों। **अप्रत्याख्यानावरणलोभ**—गाड़ी के पहिये की कीचड़ के समान अतिकठिनता से छूटने वाला लोभ का परिणाम। **प्रत्याख्यानावरण लोभ**—काजल के रंग के समान इस लोभ के परिणाम कुछ प्रयत्न से छूटते हैं। **संज्वलनलोभ**—सहज ही छूटने वाले हल्दी के रंग के समान इस लोभ के परिणाम होते हैं।

नोकषायवेदनीय—जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है, अथवा कषायों को उत्तेजित करने में सहायक हो। जो स्त्रीवेद आदि नोकषाय के रूप में वेदा जाता है, वह नोकषायवेदनीय है। नोकषायवेदनीय के ९ भेद हैं—

स्त्रीवेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो। **पुरुषवेद**—जिस कर्म के उदय से स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो। **नपुंसकवेद**—जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो। इन तीनों वेदों की कामवासना क्रमशः करीषाग्नि (उपले की आग), तृणाग्नि और नगरदाह के समान होती है। **हास्य**—जिस कर्म के उदय से कारण-वश या बिना कारण के हंसी आती है या दूसरों को हंसाया जाता हो। **रति-अरति**—जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण पदार्थों के प्रति राग—प्रीति या द्वेष—अप्रीति उत्पन्न हो। **शोक**—जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण शोक हो। **भय**—जिस कर्म के उदय से कारणवशात् या बिना कारण सात भयों में से किसी प्रकार का भय उत्पन्न हो। **जुगुप्सा**—जिस कर्म के उदय से बीभत्स—घृणाजनक पदार्थों को देख कर घृणा पैदा होती है।[1]

आयुकर्म : स्वरूप, प्रकार और विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से जीव देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक के रूप में जीता है और जिसका क्षय होये पर उन रूपों का त्याग कर मर जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं। आयुकर्म के चार भेद हैं, जो मूलपाठ में अंकित हैं। आयुकर्म का स्वभाव कारागार के समान है। जैसे अपराधी को छूटने की इच्छा होने पर भी अवधि पूरी हुए बिना कारागार से छुटकारा नहीं मिलता, इसी प्रकार आयुकर्म के कारण जीव को निश्चित अवधि तक

---

१. (क) प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग ५, पृ. २४३ से २५१ तक
(ख) कर्मग्रन्थ भाग-१ (मरुधरकेसरीव्याख्या) पृ. ५५-७०, ८१ से ९३ तक
(i) कम्मं कसो भवो वा कसमातोसिं कसायातो।
कसमाययंति व जतो गमयंति कसं कसायत्ति ॥ —विशेषावश्यक भाग-१२२७
(ii) अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति। संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति।—तत्त्वार्थसूत्र भाष्य, अ. ८ सू. १०
(iii) कषाय-सहवर्तित्वात् कषाय-प्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता नो-कषाय-कषायता ॥ १ ॥ —कर्मग्रन्थ, भा. १, पृ. ८४

नरकादि गतियों में रहना पड़ता है। बांधी हुई आयु भोग लेने पर ही उस शरीर से छुटकारा मिलता है। आयुकर्म का कार्य जीव को सुख-दुःख देना नहीं है, अपितु नियत अवधि तक किसी एक शरीर में बनाये रखने का है।[1] इसका स्वभाव हडि (खोडा-वेड़ी) के समान है।

नामकर्म : स्वरूप, प्रकार और लक्षण—जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति प्राप्त करके अच्छी-बुरी विविध पर्यायें प्राप्त करता है अथवा जिस कर्म से आत्मा गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करे या शरीर आदि बने, उसे नामकर्म कहते हैं। नामकर्म के अपेक्षा-भेद से १०३, ९३ अथवा ४२ या किसी अपेक्षा से ६७ भेद हैं। प्रस्तुत सूत्रों में नामकर्म के ४२ भेद कहे गए हैं, जिनका मूलपाठ में उल्लेख है। इनका लक्षण इस प्रकार है—

(१) **गति-नामकर्म**—जिसके उदय से आत्मा मनुष्यादि गतियों में जाए अथवा नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव की पर्याय प्राप्त करे। नारकत्व आदि पर्यायरूप परिणाम को गति कहते हैं। गति के ४ भेद हैं,—नरकगति आदि। इन गतियों को उत्पन्न करने वाला नामकर्म गतिनाम-कर्म है।

(२) **जाति-नामकर्म**—एकेन्द्रियादि जीवों की एकेन्द्रियादि के रूप में जो समान परिणति (एकाकार अवस्था) उत्पन्न होती है, उसे जाति कहते हैं। स्पर्शन, रसन आदि पांच इन्द्रियों में से जीव एक, दो, तीन, चार या पांच इन्द्रियाँ प्राप्त करता है और एकेन्द्रियादि कहलाता है, इस प्रकार की जाति का जो कारणभूत कर्म है, उसे जातिनामकर्म कहते हैं।

(३) **शरीर-नामकर्म**—जो शीर्ण (क्षण-क्षण में क्षीण) होता रहता है, वह शरीर कहलाता है। शरीरों का जनक कर्म शरीरनामकर्म है। अर्थात् जिस कर्म के उदय से औदारिक, वैक्रिय आदि शरीरों की प्राप्ति हो, अर्थात् ये शरीर बनें। शरीरों के भेद से शरीरनामकर्म के ५ भेद हैं।

(४) **शरीर-अंगोपांग-नामकर्म**—मस्तिष्क आदि शरीर के ८ अंग होते हैं। कहा भी है—'**सीसमुरोयर-पिट्ठी-दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा।**' अर्थात् सिर, उर, उदर, पीठ, दो भुजाएँ और दो जांघ, ये शरीर के आठ अंग हैं। इन अंगों के अंगुली आदि अवयव उपांग कहलाते हैं और उनके भी अंग—जैसे अंगुलियों के पर्व आदि अंगोपांग हैं। जिस कर्म के उदय से अंग, उपांग आदि के रूप में पुद्गलों का परिणमन होता हो, अर्थात् जो कर्म अंगोपांगों का कारण हो, वह अंगोपांग नामकर्म है। यह कर्म तीन ही प्रकार का है, क्योंकि तैजस और कार्मणशरीर में अंगोपांग नहीं होते।

(५) **शरीरबंधन-नामकर्म**—जिसके द्वारा शरीर बंधे, अर्थात् जो कर्म पूर्वगृहीत औदारिकादि शरीर और वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले औदारिकादि पुद्गलों का परस्पर में, अर्थात् तैजस आदि पुद्गलों के साथ सम्बन्ध उत्पन्न करे, वह शरीरबन्धन-नामकर्म है।

(६) **शरीर-संहनन-नामकर्म**—हड्डियों की विशिष्ट रचना संहनन कहलाती है। संहनन औदारिक शरीर में ही हो सकता है, अन्य शरीरों में नहीं, क्योंकि अन्य शरीर हड्डियों वाले नहीं होते। अतः जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संधियाँ सुदृढ होती हैं, उसे संहनन नामकर्म कहते हैं।

---

१. (क) प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. २५१

(ख) कर्मग्रन्थ, भा. १ (मरुधरकेसरीव्याख्या), पृ. ९४

(७) **संघात-नामकर्म**—जो औदारिक शरीर आदि के पुद्गलों को एकत्रित करता है अथवा जो शरीरयोग्य पुद्गलों को व्यवस्थित रूप से स्थापित करता है, उसे संघातनामकर्म कहते हैं। इसके ५ भेद हैं।

(८) **संस्थान-नामकर्म**—संस्थान का अर्थ है—आकार। जिस कर्म के उदय से गृहीत, संघातित और वद्ध औदारिक आदि पुद्गलों के शुभ या अशुभ आकार बनते हैं, वह संस्थान नामकर्म है। इसके ६ भेद हैं।

(९) **वर्णनामकर्म**—जिस कर्म के उदय से शरीर के काले, गोरे, भूरे आदि रंग होते हैं, अथवा जो कर्म वर्णों का जनक हो, वह वर्णनामकर्म है। इसके भी ५ भेद हैं।

(१०) **गन्धनामकर्म**—जिस कर्म के उदय से शरीर में अच्छी या बुरी गंध हो अर्थात् शुभाशुभ गंध का कारणभूत कर्म गन्धनामकर्म है।

(११) **रसनामकर्म**—जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्त, मधुर आदि शुभ-अशुभ रसों की उत्पत्ति हो, अर्थात् यह रसोत्पादन में निमित्त कर्म है।

(१२) **स्पर्शनामकर्म**—जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रूक्ष आदि हो, अर्थात् स्पर्श का जनक कर्म स्पर्शनामकर्म है।

(१३) **अगुरुलघु-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर न तो पाषाण के समान गुरु (भारी) हों और न ही रूई के समान लघु (हलके) हों, वह अगुरुलघु नामकर्म है।

(१४) **उपघात-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से अपना शरीर अपने ही अवयवों से उपहत—बाधित होता है, वह उपघात-नामकर्म कहलाता है। जैसे—चोरदन्त, प्रतिजिह्वा (पडजीभ) आदि। अथवा स्वयं तैयार किये हुए उद्बन्धन (फांसी), भृगुपात आदि से अपने ही शरीर को पीडित करने वाला कर्म उपघात-नामकर्म है।

(१५) **पराघात-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से दूसरा प्रतिभाशाली, ओजस्वी, तेजस्वी जन भी पराजित या हतप्रभ हो जाता है, दब जाता है, उसे पराघात-नामकर्म कहते हैं।

(१६) **आनुपूर्वी-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव दो, तीन या चार समय-प्रमाण विग्रहगति से कोहनी, हल या गोमूत्रिका के आकार से भवान्तर में अपने नियत उत्पत्तिस्थान पर पहुंच जाता है, उसे आनुपूर्वी-नामकर्म कहते हैं।

(१७) **उच्छ्वास-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव को उच्छ्वास-निःश्वासलब्धि की प्राप्ति होती है, वह उच्छ्वास-नामकर्म है।

(१८) **आतप-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वरूप से उष्ण न होकर भी उष्णरूप प्रतीत होता हो, अथवा उष्णता उत्पन्न करता हो, वह आतप-नामकर्म कहलाता है।

(१९) **उद्योत-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर उष्णतारहित प्रकाश से युक्त होते हैं, वह उद्योतनामकर्म हैं। जैसे—रत्न, ओषधि, चन्द्र, नक्षत्र, तारा विमान, यति आदि।

(२०) **विहायोगति-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल (गति) हाथी, बैल आदि

की चाल के समान शुभ हो अथवा ऊँट, गधे आदि की चाल के समान अशुभ हो, उसे विहायोगति-नामकर्म कहते हैं।

(२१) **त्रस-नामकर्म**—जो जीव त्रास पाते हैं, गर्मी आदि से संतप्त होकर छायादि का सेवन करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं, ऐसे द्वीन्द्रियादि जीव 'त्रस' कहलाते हैं। जिस कर्म के उदय से त्रस-पर्याय की प्राप्ति हो वह त्रस-नामकर्म है।

(२२) **स्थावर-नामकर्म**—जो जीव सर्दी, गर्मी आदि से पीड़ित होने पर भी उस स्थान को त्यागने में समर्थ न हो, वह स्थावर कहलाता है। जैसे पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय जीव। जिस कर्म के उदय से स्थावर-पर्याय प्राप्त हो, उसे स्थावर-नामकर्म कहते हैं।

(२३) **सूक्ष्म-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से बहुत-से प्राणियों के शरीर समुदित होने पर भी छद्मस्थ को दृष्टिगोचर न हों, वह सूक्ष्म-नामकर्म है। इस कर्म के उदय से जीव अत्यन्त सूक्ष्म होता है।

(२४) **बादर-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव को बादर (स्थूल) काय की प्राप्ति हो, अथवा जो कर्म बादरता-परिणाम को उत्पन्न करता है, वह बादर-नामकर्म है।

(२५) **पर्याप्त-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ होता है, अर्थात् आहारादि के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें आहारादि के रूप में परिणत करने की कारणभूत आत्मा की शक्ति से सम्पन्न हो, वह पर्याप्त-नामकर्म है।

(२६) **अपर्याप्त-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके, वह अपर्याप्त-नामकर्म है।

(२७) **साधारणशरीर-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो, जैसे—निगोद के जीव।

(२८) **प्रत्येकशरीर-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव का शरीर पृथक्-पृथक् हो।

(२९) **स्थिर-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से शरीर, अस्थि, दांत आदि शरीर के अवयव स्थिर हों, उसे स्थिर-नामकर्म कहते हैं।

(३०) **अस्थिर-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीभ आदि शरीर के अवयव अस्थिर (चपल) हों।

(३१) **शुभ-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव शुभ हों।

(३२) **अशुभ-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के चरण आदि शरीरावयव अशुभ हों, वह अशुभ-नामकर्म है। पैर से स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, यही अशुभत्व का लक्षण है।

(३३) **सुभग-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से किसी का उपकार न करने पर और किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पर भी व्यक्ति सभी को प्रिय लगता हो, वह सुभग-नामकर्म है।

(३४) **दुर्भग-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से उपकारक होने पर भी जीव लोक में अप्रिय हो, वह दुर्भग-नामकर्म है।

(३५) **सुस्वर-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर और सुरीला हो, श्रोताओं के लिए प्रमोद का कारण हो, वह सुस्वर-नामकर्म है। जैसे—कोयल का स्वर।

(३६) **दुःस्वर-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश और फटा हुआ हो, उसका स्वर श्रोताओं की अप्रीति का कारण हो। जैसे—कौए का स्वर।

(३७) **आदेय-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव जो कुछ भी कहे या करे, उसे लोग प्रमाणभूत मानें, स्वीकार कर लें, उसके वचन का आदर करें, वह आदेय-नामकर्म है।

(३८) **अनादेय-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से समीचीन भाषण करने पर भी उसके वचन ग्राह्य या मान्य न हों, लोग उसके वचन का अनादर करें, वह अनादेय-नामकर्म है।

(३९) **यशःकीर्ति-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से लोक में यश और कीर्ति फैले। शौर्य, पराक्रम, त्याग, तप आदि के द्वारा उपार्जित ख्याति के कारण प्रशंसा होना, यशःकीर्ति है। अथवा सर्व दिशाओं में प्रशंसा फैले उसे कीर्ति और एक दिशा में फैले उसे यश कहते हैं।

(४०) **अयशःकीर्ति-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से सर्वत्र अपकीर्ति हो, बुराई या बदनामी हो, मध्यस्थजनों के भी अनादर का पात्र हो।

(४१) **निर्माण-नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में अपनी-अपनी जाति के अनुसार अंगोपांगों का यथास्थान निर्माण हो, उसे निर्माण-नामकर्म कहते हैं।

(४२) **तीर्थंकर नामकर्म**—जिस कर्म के उदय से चौंतीस अतिशय और पैंतीस वाणी के गुण प्रकट हों, वह तीर्थंकर-नामकर्म कहलाता है।

नामकर्म के भेदों के प्रभेद—गतिनामकर्म के ४, जातिनामकर्म के ५, शरीरनामकर्म के ५, शरीरांगोपांगनामकर्म के ३, शरीरबन्धननामकर्म के ५, शरीरसंघातनामकर्म में ५, संहनननामकर्म के ६, संस्थाननामकर्म के ६, वर्णनामकर्म के ५, गन्धनामकर्म के २, रसनामकर्म के ५, स्पर्श-नामकर्म के ८, अगुरुलघुनामकर्म का एक, उपघात और पराघात नामकर्म का एक-एक, आनुपूर्वी-नामकर्म के चार तथा आतपनाम, उद्योतनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, बादरनाम, पर्याप्त-नाम, अपर्याप्तनाम, साधारणशरीरनाम,प्रत्येकशरीरनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशःकीर्तिनाम, अयशःकीर्ति-नाम, निर्माणनाम, और तीर्थंकरनामकर्म के एक-एक भेद हैं विहायोगतिनामकर्म के दो भेद हैं।[1]

गोत्रकर्म : स्वरूप और प्रकार—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च अथवा नीच कुल में जन्म लेता है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं। जिस कर्म के उदय से लोक में सम्मानित, प्रतिष्ठित जाति-कुल आदि की प्राप्ति होती है तथा उत्तम बल, तप,रूप, ऐश्वर्य, सामर्थ्य, श्रुत, सम्मान, उत्थान, आसनप्रदान, अंजलिकरण आदि की प्राप्ति होती है, वह उच्चगोत्रकर्म है। जिस कर्म के उदय से लोक में निन्दित कुल, जाति की प्राप्ति हो, उसे नीचगोत्रकर्म कहते हैं। सुघट और मद्यघट

---

१. (ख) प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. १, पृ. ९८ से १०३ तक
(ख) वही,भा. ५, पृ. २५२ से २७५ तक

बनाने वाले कुम्भकार के समान गोत्रकर्म का स्वभाव है। उच्चगोत्र और नीचगोत्र के क्रमशः आठ-आठ भेद हैं।[1]

अन्तरायकर्म : स्वरूप, प्रकार और लक्षण—जिस कर्म के उदय से जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य (पराक्रम) में अन्तराय (विघ्न-बाधा) उत्पन्न हो, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं। इसके ५ भेद हैं। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

दानान्तराय—दान की सामग्री पास में हो, गुणवान् पात्र दान लेने के लिए सामने हो, दान का फल भी ज्ञात हो, दान की इच्छा भी हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव दान न दे पाये उसे 'दानान्तरायकर्म' कहते हैं।

लाभान्तराय—दाता उदार हो, देय वस्तु भी विद्यमान हो, लेने वाला भी कुशल एवं गुणवान् पात्र हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, उसे 'लाभान्तरायकर्म' कहते हैं।

भोगान्तराय—जो पदार्थ एक बार भोगे जाएँ उन्हें 'भोग' कहते हैं जैसे—भोजन आदि। भोग के विविध साधन होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से भोग्य वस्तुओं का भोग (सेवन) नहीं कर पाता, उसे **'भोगान्तरायकर्म'** कहते हैं।

उपभोगान्तराय—जो पदार्थ बार-बार भोगे जाएँ, उन्हें उपभोग कहते हैं। जैसे—मकान, वस्त्र, आभूषण आदि। उपभोग की सामग्री होते हुए भी जिस के उदय से जीव उस उपभोग-सामग्री का उपभोग न कर सके, उसे **'उपभोगान्तरायकर्म** कहते हैं।

वीर्यान्तराय—वीर्य का अर्थ है पराक्रम, सामर्थ्य, पुरुषार्थ। नीरोग, शक्तिशाली कार्यक्षम एवं युवावस्था होने पर भी जिस कर्म के उदय से जीव अल्पप्राण, मन्दोत्साह, आलस्य, दौर्बल्य के कारण कार्यविशेष में पराक्रम न कर सके, शक्ति-सामर्थ्य का उपयोग न कर सके, उसे वीर्यान्तरायकर्म कहते हैं।

इस प्रकार आठों कर्मों के भेद-प्रभेदों का वर्णन सू. १६८७ से १६९६ तक है।[2]

कर्मप्रकृतियों की स्थिति की प्ररूपणा

१६९७. णाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेगो।

[१६९७ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१६९७ उ.] गौतम ! (उसकी स्थिति) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीस कोडा-

---

१. (क) वही, भा. ५, पृ. २७५-७६
   (ख) कर्मग्रन्थ, भा. १, (मरु. व्या.) पृ. १५१
२. (क) वही, भा. ५, पृ. १५१,
   (ख) प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनीटीका), भा. ५, पृ. २७७-७८

कोडी सागरोपम की है। उसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। सम्पूर्ण कर्मस्थिति (काल) में से अबाधाकाल को कम करने पर (शेष काल) कर्मनिषेक का काल है।

१६९८. [१] निद्दापंचयस्स णं भंते ! कम्मस्स केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स तिण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेगो।

[१६९८-१ प्र.] भगवन् ! निद्रापंचक (दर्शनावरणीय) कर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१६९८-१ उ.] गौतम ! (उसकी स्थिति) जघन्य पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम, सागरोपम के ३/७ भाग की है और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। उसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है तथा (सम्पूर्ण) कर्मस्थिति (काल) में से अबाधाकाल को कम करने पर (शेष) कर्मनिषेककाल है।

[२] दंसणचउक्कस्स णं भंते ! कम्मस्स केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा०।

[१६९८-२ प्र.] भगवन् ! दर्शनचतुष्क (दर्शनावरणीय) कर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१६९८-२ उ.] गौतम ! (उसकी स्थिति) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। उसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। (निषेककाल पूर्ववत् है।)

१६९९. [१] सातावेयणिज्जस्स इरियावहियबंधगं पडुच्च अजहण्णमणुक्कोसेणं दो समया, संपराइयबंधगं पडुच्च जहण्णेणं बारस मुहुत्ता, उक्कोसेणं पण्णरस सागरोवमकोडाकोडीओ; पण्णरस य वाससताइं अबाहा०।

[१६९९-१.] सातावेदनीयकर्म की स्थिति ईर्यापथिक बन्धक की अपेक्षा जघन्य-उत्कृष्ट-भेदरहित दो समय की है तथा साम्परायिक बन्धक की अपेक्षा जघन्य बारह मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष का है। (निषेककाल पूर्ववत् है।)

[२] असायावेयणिज्जस्स जहण्णेणं सागरोवमस्स तिण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा०।

[१६९९-२.] असातावेदनीयकर्म की स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग की (अर्थात् ३/७ भाग की) है और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। (निषेककाल पूर्ववत् है)

१७००. [१] सम्मत्तवेयणिज्जस्स पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं साइरेगाइं।

[१७००-१ प्र.] भगवन् ! सम्यक्त्व-वेदनीय की स्थिति कितने काल की है ?

[१७००-१ उ.] गौतम ! उसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट कुछ अधिक छियासठ सागरोपम की है।

[२] मिच्छत्तवेयणिज्जस्स जहण्णेणं सागरोवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं सत्तरिं कोडाकोडीओ; सत्त य वाससहस्साइं अबाहा, अबाहूणिया०।

[१७००-२] मिथ्यात्व-वेदनीय की जघन्य स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम एक सागरोपम की है और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष का है तथा कर्मस्थिति में से अबाधाकाल कम करने पर (शेष) कर्मनिषेककाल है।

[३] सम्मामिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

[१७००-३] सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त्त की है।

[४] कसायबारसगस्स जहण्णेणं सागरोवमस्स चत्तारि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइ-भागेणं ऊणया, उक्कोसेणं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; चत्तालीसं वाससताइं अबाहा, जाव णिसेगो।

[१७००-४] कषाय-द्वादशक (आदि के बारह कषायों) की जघन्य स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम सागरोपम के सात भागों में से चार भाग की (अर्थात् $\frac{4}{7}$ भाग की) है और उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल चालीस सौ (चार हजार) वर्ष का है तथा कर्मस्थिति में से अबाधाकाल बाद करने पर जो शेष बचे वह निषेककाल है।

[५] कोहसंजलणाए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं दो मासा, उक्कोसेणं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; चत्तालीसं वाससताइं जाव णिसेगो।

[१७००-५ प्र.] संज्वलन-क्रोध-सम्बन्धी प्रश्न ?

[१७००-५ उ.] गौतम ! (संज्वलन-क्रोध की स्थिति) जघन्य दो मास की है और उत्कृष्ट चालीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल चालीस सौ वर्ष (चार हजार वर्ष) का है, यावत् निषेक अर्थात्—कर्मस्थिति (काल) में अबाधाकाल कम करने पर (शेष) कर्मनिषेककाल समझना।

[६] माणसंजलणाए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं मासं, उक्कोसेणं जहा कोहस्स।

[१७००-६ प्र.] मान-संज्वलन की स्थिति के विषय में प्रश्न ?

[१७००-६ उ.] गौतम ! उसकी स्थिति जघन्य एक मास की है और उत्कृष्ट क्रोध की स्थिति के समान है।

[७] मायासंजलणाए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अद्धमासं, उक्कोसेणं जहा कोहस्स।

[१७००-७ प्र.] माया-संज्वलन की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न ?

[१७००-७ उ.] गौतम ! उसकी स्थिति जघन्य अर्धमास की है और उत्कृष्ट स्थिति क्रोध के बराबर है।

[८] लोभसंजलणाए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं जहा कोहस्स।

[१७००-८ प्र.] लोभ-संज्वलन की स्थिति के विषय में प्रश्न ?

[१७००-८ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति क्रोध के समान, इत्यादि पूर्ववत्।

[९] इत्थिवेदस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं पण्णरस सागरोवमकोडाकोडीओ; पण्णरस य वाससताइं अबाहा०।

[१७००-९ प्र.] स्त्रीवेद की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न ?

[१७००-९ उ.] गौतम ! उसकी जघन्य स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम सागरोपम के सात भागों में से डेढ भाग (१॥/७ भाग) की है, और उत्कृष्ट पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष का है।

[१०] पुरिसवेयस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठ संवच्छराइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ; दस य वाससयाइं अबाहा, जाव निसेगो।

[१७००-१० प्र.[पुरुषवेद की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न ?

[१७००-१० उ.] इसकी जघन्य स्थिति आठ संवत्सर (वर्ष) की है और उत्कृष्ट दस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार वर्ष) का है। निषेककाल पूर्ववत् जानना।

[११] नपुंसगवेदस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दुण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखिज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीसतिं वाससताइं अबाहा०।

[१७००-११ प्र.] नपुंसकवेद की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न ?

[१७००-११ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम, सागरो-

पम के २/७ भाग की है और उत्कृष्ट बीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है।

[१२] हास-रतीणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स एक्कं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणं, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ; दस य वाससताइं अबाहा०।

[१७००-१२ प्र.] हास्य और रति की स्थिति के विषय में पृच्छा।

[१७००-१२ उ.] गौतम ! इनकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के १/७ भाग की है और उत्कृष्ट दस कोडाकोडी सागरोपम की है तथा इसका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का है।

[१३] अरइ-भय-सोग-दुगुंछाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीसंति वाससताइं अबाहा०।

[१७००-१३ प्र.] भगवन् ! अरति, भय, शोक और जुगुप्सा (मोहनीयकर्म) की स्थिति कितने काल की है ?

[१७००-१३ उ.] गौतम ! इनकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के २/७ भाग की है, और उत्कृष्ट बीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इनका अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है।

१७०१. [१] णेरइयाउयस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीतिभागमब्भइयाइं।

[१७०१-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकायु की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१७०१-१ उ.] गौतम ! नैरयिकायु की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-अधिक दस हजार वर्ष की है और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व के तृतीय भाग अधिक तेतीस सागरोपम की है।

[२] तिरिक्खजोणियाउअस्स पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडितिभागमब्भहियाइं।

[१७०१-२ प्र.] इसी प्रकार तिर्यञ्चायु की स्थिति सम्बन्धी प्रश्न ?

[१७०१-२ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति है पूर्वकोटि के त्रिभाग अधिक तीन पल्योपम की।

[३] एवं मणूसाउअस्स वि।

[१७०१-३] इसी प्रकार मनुष्यायु की स्थिति के विषय में जानना चाहिए।

[४] देवाउअस्स जहा णेरइयाउअस्स ठिति त्ति।

[१७०१-४] देवायु की स्थिति नैरयिकायु की स्थिति के समान जाननी चाहिए।

१७०२. [१] णिरयगतिणामए णं भंते ! कम्मस्स० पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीस य वाससताइं अवाहा० ।

[१७०२-१ प्र.] भगवन् ! नरकगति-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-१ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागरोपम के $\frac{2}{7}$ भाग की है और उत्कृष्ट वीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अवाधाकाल वीस सौ (दो हजार) वर्ष का है ।

[२] तिरियगतिणामए जहा णपुंसगवेदस्स (सु. १७०० [११]) ।

[१७००-२] तिर्यञ्चगति-नामकर्म की स्थिति (सू. १७००-११ में उल्लिखित) नपुंसकवेद की स्थिति के समान है ।

[३] मणुयगतिणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं पण्णरस सागरोवमकोडाकोडीओ; पण्णरस य वाससताइं आवाहा० ।

[१७०२-३ प्र.] भगवन् ! मनुष्यगति-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-३ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{1\frac{1}{2}}{7}$ भाग की है और उत्कृष्ट पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अवाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष का है ।

[४] देवगतिणामए णं० पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स एक्कं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं जहा पुरिसवेयस्स [सु. १७००. [१०]) ।

[१७०२-४ प्र.] भगवन् ! देवगति-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-४ उ] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र-सागरोपम के $\frac{1}{7}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति (१७००-१० में उल्लिखित) पुरुषवेद की स्थिति के तुल्य है ।

[५] एगिंदियजाइणामए पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीस य वाससताइं अवाहा० ।

[१७०२-५ प्र.] एकेन्द्रिय-जाति-नामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न ।

[१७०२-५ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{2}{7}$ भाग की है और उत्कृष्ट वीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अवाधाकाल वीस सौ (दो हजार) वर्ष का है । [कर्म-स्थिति में से अवाधाकाल कम इसका निषेककाल है ।]

[६] बेइंदियजातिणामए णं० पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स णव पणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ; अट्ठारस य वाससयाइं अबाहा० ।

[१७०२-६ प्र.] द्वीन्द्रिय-जाति-नामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न ।

[१७०२-६ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{९}{३५}$ वें भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधा-काल अठारह सौ वर्ष का है । [कर्मस्थिति में से अबाधाकाल कम करने पर शेष कर्म-निषेक-काल है ।]

[७] तेइंदियजाइणामए णं जहण्णेणं एवं चेव, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ; अट्ठारस य वाससताइं अबाहा० ।

[१७०२-७ प्र.] त्रीन्द्रिय-जाति-नामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी पृच्छा ।

[१७०२-७ उ.] इसकी जघन्य स्थिति पूर्ववत् है । उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष का है ।

[८] चउरिंदियजाइणामए णं० पुच्छा ।

जहण्णेणं सागरोवमस्स नव पणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ; अट्ठारस य वाससयाइं अबाहा० ।

[१७०२-८ प्र.] चतुरिन्द्रिय-जाति-नामकर्म की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न ?

[१७०२-८ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यतावें भाग कम सागरोपम के $\frac{९}{३५}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष का है ।

[९] पंचेंदियजाइणामए णं० पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीस य वाससयाइं अबाहा० ।

[१७०२-९ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय-जाति-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१७०२-९ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{२}{७}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है । इसका अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है ।

[१०] ओरालियसरीरणामए वि एवं चेव ।

[१७०२-१०] औदारिक-शरीर-नामकर्म की स्थिति भी इसी प्रकार समझनी चाहिए ।

[११] वेउव्वियसरीरणामए णं भंते !० पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीस य वाससताइं अबाहा० ।

[१७०२-११ प्र.] भगवन् ! वैक्रिय-शरीर-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-११ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम के २/७ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अवाधाकाल बीस सौ वर्ष का है।

[१२] आहारगसरीरणामए जहण्णेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ, उक्कोसेण वि अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ।

[१७०२-१२] आहारक-शरीर-नामकर्म की जघन्य स्थिति अन्त:कोडाकोडी की है और उत्कृष्ट स्थिति भी अन्त:सागरोपम कोडाकोडी की है।

[१३] तेया-कम्मसरीरणामए जहण्णेणं [सागरोवमस्स] दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीस य वाससताइं अबाहा०।

[१७०२-१३] तैजस और कार्मण-शरीर-नामकर्म की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के २/७ भाग की है तथा उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इनका अवाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है।

[१४] ओरालिय-वेउव्विय-आहारगसरीरंगोवंगणामए तिण्णि वि एवं चेव।

[१७०२-१४] औदारिकशरीरांगोपांग, वैक्रियशरीरांगोपांग और आहारकशरीरांगोपांग, इन तीनों नामकर्मों की स्थिति भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) है।

[१५] सरीरबंधणणामए वि पंचण्ह वि एवं चेव।

[१७०२-१५] पांचों शरीरबन्धन-नामकर्मों की स्थिति भी इसी प्रकार है।

[१६] सरीरसंघायणणामए पंचण्ह वि जहा सरीरणामए (सु. १७०२ [१०—१३]) कम्मस्स ठिति त्ति।

[१७०२-१६] पांचों शरीरसंघात-नामकर्मो की स्थिति (सू. १७०२-१०-१३ में उल्लिखित) शरीर-नामकर्म की स्थिति के समान है।

[१७] वइरोसभणारायसंघयणणामए जहा रतिणामए (सु. १७०० [१२])।

[१७०२-१७] वज्रऋषभनाराचसंहनन-नामकर्म की स्थिति (सू. १७००-१२ में उल्लिखित) रति-नामकर्म की स्थिति के समान है।

[१८] उसभणारायसंघयणणामए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स छ पणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं बारस सागरोवमकोडाकोडीओ; बारस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-१८ प्र.] भगवन् ! ऋषभनाराचसंहनन-नामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१७०२-१८ उ.] गौतम ! इस की स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{६}{३५}$ भाग की है और उत्कृष्ट बारह कोडाकोडी सागरोपम की है तथा इसका अबाधाकाल बारह सौ वर्ष का है।

[१९] णारायसंघयणणामए जहण्णेणं सागरोवमस्स सत्त पणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं चोद्दस सागरोवमकोडाकोडीओ; चोद्दस य वाससताइं अबाहा० ।

[१७०२-१९] नाराचसंहनन-नामकर्म की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{७}{३५}$ भाग की है तथा उत्कृष्ट स्थिति चौदह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल चौदह सौ वर्ष का है।

[२०] अद्धणारायसंघयणणामस्स जहण्णेणं सागरोवमस्स अट्ठ पणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं सोलस सागरोवमकोडाकोडीओ; सोलस य वाससताइं अबाहा० ।

[१७०२-२०] अर्द्धनाराचसंहनन-नामकर्म की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{८}{३५}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति सोलह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल सोलह सौ वर्ष का है।

[२१] खीलियासंघयणे णं० पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स णव पणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ; अट्ठारस य वाससयाइं अबाहा० ।

[१७०२-२१ प्र.] कीलिकासंहनन-नामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न ।

[१७०२-२१ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{९}{३५}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल अठारह सौ वर्ष का है।

[२२] सेवट्टसंघयणणामस्स पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीस य वाससयाइं अबाहा० ।

[१७०२-२२ प्र.] सेवार्त्तसंहनन-नामकर्म की स्थिति के विषय में पृच्छा ?

[१७०२-२२ उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{२}{७}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का है।

[२३] एवं जहा संघयणणामए छ भणिया एवं संठाणा वि छ भाणियव्वा ।

[१७०२-२३] जिस प्रकार छह संहनननामकर्मों की स्थिति कही, उसी प्रकार छह संस्थान-नामकर्मों की भी स्थिति कहनी चाहिए।

[२४] सुक्किलवण्णनामए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ; दस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-२४ प्र.] शुक्लवर्णनामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न ?

[१७०२-२४ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{1}{7}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का है।

[२५] हालिद्दवण्णणामए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स पंच अट्ठावीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं अद्धतेरस सागरोवमकोडाकोडीओ; अद्धतेरस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-२५ प्र.] पीत (हारिद्र) वर्णनामकर्म की स्थिति के सम्बन्ध में पृच्छा ?

[१७०२-२५ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{5}{28}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति साढ़े बारह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल साढ़े बारह सौ वर्ष का है।

[२६] लोहियवण्णणामए णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स छ अट्ठावीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं पण्णरस सागरोवमकोडाकोडीओ; पण्णरस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-२६ प्र.] भगवन् ! रक्त (लोहित) वर्णनामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-२६ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{6}{28}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष का है।

[२७] णीलवण्णणामए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स सत्त अट्ठावीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं अद्धट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ; अद्धट्ठारस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-२७ प्र.] नीलवर्णनामकर्म की स्थिति-विषयक प्रश्न ?

[१७०२-२७ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{7}{28}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति साढ़े सत्तरह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल साढ़े सत्तरह सौ वर्ष का है।

[२८] कालवण्णणामए जहा सेवट्टसंघयणस्स (सु. १७०२ [२२])।

[१७०२-२८] कृष्णवर्णनामकर्म की स्थिति (सू. १७०२-२२ में उल्लिखित) सेवार्त्तसंहनन-नामकर्म की स्थिति के समान है।

[२९] सुब्भिगंधणामएं पुच्छा।

गोयमा ! जहा सुक्किलवण्णणामस्स (सु. १७०२ [२४])।

[१७०२-२९ प्र.] सुरभिगन्ध-नामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न ?

[१७०२-२९ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति (सू. १७०२-२४ में उल्लिखित) शुक्लवर्णनामकर्म की स्थिति के समान है।

[३०] दुब्भिगंधणामए जहा सेवट्टसंघयणस्स।

[१७०२-३०] दुरभिगन्ध-नामकर्म की स्थिति सेवार्त्तसंहनन-नामकर्म (की स्थिति) के समान (जानना।)

[३१] रसाणं महुरादीणं जहा वण्णाणं भणियं (सु. १७०२ [२४-२८]) तहेव परिवाडीए भाणियव्वं।

[१७०२-३१] मधुर आदि रसों की स्थिति का कथन (सू. १७०२-२४-२८ में उल्लिखित) वर्णों की स्थिति के समान उसी क्रम (परिपाटी) से कहना चाहिए।

[३२] फासा जे अपसत्था तेसिं जहा सेवट्टस्स, जे पसत्था तेसिं जहा सुक्किलवण्णणामस्स (सु. १७०२ [२४])।

[१७०२-३२] जो अप्रशस्त स्पर्श हैं, उनकी स्थिति सेवार्त्तसंहनन की स्थिति के समान तथा प्रशस्त स्पर्श हैं, उनकी स्थिति (सू. १७०२-२४) में उल्लिखित शुक्लवर्णनामकर्म की स्थिति के समान कहनी चाहिए।

[३३] अगुरुलहुणामए जहा सेवट्टस्स।

[१७०२-३३] अगुरुलघुनामकर्म की स्थिति सेवार्त्तसंहनन की स्थिति के समान जानना।

[३४] एवं उवघायणामए वि।

[१७०२-३४] इसी प्रकार उपघातनामकर्म की स्थिति के विषय में भी कहना चाहिए।

[३५] पराघायणामए वि एवं चेव।

[१७०२-३५] पराघातनामकर्म की स्थिति भी इसी प्रकार है।

[३६] णिरयाणुपुव्विणामए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-३६ प्र.] नरकानुपूर्वी-नामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी पृच्छा ?

[१७०२-३६ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम के $\frac{2}{7}$ भाग की है तथा उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागरोपम की है। वीस सौ (दो हजार) वर्ष का इसका अबाधाकाल है।

[३७] तिरियाणुपुव्वीए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-३७ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चानुपूर्वी की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-३७ उ] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{२}{७}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल वीस सौ (दो हजार) वर्ष का है।

[३८] मणुयाणुपुव्विणामए णं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं पण्णरस सागरोवमकोडाकोडीओ; पण्णरस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-३८ प्र.] मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न ?

[१७०२-३८ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{१॥}{७}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल पन्द्रह सौ वर्ष का है।

[३९] देवाणुपुव्विणामए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ; दस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-३९ प्र.] भगवन् ! देवानुपूर्वीनामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०२-३९ उ.] इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम के $\frac{१}{७}$ भाग की है और उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का है।

[४०] उस्सासणामए पुच्छा।

गोयमा ! जहा तिरियाणुपुव्वीए।

[१७०२-४० प्र.] भगवन् ! उच्छ्वासनामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१७०२-४० उ.] गौतम ! इसकी स्थिति तिर्यञ्चानुपूर्वी (सू. १७०२-३७ में उक्त) के समान है।

[४१] आयवणामए वि एवं चेव, उज्जोवणामए वि।

[१७०२-४१] आतप-नामकर्म की स्थिति भी इसी प्रकार जाननी चाहिए, तथैव उद्योत-नामकर्म की भी।

[४२] पसत्थविहायगतिणामए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं एगं सागरोवमस्स सत्तभागं, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ; दस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-४२ प्र.] प्रशस्तविहायोगति-नामकर्म की स्थिति के विषय में प्रश्न ?

[१७०२-४२ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{1}{7}$ भाग की और उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की है। दस सौ (एक हजार) वर्ष का इसका अबाधाकाल है।

[४३] अपसत्थविहायगतिणामस्स पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; वीस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-४३ प्र.] अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म की स्थिति-विषयक प्रश्न ?

[१७०२-४३ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{2}{7}$ भाग की है तथा उत्कृष्ट स्थिति वीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल वीस सौ (दो हजार) वर्ष का है।

[४४] तसणामए थावरणामए य एवं चेव।

[१७०२-४४] त्रसनामकर्म और स्थावरनामकर्म की स्थिति भी इसी प्रकार जाननी चाहिए।

[४५] सुहुमणामए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स णव पणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ; अट्ठारस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-४५ प्र.] सूक्ष्मनामकर्म की स्थिति-सम्बन्धी प्रश्न ?

[१७०२-४५ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{9}{35}$ भाग की और उत्कृष्ट स्थिति अठारह कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका अबाधाकाल अट्ठारह सौ वर्ष का है।

[४६] बादरणामए जहा अपसत्थविहायगतिणामस्स (सु. १७०२ [४३])।

[१७०२-४६] बादरनामकर्म की स्थिति (सू. १७०२-४३ में उल्लिखित) अप्रशस्त-विहायोगति की स्थिति के समान जानना चाहिए।

[४७] एवं पज्जत्तगणामए वि। अपज्जत्तगणामए जहा सुहुमणामस्स (सु. १७०२[४५])।

[१७०२-४७] इसी प्रकार पर्याप्तनामकर्म की स्थिति के विषय में जानना चाहिए। अपर्याप्तनामकर्म की स्थिति (सू. १७०२-४५ में उक्त) सूक्ष्मनामकर्म की स्थिति के समान है।

[४८] पत्तेयसरीरणामए वि दो सत्तभागा। साहारणसरीरणामए जहा सुहुमस्स।

[१७०२-४८] प्रत्येकशरीरनामकर्म की स्थिति भी $\frac{2}{7}$ भाग की है। साधारणशरीर-नामकर्म की स्थिति सूक्ष्मशरीरनामकर्म की स्थिति के समान है।

[४९] थिरणामए एगं सत्तभागं। अथिरणामए दो।

[१७०२-४९] स्थिरनामकर्म की स्थिति $\frac{1}{7}$ भाग की है तथा अस्थिरनामकर्म की स्थिति $\frac{2}{7}$ भाग की है।

[५०] सुभणामए एगो। असुभणामए दो।

[१७०२-५०] शुभनामकर्म की स्थिति $\frac{1}{7}$ भाग की और अशुभनामकर्म की स्थिति $\frac{2}{7}$ भाग की समझनी चाहिए।

[५१] सुभगणामए एगो। दूभगणामए दो।

[१७०२-५१] सुभगनामकर्म की स्थिति $\frac{1}{7}$ भाग की और दुर्भगनामकर्म की स्थिति $\frac{2}{7}$ भाग की है।

[५२] सूसरणामए एगो। दूसरणामए दो।

[१७०२-५२] सुस्वरनामकर्म की स्थिति $\frac{1}{7}$ भाग की और दुःस्वरनामकर्म की स्थिति $\frac{2}{7}$ भाग की होती है।

[५३] आएज्जणामए एगो। अणाएज्जणामए दो।

[१७०२-५३] आदेयनामकर्म की स्थिति $\frac{1}{7}$ भाग की और अनादेयनामकर्म की $\frac{2}{7}$ भाग की होती है।

[५४] जसोकित्तिणामए जहण्णेणं अट्ठ मुहुत्ता, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ; दस य वाससताइं अबाहा०।

[१७०२-५४] यशःकीर्तिनामकर्म की स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट दस कोडाकोडी सागरोपम की है। उसका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का होता है।

[५५] अजसोकित्तिणामए पुच्छा।

गोयमा! जहा अपसत्थविहायगतिणामस्स (सु. १७०२ [४३])।

[१७०२-५५ प्र.] भगवन्! अयशःकीर्तिनामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है?

[१७०२-५५ उ.] गौतम! (सू. १७०२-४३ में उल्लिखित) अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म की स्थिति के समान इसकी (जघन्य और उत्कृष्ट) स्थिति जाननी चाहिए।

[५६] एवं णिम्माणणामए वि।

[१७०२-५६] इसी प्रकार निर्माणनामकर्म की स्थिति के विषय में भी (जानना चाहिए।)

[५७] तित्थगरणामए णं० पुच्छा।

गोयमा! जहण्णेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ, उक्कोसेण वि अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ।

[१७०२-५७ प्र.] भगवन्! तीर्थंकरनामकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है?

[१७०२-५७ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागरोपम की कही गई है।

[५८] एवं जत्थ एगो सत्तभागो तत्थ उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडी दस या वाससयाइं अबाहा। जत्थ दो सत्तभागा तत्थ उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०२-५८] जहाँ (जघन्य स्थिति सागरोपम के) $\frac{1}{7}$ भाग की हो, वहाँ उत्कृष्ट स्थिति दस कोडाकोडी सागरोपम की और अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का (समझना चाहिए) एवं जहाँ (जघन्य स्थिति सागरोपम के) $\frac{2}{7}$ भाग की हो, वहाँ उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की और अबाधाकाल बीस सौ (दो हजार) वर्ष का (समझना चाहिए)।

१७०३. [१] उच्चागोयस्स पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठ मुहुत्ता, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ; दस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७०३-१ प्र.] भगवन् ! उच्चगोत्रनामकर्म की स्थिति कितने काल की कही है ?

[१७०३-१ उ.] गौतम ! इसकी स्थिति जघन्य आठ मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट दस कोडाकोडी सागरोपम की है तथा इसका अबाधाकाल दस सौ वर्ष का है।

[२] णीयागोयस्स पुच्छा।

गोयमा ! जहा अपसत्थविहायगतिणामस्स।

[१७०३-२ प्र.] भगवन् ! नीचगोत्रकर्म की स्थिति सम्बन्धी प्रश्न ?

[१७०३-२ उ.] गौतम ! अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म की स्थिति के समान इसकी स्थिति है।

१७०४. अंतराइयस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा, अबाहूणिया कम्मठिती कम्मणिसेगे।

[१७०४ प्र.] भगवन् ! अन्तरायकर्म की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[१७०४ उ.] गौतम ! इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की है तथा इसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है एवं अबाधाकाल कम करने पर शेष कर्मस्थिति कर्मनिषेककाल है।

विवेचन—प्रस्तुत प्रकरण के (सू. १६९७ से १७०४ तक) में ज्ञानावरणीय से लेकर अन्तराय-कर्म तक (मूलउत्तरकर्म प्रकृतियों सहित) की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण किया गया है। साथ ही अपृष्ट प्रश्न के व्याख्यान के रूप में इन सब कर्मों के अबाधाकाल तथा निषेककाल के विषय में भी कहा गया है।[1]

---

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३७१ से ३७७ तक

स्थिति—ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों और उनके भेद-प्रभेद सहित सभी कर्मों के अधिकतम और न्यूनतम समय तक आत्मा के साथ रहने के काल को स्थिति कहते हैं। इसे ही कर्मसाहित्य में स्थितिबन्ध कहा जाता है।

कर्म की उत्कृष्ट स्थिति को **कर्मरूपतावस्थानरूप स्थिति** कहते हैं।

अबाधाकाल—कर्म बंधते ही अपना फल देना प्रारम्भ नहीं कर देते, वे कुछ समय तक ऐसे ही पड़े रहते हैं। अतः कर्म बंधने के बाद अमुक समय तक किसी प्रकार के फल न देने की (फल-हीन) अवस्था को **अबाधाकाल** कहते हैं। **निषेककाल**—बन्धसमय से लेकर अबाधाकाल पूर्ण होने तक जीव को वह बद्ध कर्म कोई बाधा नहीं पहुँचाता, क्योंकि इस काल में उसके कर्मदलिकों का निषेक नहीं होता, अतः कर्म की उत्कृष्ट स्थिति में से अबाधाकाल को कम करने पर जितने काल की उत्कृष्ट स्थिति रहती है, वह उसके **कर्मनिषेक का** (कर्मदलिक-निषेकरूप) **काल** अर्थात्—अनुभवयोग्यस्थिति का काल कहते हैं।[1]

पृष्ठ ५७ से ६१ पर दिये रेखाचित्र में प्रत्येक कर्म की जघन्य-उत्कृष्टस्थिति एवं अबाधाकाल व निषेककाल का अंकन है।

एकेन्द्रिय जीवों में ज्ञानावरणीयादि कर्मों की बंधस्थिति की प्ररूपणा

१७०५. एगिंदिया णं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स तिण्णि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति।

[१७०५ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म कितने काल का बांधते हैं ?

[१७०५ उ.] गौतम ! वे जघन्यतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ३/७ भाग का बन्ध करते हैं और उत्कृष्टतः पूरे सागरोपम के ३/७ भाग का बन्ध करते हैं।

१७०६. एवं णिद्दापंचकस्स वि दंसणचउक्कस्स वि।

[१७०६] इसी प्रकार निद्रापंचक और दर्शनचतुष्क का (जघन्य और उत्कृष्ट) बन्ध भी ज्ञानावरणीयपंचक के समान जानना चाहिए।

१७०७. [१] एगिंदिया णं भंते ! जीवा सातावेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति।

[१७०७-१ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव सातावेदनीयकर्म कितने काल का बांधते हैं ?

[१७०७-१ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के १॥/७ भाग का और उत्कृष्ट पूरे सागरोपम के १॥/७ भाग का बन्ध करते हैं।

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ३३६-३३७
(ख) कर्मग्रन्थ भाग १, पृष्ठ ६४-६५

क्रम	कर्मप्रकृति का नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अबाधाकाल	निषेककाल
१	ज्ञानावरणीय (पंचविध)	अन्तर्मुहूर्त्त	३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	३ हजार वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में ३ हजार वर्ष कम
२	दर्शनावरणीय निद्रापंचक	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ३/७ भाग	,, ,,	,,	,,
३	,, ,, II दर्शनचतुष्क	अन्तर्मुहूर्त्त	,, ,,	,,	,,
४	सातावेदनीयकर्म				
	I ईर्यापथिकापेक्षा से	दो समय	दो समय	—	—
	II साम्परायिक बन्धक की अपेक्षा से	बारह मुहूर्त्त	१५ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१५०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १५०० वर्ष कम
५	असातावेदनीय कर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का ३/७ भाग	३० ,,	३००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में तीन हजार वर्ष कम
६	सम्यक्त्ववेदनीय (मोहनीय)	अन्तर्मुहूर्त्त	कुछ अधिक ६६ सागरोपम	—	—
७	मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय)	पल्योपम का असंख्यातवां भाग कम ७/७ सागरोपम	७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	७००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में से ७ हजार वर्ष कम
८	सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय)	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त	—	—
९	कषाय-द्वादशक (प्रारम्भ के १२ कषाय) अनन्ता. अप्रत्या. प्रत्या.	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का ४/७ भाग	४० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	४००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में ४ हजार वर्ष कम
१०	संज्वलनक्रोध (मोहनीय)	दो मास	,, ,, ,,	४००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में से ४ हजार वर्ष कम
११	संज्वलनमान ,,	एक मास	,, ,, ,,	,,	,,
१२	संज्वलनमाया ,,	अर्द्ध मास	,, ,, ,,	,,	,,
१३	संज्वलनलोभ ,,	अन्तर्मुहूर्त्त	,, ,, ,,	,,	,,
१४	स्त्रीवेद (मोहनीय)	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का १॥/७ भाग	१५ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१५०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १५०० वर्ष कम
१५	पुरुषवेद ,,	८ वर्ष की	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १००० वर्ष कम
१६	नपुंसकवेद ,,	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का २/७ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में दो हजार वर्ष कम

क्रम	कर्मप्रकृति का नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अबाधाकाल	निषेककाल
१७-१८	हास्य और रति (मोहनीय)	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का १/७ भाग	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में से १००० वर्ष कम
१९-२२	अरति, भय, शोक, जुगुप्सा	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का २/७ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
२३	नारकायु	अन्तर्मुहूर्त्त अधिक १० हजार वर्ष	करोड़ पूर्व के तृतीय भाग अधिक ३३ सागरोपम	—	—
२४	तिर्यञ्चायु	अन्तर्मुहूर्त्त	करोड़ पूर्व का तीसरा भाग अधिक ३ पल्योपम	—	—
२५	मनुष्यायु	"	" " "	—	—
२६	देवायु	अन्तर्मुहूर्त्त अधिक १० हजार वर्ष	करोड़ पूर्व के तृतीय भाग अधिक ३३ सागरोपम की	—	—
२७	नरकगतिनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्रसागरोपम का २/७ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
२८	तिर्यञ्चगतिनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का २/७ भाग	" " "	"	"
२९	मनुष्यगतिनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का १॥/७ भाग	१५ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१५०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १५००० वर्ष कम
३०	देवगतिनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम का १/७ भाग	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम
३१	एकेन्द्रियजातिनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का २/७ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
३२	द्वीन्द्रियजातिनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का ९/३५ भाग	१८ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१८०० इर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १८०० वर्ष कम
३३	त्रीन्द्रियजाति नामकर्म	" " "	" " "	"	"
३४	चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म	" " "	" " "	"	"
३५	पंचेन्द्रियजातिनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का २/७ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
३६	औदारिकशरीरनामकर्म	" " "	" " "	"	"
३७	वैक्रियशरीरनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम का २/७ भाग	" " "	"	"
३८	आहारकशरीरनामकर्म	अन्त:कोड़ाकोड़ी सागरोपम	अन्त:कोड़ाकोड़ी सागरोपम	—	—
३९-४०	तैजसशरीरनामकर्म कार्मणशरीरनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का २/७ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम

क्रम	कर्मप्रकृति का नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अबाधाकाल	निषेककाल
४१	औदारिकशरीरांगोपांग	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{2}{7}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
४२	वैक्रियशरीरांगोपांग	पूर्ववत्	,, ,, ,,	,,	,,
४३	आहारकशरीरांगोपांगनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
४४-४८	पंचशरीरबन्धननामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
४९-५३	पंचशरीरसंघातनामकर्म	शरीरनामकर्म के समान	शरीरनामकर्मवत्	पूर्ववत्	पूर्ववत्
५४	वज्रऋषभनाराचसंहनननाम	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{1}{7}$ भाग	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम
५५	ऋषभनाराचसंहनन	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{6}{35}$ भाग	१२ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१२०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १२०० वर्ष कम
५६	नाराचसंहनननामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{7}{35}$ भाग	१४ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१४०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १४०० वर्ष कम
५७	अर्द्धनाराचसंहनन	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{8}{35}$ भाग	१६ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१६०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १६०० वर्ष कम
५८	कीलिकासंहनन	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{9}{35}$ भाग	१८ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१८०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १८०० वर्ष कम
५९	सेवार्त्तसंहनन	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{2}{7}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में दो हजार वर्ष कम
६०-६५	छह प्रकार के संस्थाननामकर्म	छह संहनननामकर्म के समान	,, ,, ,,	षट्संहननवत्	षट्संहनन के समान
६६	शुक्लवर्णनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{1}{7}$ भाग	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम
६७	पीतवर्णनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{5}{28}$ भाग	१२॥ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१२५० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १२५० वर्ष कम
६८	रक्तवर्णनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{6}{28}$ भाग	१५ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१५०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १५०० वर्ष कम
६९	नीलवर्णनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{7}{28}$ भाग	१७॥ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१७५० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १७५० वर्ष कम
७०	कृष्णवर्णनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{2}{7}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
७१	सुरभिगन्धनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{1}{7}$ भाग	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम

क्रम	कर्मप्रकृति का नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अबाधाकाल	निषेककाल
७२	दुरभिगन्धनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{२}{७}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
७३-७७	मधुर आदि पांच रस नामकर्म	शुक्लवर्ण आदि पांच वर्णों की स्थिति के समान	शुक्लादि पंचवर्णवत्	पंचवर्णवत्	पंचवर्णवत्
७८-८१	अप्रशस्त स्पर्श चार (कर्कश, गुरु, रूक्ष, शीत)	सेवार्तसंहनन के समान	सेवार्त्तसंहननवत्	सेवार्त्तसंहननवत्	सेवार्त्तसंहननवत्
८२-८५	प्रशस्त स्पर्श चार (मृदु, लघु, स्निग्ध, उष्ण)	शुक्लवर्णनामकर्म की स्थिति के समान	शुक्लवर्णवत्	शुक्लवर्णवत्	शुक्लवर्णवत्
८६	अगुरुलघुनामकर्म	सेवार्त्तसंहनन के समान	सेवार्त्तवत्	सेवार्त्तवत्	सेवार्त्तवत्
८७	उपघातनामकर्म	,, ,, ,,	,,	,,	,,
८८	पराघात नामकर्म	,, ,, ,,	,,	,,	,,
८९	नरकानुपूर्वीनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम का $\frac{२}{७}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में दो हजार वर्ष कम
९०	तिर्यंचानुपूर्वीनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{२}{७}$ भाग	,, ,, ,,	,,	,, ,,
९१	मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{१॥}{७}$ भाग	१५ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१५०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १५०० वर्ष कम
९२	देवानुपूर्वीनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम का $\frac{१}{७}$ भाग	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १००० वर्ष कम
९३	उच्छ्वासनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{२}{७}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
९४	आतपनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
९५	उद्योतनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
९६	प्रशस्तविहायोगतिनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{१}{७}$ भाग	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम
९७	अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{२}{७}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
९८	त्रसनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
९९	स्थावरनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
१००	सूक्ष्मनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{९}{३५}$ भाग	१८ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१८०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १८०० वर्ष कम
१०१	बादरनामकर्म	अप्रशस्तविहायोगति की स्थिति के समान	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २००० वर्ष कम

क्रम	कर्मप्रकृति का नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अबाधाकाल	निषेककाल
१०२	पर्याप्तनामकर्म	बादर के समान ,, ,,	बादरवत्	बादरवत्	बादरवत्
१०३	अपर्याप्तनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{६}{३५}$ भाग	१८ कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१८०० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १८०० वर्ष कम
१०४	साधारणशरीरनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
१०५	प्रत्येकशरीरनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{२}{७}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
१०६	अस्थिरनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
१०७	स्थिरनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{१}{७}$ भाग	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १ हजार वर्ष कम
१०८	शुभनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
१०९	सुभगनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
११०	सुस्वरनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
१११	आदेयनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
११२	यशःकीर्तिनामकर्म	आठ मुहूर्त्त	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	,,
११३	अशुभनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{२}{७}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
११४	दुर्भगनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
११५	दुःस्वरनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
२१६	अनादेयनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
११७	अयशःकीर्तिनाम	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
११८	निर्माणनामकर्म	,, ,, ,,	,, ,, ,,	,,	,,
११९	तीर्थंकरनामकर्म	अन्त·कोड़ाकोड़ी सागरोपम	अन्तःकोड़ाकोडी सागरोपम	—	—
१२०	उच्चगोत्रनामकर्म	आठ मुहूर्त्त	१० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में १००० वर्ष कम
१२१	नीचगोत्रनामकर्म	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{२}{७}$ भाग	२० कोड़ाकोड़ी सापरोगम	२००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में २ हजार वर्ष कम
१२२	अन्तरायनामकर्म	अन्तर्मुहूर्त्त	३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	३००० वर्ष	उत्कृष्ट स्थिति में ३ हजार वर्ष कम[1]

---

१. (क) विशेष स्पष्टीकरण के लिए कर्मग्रन्थ भा. ५ तथा ठिइबंधो आदि देखें।
(ख) पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ३७१ से ३७७ तक

१७०७. [२] असायावेयणिज्जस्स जहा णाणावरणिज्जस्स (सु. १७०५)।

[१७०७-२] असातावेदनीय का (जघन्य और उत्कृष्ट) बन्ध ज्ञानावरणीय के समान जानना चाहिए।

१७०८. [१] एगिंदिया णं भंते ! जीवा सम्मत्तवेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! णत्थि किंचि बंधंति।

[१७०८-१ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव सम्यक्त्ववेदनीयकर्म कितने काल का बांधते हैं ?

[१७०८-१ उ.] गौतम ! वे किसी भी काल का बंध नहीं करते—वन्ध करते ही नहीं हैं।

[२] एगिंदिया णं भंते ! जीवा मिच्छत्तवेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति।

[१७०८-२ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव मिथ्यात्ववेदनीयकर्म कितने काल का बांधते हैं ?

[१७०८-२ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागरोपम काल का बांधते हैं और उत्कृष्ट एक परिपूर्ण सागरोपम का बांधते हैं।

[३] एगिंदिया णं भंते ! सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! णत्थि किंचि बंधंति।

[१७०८-३ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय कितने काल तक का बांधते हैं ?

[१७०८-३ उ.] गौतम ! वे किसी काल का नहीं बांधते।

[४] एगिंदिया णं भंते ! कसायबारसगस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमस्स चत्तारि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति।

[१७०८-४ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव कषायद्वादशक का कितने काल का बन्ध करते हैं।

[१७०८-४ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के $\frac{4}{7}$ भाग और उत्कृष्ट वही $\frac{4}{7}$ परिपूर्ण बांधते हैं।

[५] एवं कोहसंजलणाए वि जाव लोभसंजलणाए वि।

[१७०८-५] इसी प्रकार यावत् संज्वलन क्रोध से लेकर यावत् संज्वलन लोभ तक बांधते हैं।

[६] इत्थिवेयस्स जहा सायावेयणिज्जस्स (सु. १७०७ [१])।

[१७०८-६] स्त्रीवेद का बन्धकाल सातावेदनीय (सू. १७०७-१ में उक्त) के बन्धकाल के समान जानना।

[७] एगिंदिया पुरिसवेदस्स कम्मस्स जहण्णेणं सागरोवमस्स एक्कं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति।

[१७०८-७] एकेन्द्रिय जीव जघन्यतः पुरुषवेदकर्म का पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{1}{7}$ भाग बांधते हैं और उत्कृष्टतः वही $\frac{1}{7}$ भाग पूरा बांधते हैं।

[८] एगिंदिया णपुंसगवेदस्स कम्मस्स जहण्णेणं सागरोवमस्स दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति।

[१७०८-८] एकेन्द्रिय जीव नपुंसकवेदकर्म का जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का $\frac{2}{7}$ भाग बांधते हैं और उत्कृष्ट वही $\frac{2}{7}$ भाग परिपूर्ण बाँधते हैं।

[९] हास-रतीए जहा पुरिसवेयस्स (सु. १७०८ [७])।

[१७०८-९] हास्य और रति का बन्धकाल पुरुषवेद (सू. १७०८-७ में उक्त) के समान जानना।

[१०] अरति-भय-सोग-दुगुंछाए जहा णपुंसगवेयस्स (सु. १७०८ [८])।

[१७०८-१०] अरति, भय, शोक और जुगुप्सा का बन्धकाल नपुंसकवेद के समान जानना चाहिए।

१७०९. णेरइयाउअ- देवाउअ- णिरयगतिणाम- देवगतिणाम- वेउव्वियसरीरणाम- आहारगसरीरणाम-णेरइयाणुपुव्विणाम-देवाणुपुव्विणाम-तित्थगरणाम एयाणि पयाणि ण बंधंति।

[१७०९] नरकायु, देवायु, नरकगतिनामकर्म, देवगतिनामकर्म, वैक्रियशरीरनामकर्म, आहारकशरीरनामकर्म, नरकानुपूर्वीनामकर्म, देवानुपूर्वीनामकर्म, तीर्थंकरनामकर्म, इन नौ पदों को एकेन्द्रिय जीव नहीं बांधते।

१७०१०. तिरिक्खजोणियाउअस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी सत्तहिं वाससहस्सेहिं वाससहस्सतिभागेण य अहियं बंधंति। एवं मणुस्साउअस्स वि।

[१७१०] एकेन्द्रिय जीव तिर्यञ्चायु का जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का, उत्कृष्ट सात हजार तथा एक हजार वर्ष का तृतीय भाग अधिक करोड पूर्व का बन्ध करते हैं।

मनुष्यायु का वन्ध भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

१७११. [१] तिरियगतिणामए जहा णपुंसगवेदस्स (सु. १७०८ [८])। मणुयगतिणामए जहा सातावेदणिज्जस्स [सु. १७०७ [१])।

[१७११-१] तिर्यञ्चगतिनामकर्म का बन्धकाल (सू. १७०८-८ में उक्त) नपुंसकवेद के समान है तथा मनुष्यगतिनामकर्म का वन्धकाल (सू. १७०७-१ में उक्त) सातावेदनीय के समान है।

[२] एगिंदियजाइणामए पंचेंदियजातिणामए य जहा णपुंसगवेदस्स। बेइंदिय-तेइंदिय-जातिणामए जहण्णेणं सागरोवमस्स णव पणतीसतिभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति। चउरिंदियनामए वि जहण्णेणं सागरोवमस्स णव पणतीसतिभागे पलिओवमस्स असंखिज्जइभागेणं ऊणए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति।

[१७११-२] एकेन्द्रियजाति-नामकर्म और पंचेन्द्रियजाति-नामकर्म का बन्धकाल नपुंसक-वेद के समान जानना चाहिए तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति-नामकर्म का बंध जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का ९/३५ भाग बांधते हैं और उत्कृष्ट वही ९/३५ भाग पूरे बांधते हैं।

१७१२. एवं जत्थ जहण्णगं दो सत्तभागा तिण्णि वा चत्तारि वा सत्तभागा अट्ठावीसतिभागा० भवंति तत्थ णं जहण्णेणं ते चेव पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा भाणियव्वा, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति। जत्थ णं जहण्णेणं एगो वा दिवड्ढो वा सत्तभागो तत्थ जहण्णेणं तं चेव भाणियव्वं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति।

[१७१२] जहाँ जघन्यतः २/७ भाग, ३/७ भाग या ४/७ भाग अथवा ५/२८, ६/२८ एवं ७/२८ भाग कहे हैं, वहाँ वे ही भाग जघन्य रूप से पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम कहने चाहिए और उत्कृष्ट रूप में वे ही भाग परिपूर्ण समझने चाहिए। इसी प्रकार जहाँ जघन्य रूप से १/७ या १/७" भाग है, वहाँ जघन्य रूप से वही भाग कहना चाहिए और उत्कृष्ट रूप से वही भाग परिपूर्ण कहना चाहिए।

१७१३. जसोकित्ति-उच्चागोयाणं जहण्णेणं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति।

[१७१३] यशःकीर्तिनाम और उच्चगोत्रकर्म का एकेन्द्रिय जीव जघन्यतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के १/७ भाग का एवं उत्कृष्टतः सागरोपम के पूर्ण १/७ भाग का बन्ध करते हैं।

१७१४. अंतराइयस्स णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! जहा णाणावरणिज्जस्स जाव उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति।

[१७१४ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव अन्तरायकर्म का बन्ध कितने काल का करते हैं ?

[१७१४ उ.] गौतम ! इनका अन्तरायकर्म का जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल ज्ञानावरणीय कर्म के समान जानना चाहिए।

विवेचन—इससे पूर्व सभी कर्म-प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, अबाधाकाल एवं निषेककाल का प्रतिपादन किया गया था। इस प्रकरण में एकेन्द्रिय जीव बन्धकों को लेकर आठों कर्मों की स्थिति की प्ररूपणा की गई है। अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञानावरणीयादि कर्म का जो बन्ध होता है, उसकी स्थिति कितने काल तक की होती है ?[1]

निम्नोक्त रेखाचित्र से एकेन्द्रिय जीवों के ज्ञानावरणीयादि कर्मों की जघन्य, उत्कृष्ट स्थिति का आसानी से ज्ञान हो जाएगा—

---

१. प्रज्ञापनासूत्र भा. ५ (प्रमेयबोधिनी टीकासहित)

एकेन्द्रिय जीवों की बन्धस्थिति का रेखाचित्र

क्रम	कर्मप्रकृति का नाम	जघन्य बन्धस्थिति	उत्कृष्ट बन्धस्थिति
१.	ज्ञानावरणीयकर्म (पंचक)	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का ३/७ भाग	पूरे सागरोपम का ३/७ भाग
	निद्रापंचक, दर्शनावरणचतुष्क	” ”	” ”
२.	तिर्यञ्चायु नामकर्म	अन्तर्मुहूर्त्त की	सात हजार तथा एक हजार वर्ष का तृतीय भाग अधिक करोड़ पूर्व की
३.	सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम का १॥/७ भाग	पूरे सागरोपम का १॥/७ भाग
४.	सम्यक्त्ववेदनीय और मिश्र वेदनीय (मोहनीय) कर्म	बन्ध नहीं	बन्ध नहीं
५.	मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय)	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागरोपम की	पूरे सागरोपम की
६.	कषायषोडशक (सोलह कषाय)	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ४/७ भाग की	पूरे सागरोपम के ४/७ भाग की
७.	पुरुषवेद, हास्य, रति, प्रशस्त विहायोगति, स्थिरादिषट्क समचतुरस्र-संस्थान, वज्रऋषभनाराच संहनन, शुक्लवर्ण, सुरभिगन्ध, मधुर रस और उच्चगोत्र, यशःकीर्ति	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के १/७ भाग की	पूरे सागरोपम के १/७ भाग की
८.	द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-जातिनाम चतुरिन्द्रिय-जातिनाम	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ६/३५ भाग की	पूरे सागरोपम के ६/३५ भाग की
९.	नरकायु, देवायु, नरकगतिनाम, देवगतिनाम, वैक्रियशरीर, (वैक्रियचतुष्टय), आहारकशरीर (आ. चतुष्टय) नरकानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, तीर्थंकरनामकर्म	इन नौ पदों का बन्ध नहीं	बन्ध नहीं
१०.	द्वितीय संस्थान, द्वितीय संहनन	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ६/३५ भाग की	पूरे सागरोपम के ६/३५ भाग की
११.	तीसरा संस्थान, तीसरा संहनन	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ७/३५ भाग की	पूरे सागरोपम के ७/३५ भाग की
१२.	रक्तवर्ण, कषायरस	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ६/२८ भाग की	पूरे सागरोपम के ६/२८ भाग की
१३.	पीलावर्ण, अम्लरस	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ५/२८ भाग की	पूरे सागरोपम के ५/२८ भाग की
१४.	नीलवर्ण, कटुकरस	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के ७/२८ भाग की	पूरे सागरोपम के ७/२८ भाग की
१५.	नपुंसकवेद, भय, शोक जुगुप्सा, अरति, तिर्यञ्चद्विक, औदारिकद्विक, अन्तिम संस्थान, अन्तिम संहनन, कृष्णवर्ण, तिक्तरस, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, अस्थिरादिषट्क, स्थावर, आतप, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, निर्माण, एकेन्द्रिय पंचेन्द्रिय जाति तैजस, कार्मण शरीरनाम	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सागरोपम के २/७ भाग की ” ” ” ”	पूरे सागरोपम के २/७ भाग की ” ” ” ”[1]

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १

(ख) प्रज्ञापनासूत्र भा. ५ (प्रमेयबोधिनी टीकासहित)

द्वीन्द्रियजीवों में कर्मप्रकृतियों की स्थितिबन्ध-प्ररूपणा

१७१५. बेइंदिया णं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमपणुवीसाए तिण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति ।

[१७१५ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[१७१५ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम पच्चीस सागरोपम के $\frac{3}{7}$ भाग (काल) का बन्ध करते हैं और उत्कृष्ट वही परिपूर्ण बांधते हैं ।

१७१६. एवं णिद्दापंचगस्स वि ।

[१७१६] इसी प्रकार निद्रापंचक (निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि) की स्थिति के विषय में जानना चाहिए ।

१७१७. एवं जहा एगिंदियाणं भणियं तहा बेइंदियाण वि भाणियव्वं । णवरं सागरोवमपणुवीसाए सह भाणियव्वा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणा, सेसं तं चेव, जत्थ एगिंदिया ण बंधंति तत्थ एते वि ण बंधंति ।

[१७१७] इसी प्रकार जैसे एकेन्द्रिय जीवों की बन्धस्थिति का कथन किया है, वैसे ही द्वीन्द्रिय जीवों की बंधस्थिति का कथन करना चाहिए । जहाँ (जिन प्रकृतियों को) एकेन्द्रिय नहीं बांधते, वहाँ (उन प्रकृतियों को) ये भी नहीं बांधते ।

१७१८. बेइंदिया णं भंते ! जीवा मिच्छत्तवेयणिज्जस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमपणुवीसं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति ।

[१७१८ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव मिथ्यात्ववेदनीयकर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[१७१८ उ.] गौतम ! वे जघन्यतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम पच्चीस सागरोपम की और उत्कृष्टतः वही परिपूर्ण बांधते हैं ।

१७१९. तिरिक्खजोणियाउअस्स जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडिं चउहिं वासेहिं अहियं बंधंति । एवं मणुयाउअस्स वि ।

[१६१९] द्वीन्द्रिय जीव तिर्यञ्चायु को जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्टतः चार वर्ष अधिक पूर्वकोटिवर्ष का बांधते हैं । इसी प्रकार मनुष्यायु का कथन भी कर देना चाहिए ।

१७२०. सेसं जहा एगिंदियाणं जाव अंतराइयस्स ।

[१७२०] शेष यावत् अन्तरायकर्म तक एकेन्द्रियों के कथन के समान जानना चाहिए ।

विवेचन— द्वीन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का बन्ध कितने काल का करते

हैं ? इस प्रश्न का समाधान यहाँ किया गया है। नीचे लिखे रेखाचित्र से आसानी से समझ में आ जाएगा—

कर्मप्रकृति का नाम	जघन्य बन्धस्थिति	उत्कृष्टबन्धस्थिति
ज्ञानावरणीय, निद्रापंचक	पल्योपम का असंख्यवाँ भाग कम २५ सागरोपम के ३/७ भाग की	२५ सागरोपम के ३/७ भाग की
शेषकर्म	एकेन्द्रिय के समान बन्ध-अबन्ध जानना	
मिथ्यात्वमोहनीय	पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम २५ सागरोपम की	पूर्ण पच्चीस सागरोपम की
तिर्यञ्चायु-मनुष्यायु	अन्तर्मुहूर्त्त	४ पूर्व अधिक पूर्वकोटि वर्ष की
नाम-गोत्र अन्तरायादि	एकेन्द्रिय के समान	एकेन्द्रियवत्[1]

एकेन्द्रियों की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीवों के बंधकाल की विशेषता—एक विशेषता यह है कि द्वीन्द्रिय जीवों का वन्धकाल एकेन्द्रिय जीवों से पच्चीस गुणा अधिक होता है। जैसे—एकेन्द्रिय के ज्ञानावरणोयकर्म का जघन्य बन्धकाल पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागरोपम के ३/७ भाग का है, जबकि द्वीन्द्रिय का जघन्य वन्धकाल पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम २५ सागरोपम के ३/७ भाग का है। इस प्रकार पच्चीस गुणा अधिक करके पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। जिन कर्मप्रकृतियों का वन्ध एकेन्द्रिय जीव नहीं करते, द्वीन्द्रिय जीव भी उनका वन्ध नहीं करते।

इस प्रकार जिस कर्म की जो-जो उत्कृष्ट स्थिति पहले कही गई है, उस स्थिति का मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी के साथ भाग करने पर जो संख्या लब्ध होती है, उसे पच्चीस से गुणा करने पर जो राशि आए उसमें से पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम करने पर द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य स्थिति का परिमाण आ जाता है। यदि उसमें से पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम न करें तो उत्कृष्ट स्थिति का परिमाण आ जाता है। उदाहरणार्थ—ज्ञानावरणीय पंचक आदि के सागरोपम के ३/७ भाग का पच्चीस से गुणा किया जाय तो पच्चीस सागरोपम के ३/७ भाग हुए। अर्थात्—उनका उत्कृष्ट वन्धकाल पूरे पच्चीस सागरोपम के ३/७ भाग हुए। यदि पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम कर दिया जाए तो उनका जघन्य स्थिति वन्धकाल हुआ।[2]

त्रीन्द्रियजीवों में कर्मप्रकृतियों की स्थिति-बन्धप्ररूपणा

१७२१. तेइंदिया णं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमपण्णासाए तिण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणया, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति। एवं जस्स जइ भागा ते तस्स सागरोवमपण्णासाए सह भाणियव्वा।

---

१. पण्णवणासुत्तं भाग १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ३७९

२. प्रज्ञापनासूत्र भा. ५ (प्रमेयवोधिनी टीका) पृ. ४१९-४२०

[१७२१ प्र.] भगवन् ! त्रीन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म का कितने काल का बंध करते हैं ?

[१७२१ उ.] गौतम ! वे जघन्यतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम पचास सागरोपम के ३/७ भाग का बंध करते हैं और उत्कृष्ट वही परिपूर्ण बांधते हैं । इस प्रकार जिसके जितने भाग हैं, वे उनके पचास सागरोपम के साथ कहने चाहिए ।

१७२२. तेइंदिया णं० मिच्छत्तवेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमपण्णासं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति ।

[१७२२ प्र.] भगवन् ! त्रीन्द्रिय जीव मिथ्यात्व-वेदनीय कर्म का कितने काल का वन्ध करते हैं ।

[१७२२ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम पचास सागरोपम का और उत्कृष्ट पूरे पचास सागरोपम का बन्ध करते हैं ।

१७२३. तिरिक्खजोणियाउअस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडिं सोलसहिं राइंदिएहिं राइंदियतिभागेण य अहियं बंधंति । एवं मणुस्साउयस्स वि ।

[१७२३] तिर्यञ्चायु का जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट सोलह रात्रि-दिवस तथा रात्रिदिवस के तीसरे भाग अधिक करोड़ पूर्व का बन्धकाल है । इसी प्रकार मनुष्यायु का भी वन्धकाल है ।

१७२४. सेसं जहा बेइंदियाणं जाव अंतराइयस्स ।

[१७२४] शेष यावत् अन्तराय तक का बन्धकाल द्वीन्द्रिय जीवों के वन्धकाल के समान जानना चाहिए ।

विवेचन—त्रीन्द्रिय जीवों के बन्धकाल की विशेषता—त्रीन्द्रिय जीवों के बन्धकाल की प्ररूपणा भी इसी प्रकार की है, किन्तु उनका वन्धस्थितिकाल एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा ५० गुणा अधिक होता है ।[१]

चतुरिन्द्रिय जीवों की कर्मप्रकृतियों की स्थितिबन्ध-प्ररूपणा

१७२५. चउरिंदिया णं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसयस्स तिण्णि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति । एवं जस्स जइ भागा ते तस्स सागरोवमसतेण सह भाणियव्वा ।

[१७२५ प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म का कितने काल का बंध करते हैं ?

[१७२५ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सौ सागरोपम के ३/७ भागका और उत्कृष्ट पूरे सो सागरोपम के ३/७ भाग का बन्ध करते हैं ।

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १, पृ. ३८०
(ख) प्रज्ञापनासूत्र भा. ५ (प्रमेयबोधिनी टीका) पृ. ४२०

१७२६. तिरिक्खजोणियाउअस्स कम्मस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडिं दोहिं मासेहिं अहियं। एवं मणुस्साउअस्स वि।

[१७२६] तिर्यञ्चायुकर्म का (बन्धकाल) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है और उत्कृष्ट दो मास अधिक करोड़-पूर्व का है। इसी प्रकार मनुष्यायु का बन्धकाल भी जानना चाहिए।

१७२७. सेसं जहा बेइंदियाणं। णवरं मिच्छत्तवेयणिज्जस्स जहण्णेणं सागरोवमसतं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति। सेसं जहा बेइंदियाणं जाव अंतराइयस्स।

[१७२७] शेष यावत् अन्तराय तक द्वीन्द्रियजीवों के बन्धकाल के समान जानना चाहिए। विशेषता यह कि मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय) का जघन्य पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कम सौ सागरोपम और उत्कृष्ट परिपूर्ण सौ सागरोपम का वन्ध करते हैं। शेष कथन अन्तराय कर्म तक द्वीन्द्रियों के समान है।

विवेचन—चतुरिन्द्रिय जीवों के बन्धकाल की विशेषता—उनका बन्धकाल एकेन्द्रियों की अपेक्षा सौ गुणा अधिक होता है।[1]

असंज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों की कर्मप्रकृतियों की स्थितिबन्ध-प्ररूपणा

१७२८. असण्णी णं भंते! जीवा पंचेंदिया णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति?

गोयमा! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स तिण्णि सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे बंधंति। एवं सो चेव गमो जहा बेइंदियाणं। णवरं सागरोवम-सहस्सेण समं भाणियव्वा जस्स जति भाग त्ति।

[१७२८ प्र.] भगवन्! असंज्ञी-पंचेन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीय कर्म कितने काल का बांधते हैं?

[१७२८ उ.] गौतम! वे पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्रसागरोपम के $\frac{3}{7}$ भाग काल का और उत्कृष्ट परिपूर्ण सहस्र सागरोपम के $\frac{3}{7}$ भाग (काल) का बन्ध करते हैं। इस प्रकार द्वीन्द्रियों के (बन्धकाल के) विषय में जो गम (आलापक) कहा है, वही यहाँ जानना चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के प्रकरण में जिस कर्म का जितना भाग हो, उसका उतना ही भाग सहस्रसागरोपम से गुणित कहना चाहिए।

१७२९. मिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहण्णेणं सागरोवमसहस्सं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं।

[१७२९] वे मिथ्यात्ववेदनीयकर्म का जघन्य बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम का और उत्कृष्ट परिपूर्ण सहस्र सागरोपम का (बन्ध करते हैं)।

१, (क) पण्णावणासुत्तं, भाग १, पृ. ३८०
(ख) प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग ५, पृ. ४२१

१७३०. [१] णेरइयाउअस्स जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तब्भइयाइं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडितिभागब्भइयं बंधंति ।

[१७३०-१] वे नरकायुष्यकर्म का (बन्ध) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट पूर्वकोटि के त्रिभाग अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग का बन्ध करते हैं ।

[२] एवं तिरिक्खजोणियाउअस्स वि । णवरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं ।

[१७३०-२] इसी प्रकार तिर्यञ्चायु का भी उत्कृष्ट बन्ध पूर्वकोटि का त्रिभाग अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग का, किन्तु जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का करते हैं ।

[३] एवं मणुस्साउअस्स वि ।

[१७३०-३] इसी प्रकार मनुष्यायु के (बन्ध के) विषय में समझना चाहिए ।

[४] देवाउअस्स जहा णेरइयाउअस्स ।

[१७३०-४] देवायु का बन्ध नरकायु के समान समझना चाहिए ।

१७३१. [१] असण्णी णं भंते ! जीवा पंचेंदिया णिरयगतिणामए कम्मस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणाए, उक्कोसेणं ते चेव पडिपुण्णे ।

[१७३१-१ प्र.] भगवन् ! असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव नरकगतिनामकर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[१६३१-१ उ.] गौतम ! वे पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र-सागरोपम (काल) का २/७ भाग और उत्कृष्ट परिपूर्ण सहस्र सागरोपम का २/७ भाग बांधते हैं ।

[२] एवं तिरियगतीए वि ।

[१७३१-२] इसी प्रकार तिर्यञ्चगतिनामकर्म के बंध के विषय में समझना चाहिए ।

[३] मणुयगतिणामए वि एवं चेव । णवरं जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति ।

[१७३१-३] मनुष्यगतिनामकर्म के बन्ध के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए । विशेष यह है कि इसका जघन्य बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र-सागरोपम के १॥/७ भाग और उत्कृष्ट परिपूर्ण सहस्र-सागरोपम के १॥/७ भाग का करते हैं ।

[४] एवं देवगतिणामए वि । णवरं जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं, उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं ।

[१७३१-४] इसी प्रकार देवगतिनामकर्म के बन्ध के विषय में समझना । किन्तु विशेषता यह है कि इसका जघन्य बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम के १/७ भाग का और उत्कृष्ट पूरे उसी (सहस्र सागरोपम) के १/७ भाग का करते हैं ।

[५] वेउव्वियसरीरणामए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमसहस्सस्स दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए, उक्कोसेणं दो पडिपुण्णे बंधंति।

[१७३१-५ प्र.] भगवन् ! (असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव) वैक्रियशरीरनामकर्म का बन्ध कितने काल का करते हैं ?

[१७३१-५ उ.] गौतम ! वे जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम सहस्र सागरोपम के $\frac{2}{7}$ भाग का और उत्कृष्ट पूरे सहस्र सागरोपम के $\frac{2}{7}$ का करते हैं।

१७३२. सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-आहारगसरीरणामए तित्थगरणामए य ण किंचि बंधंति।

[१७३२] (असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव) सम्यक्त्वमोहनीय, सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय, आहारकशरीर-नामकर्म और तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध करते ही नहीं हैं।

१७३३. अवसिट्ठं जहा बेइंदियाणं। णवरं जस्स जत्तिया भागा तस्स ते सागरोवमसहस्सेणं सह भाणियव्वा। सव्वेसिं आणुपुव्वीए जाव अंतराइयस्स।

[१७३३] शेष कर्मप्रकृतियों का बन्धकाल द्वीन्द्रिय जीवों के कथन के समान जानना। विशेष यह है कि जिसके जितने भाग हैं, वे सहस्र सागरोपम के साथ कहने चाहिए। इसी प्रकार अनुक्रम से यावत् अन्तरायकर्म तक सभी कर्मप्रकृतियों का यथायोग्य (बन्धकाल) कहना चाहिए।

विवेचन—द्वीन्द्रियों के समान आलापक, किन्तु विशेष अन्तर भी—द्वीन्द्रिय जीवों के बन्धकाल से असंज्ञीपंचेन्द्रियों के प्रकरण में विशेषता यही है कि यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट बन्धकाल को सहस्र सागरोपम से गुणित कहना चाहिए। जिस कर्म का जितना भाग है, उसका उतना ही भाग यहाँ सहस्र सागरोपम से गुणित कहना चाहिए।[1]

संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों में कर्म-प्रकृतियों के स्थिति-बन्ध का निरूपण

१७३४. सण्णी णं भंते ! जीवा पंचेंदिया णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा०।

[१७३४ प्र.] भगवन् ! संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[१७३४ उ.] गौतम ! वे जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम (काल का) बन्ध करते हैं। इनका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। (उत्कृष्टकर्मस्थिति में से अबाधाकाल कम करने पर इनका कर्मनिषेककाल है।)

१७३५. [१] सण्णी णं भंते ! पंचेंदिया णिद्दापंचगस्स किं बंधंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ; उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा०।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र भा. ५, पृ. ४२६

[१७३५-१ प्र.] भगवन् ! संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव निद्रापंचककर्म का कितने काल का बन्ध करते हैं ?

[१७३५-१ उ.] गौतम ! वे जघन्य अन्तःकोडाकोडी सागरोपम का और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम का बन्ध करते हैं। इनका तीन हजार वर्ष का अबाधाकाल है०, इत्यादि पूर्ववत् ।

[२] दंसणचउक्कस्स जहा णाणावरणिज्जस्स ।

[१७३५-२] दर्शनचतुष्क का बन्धकाल ज्ञानावरणीयकर्म के बन्धकाल के समान है ।

१७३६. [१] सातावेदणिज्जस्स जहा ओहिया ठिती भणिया तहेव भाणियव्वा इरियावहिय-बंधयं पडुच्च संपराइयबंधयं च ।

[१७३६-१] सातावेदनीयकर्म का बन्धकाल उसकी जो औघिक (सामान्य) स्थिति कही है, उतना ही कहना चाहिए । ऐर्यापथिकबन्ध और साम्परायिकबन्ध की अपेक्षा से (सातावेदनीय का बन्धकाल पृथक्-पृथक्) कहना चाहिए ।

[२] असातावेयणिज्जस्स जहा णिद्दापंचगस्स ।

[१७३६-२] असातावेदनीय का बन्धकाल निद्रापंचक के समान (कहना चाहिए) ।

१७३७. [१] सम्मत्तवेदणिज्जस्स सम्मामिच्छत्तवेदणिज्जस्स य जा ओहिया ठिती भणिया तं बंधंति ।

[१७३७-१] वे सम्यक्त्ववेदनीय (मोहनीय) और सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीय (मोहनीय) की जो औघिक स्थिति कही है, उतने ही काल का बांधते हैं ।

[२] मिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहण्णेण्णं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ, उक्कोसेणं सत्तरि सागरोवमकोडाकोडीओ; सत्त य वाससहस्साइं अबाहा० ।

[१७३७-२] वे मिथ्यात्ववेदनीय का जघन्य अन्तःकोडाकोडी सागरोपम का और उत्कृष्ट ७० कोडाकोडी सागरोपम का बन्ध करते हैं। उनका अबाधाकाल सात हजार वर्ष का है, इत्यादि पूर्ववत् ।

[३] कसायबारसगस्स जहण्णेणं एवं चेव, उक्कोसेणं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ; चत्तालीस य वाससहस्साइं अबाहा० ।

[१०३७-३] कषायद्वादशक (बारह कषायों) का बन्धकाल जघन्यतः इसी प्रकार (अन्तः कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण) है और उत्कृष्टतः चालीस कोडाकोडी सागरोपम का है। इनका अबाधाकाल चालीस हजार वर्ष का है, इत्यादि पूर्ववत् ।

[४] कोह-माण-माया-लोभसंजलणाए य दो मासा मासो अद्धमासो अंतोमुहुत्तो एयं जहण्णगं उक्कोसगं पुण जहा कसायबारसगस्स ।

[१७३७-४] संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ का जघन्य बन्ध क्रमशः दो मास, एक मास, अर्द्ध मास और अन्तर्मुहूर्त्त का होता है तथा उत्कृष्ट बन्ध कषाय-द्वादशक के समान होता है ।

१७३८. चउण्ह वि आउआणं जा ओहिया ठिती भणिया तं बंधंति।

[१७३८] चार प्रकार के आयुष्य (नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु) कर्म की जो सामान्य (औघिक) स्थिति कही गई है, उसी स्थिति का वे (संज्ञीपंचेन्द्रिय) बन्ध करते हैं।

१७३९. [१] आहारगसरीरस्स तित्थगरणामए य जहण्णेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ, उक्कोसेण वि अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ बंधंति।

[१७३९-१] वे आहारकशरीर और तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध जघन्यत: अन्त:कोटकोटि सागरोपम का करते हैं और उत्कृष्टत: भी उतने ही काल का बन्ध करते हैं।

[२] पुरिसवेदस्स जहण्णेणं अट्ठ संवच्छराइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ; दस य वाससयाइं अबाहा०।

[१७३९-२] पुरुषवेदकर्म का बन्ध वे जघन्य आठ वर्ष का और उत्कृष्ट दशकोटाकोटि सागरोपम का करते हैं। उनका अबाधाकाल दस सौ (एक हजार) वर्ष का है, इत्यादि पूर्ववत्।

[३] जसोकित्तिणामए उच्चागोयस्स य एवं चेव। णवरं जहण्णेणं अट्ठ मुहुत्ता।

[१७३९-३] यश:कीर्तिनामकर्म और उच्चगोत्र का बन्ध भी इसी प्रकार (पुरुषवेदवत्) जानना चाहिए। विशेष यह है कि संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों का जघन्य स्थितिबन्ध (-काल) आठ मुहूर्त्त का है।

१७४०. अंतराइयस्स जहा णाणावरणिज्जस्स।

[१७४०] अन्तरायकर्म का बन्धकाल ज्ञानावरणीयकर्म के (बन्धकाल के) समान है।

१७४१. सेसएसु सव्वेसु ठाणेसु संघयणेसु संठाणेसु वण्णेसु गंधेसु य जहण्णेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ, उक्कोसेणं जा जस्स ओहिया ठिती भणिया तं बंधंति, णवरं इम णाणा त्तं—अबाहा अबाहूणिया ण वुच्चति। एवं आणुपुव्वीए सव्वेसिं जाव अंतराइयस्स ताव भाणियव्वं।

[१७४१] शेष सभी स्थानों में तथा संहनन, संस्थान, वर्ण, गन्ध-नामकर्मों में बन्ध का जघन्य काल अन्त:कोटाकोटि सागरोपम का है और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का काल, जो इनकी सामान्य स्थिति कही है, वही कहना चाहिए। विशेष अन्तर यह है कि इनका 'अबाधाकाल' और अबाधाकालन्यून (कर्मनिषेककाल) नहीं कहा जाता।

इसी प्रकार अनुक्रम से सभी कर्मों का यावत् अन्तरायकर्म तक का स्थितिबन्धकाल कहना चाहिए।

विवेचन—कुछ स्पष्टीकरण—संज्ञीपंचेन्द्रिय बन्धक की अपेक्षा से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का जो जघन्य स्थितिबन्धकाल कहा गया है, वह क्षपक जीव को उस समय होता है, जब उन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का चरम समय हो। निद्रापंचक, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, कषाय-द्वादश आदि का बन्ध क्षपण से पहले होता है, अतएव उनका जघन्य और उत्कृष्ट बन्ध भी अन्त:कोटाकोटि

सागरोपम का होता है, जो अत्यन्त संक्लेशयुक्त मिथ्यादृष्टि के समझना चाहिए। चारों प्रकार के आयुष्यकर्म का उत्कृष्ट बन्ध उन-उनके वन्धकों में जो अतिविशुद्ध होते हैं, उनको होता है।[1]

कर्मों के जघन्य स्थितिबन्धक की प्ररूपणा

१७४२. णाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जहण्णठितिबंधए के ?

गोयमा ! अण्णयरे सुहुमसंपराए उवसामए वा खवए वा, एस णं गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स जहण्णठितिबंधए, तव्वइरित्ते अजहण्णे। एवं एतेणं अभिलावेणं मोहाऽऽउअवज्जाणं सेसकम्माणं भाणियव्वं।

[१७४२ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक (बांधने वाला) कौन है ?

[१७४२ उ.] गौतम ! वह अन्यतर (कोई एक) सूक्ष्मसम्पराय, उपशामक (उपशम श्रेणी वाला) या क्षपक (क्षपक श्रेणी वाला) होता है। हे गौतम ! यही ज्ञानावरणीयकर्म का जघन्य स्थिति-वन्धक होता है, उससे अतिरिक्ति अजघन्य स्थिति का वन्धक होता है। इस प्रकार इस अभिलाप से मोहनीय और आयुकर्म को छोड़ कर शेष कर्मों के विषय में कहना चाहिए।

१७४३. मोहणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जहण्णठितिबंधए के ?

गोयमा ! अण्णयरे बायरसंपराए उवसामए वा खवए वा, एस णं गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जहण्णठितिबंधए, तव्वतिरित्ते अजहण्णे।

[१७४३ प्र.] भगवन् ! मोहनीयकर्म की जघन्य स्थिति का वन्धक कौन है ?

[१७४३ उ.] गौतम ! वह अन्यतर बादरसम्पराय, उपशामक अथवा क्षपक होता है। हे गौतम ! यह मोहनीयकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक होता है, उससे भिन्न अजघन्य स्थिति का बन्धक होता है।

१७४४. आउयस्स णं भंते ! कम्मस्स जहण्णठितिबंधए के ?

गोयमा ! जे णं जीवे असंखेप्पद्धप्पविट्ठे सव्वणिरुद्धे से आउए, सेसे सव्वमहंतीए आउअबंधद्धाए, तीसे णं आउअबंधद्धाए चरिमकालसमयंसि सव्वजहण्णियं ठिइं पज्जत्तापज्जत्तियं णिव्वत्तेति। एस णं गोयमा ! आउयकम्मस्स जहण्णठितिबंधए, तव्वइरित्ते अजहण्णे।

[१७४४ प्र.] भगवन् ! आयुष्यकर्म का जघन्यस्थिति-बन्धक कौन है ?

[१७४४ उ.] गौतम ! जो जीव असंक्षेप्य-अद्धाप्रविष्ट होता है, उसकी आयु सर्वनिरुद्ध (सवसे कम) होती है। शेष सवसे वड़े उस आयुष्य-बन्धकाल के अन्तिम काल के समय में जो सबसे जघन्य स्थिति को तथा पर्याप्ति-अपर्याप्ति को वांधता है। हे गौतम ! यही आयुष्यकर्म की जघन्य स्थिति का वन्धक होता है, उससे भिन्न अजघन्य स्थिति का वन्धक होता है।

विवेचन—निष्कर्ष—मोहनीय और आयुकर्म को छोड़कर शेष पांच कर्मों की जघन्य स्थिति का वन्धक जीव सूक्ष्मसम्पराय अवस्था से युक्त उपशमक अथवा क्षपक दोनों में से कोई एक (अन्यतर)

---

१. प्रज्ञापनासूत्र भाग ५, (प्रमेयवोधिनी टीका) पृ. ४३३-४३४

होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्ध सूक्ष्मसम्पराय अवस्था में उपशमक और क्षपक दोनों का जघन्य अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण होता है। अतएव दोनों का स्थितिबन्ध का काल समान होने से कहा गया है—उपशमक अथवा क्षपक दोनों में से कोई एक। यद्यपि उपशमक और क्षपक दोनों का स्थितिबन्धकाल अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण है, तथापि दोनों के अन्तर्मुहूर्त्त के प्रमाण में अन्तर होता है। क्षपक की अपेक्षा उपशमक का बन्धकाल दुगुना समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—दसवें गुणस्थान वाले क्षपक को जितने काल का ज्ञानावरणीय कर्म का स्थितिबन्ध होता है, उसकी अपेक्षा श्रेणी चढ़ते हुए उपशमक को दुगुने काल का स्थितिबन्ध होता है और फिर वह श्रेणी से गिरते हुए दसवें गुणस्थान में आता है, तो श्रेणी चढ़ते जीव की अपेक्षा भी दुगुना स्थितिबन्ध काल होता है। फिर भी उसका काल होता है—अन्तर्मुहूर्त्त ही। इस प्रकार वेदनीयकर्म के साम्परायिकबन्ध की प्ररूपणा करते समय क्षपक का जघन्य स्थितिबन्ध १२ मुहूर्त्त का और उपशमक का २४ मुहूर्त्त का कहा है। नाम और गोत्रकर्म का क्षपक जीव आठ मुहूर्त्त का स्थितिबन्ध करता है, जबकि उपशमक १६ मुहूर्त्त करता है। किन्तु उपशमक एवं क्षपक जीव का जघन्यबन्ध शेष सब बन्धों की अपेक्षा सर्वजघन्यबन्ध समझना चाहिए। इसीलिए कहा गया है—उपशमक एवं क्षपक जीव, जो सूक्ष्म-सम्पराय अवस्था में हो वही ज्ञानावरणीयादि कर्मों का जघन्य स्थितिबन्धक है।[1]

मोहनीयकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक—बादरसम्पराय से युक्त उपशमक या क्षपक जीव मोहनीय कर्म की स्थिति का बन्धक होता है।[2]

आयुकर्म की जघन्य स्थिति का बन्धक कौन और क्यों?—जो जीव असंक्षेप्य-अद्धाप्रविष्ट होता है, उसकी आयु सर्वनिरुद्ध होती है। उसका आयुष्य आठ आकर्ष प्रमाण सबसे बड़ा काल होता है, आयु के बन्ध होते ही वह आयुष्य समाप्त हो जाता है। अतः असंक्षेप्याद्धाप्रविष्ट जीव आयुष्यबन्ध काल के चरम समय में अर्थात्—एक आकर्षप्रमाण अष्टम भाग में सर्वजघन्य स्थिति को बांधता है। वह स्थिति शरीर-पर्याप्ति और इन्द्रिय-पर्याप्ति को सम्पन्न करने में समर्थ और उच्छ्वास-पर्याप्ति को निष्पन्न करने में असमर्थ होती है। यहाँ असंक्षेप्याद्धा, सर्वनिरुद्ध और चरमकाल आदि कुछ पारिभाषिक शब्द है, उनके लक्षण इस प्रकार हैं—**असंक्षेप्याद्धा**—जिसका त्रिभाग आदि प्रकार से संक्षेप न हो सके ऐसा अद्धा-काल असंक्षेप्याद्धा कहलाता है। ऐसे जीव का आयुष्य **सर्वनिरुद्ध** होता है। अर्थात् उपक्रम के कारणों द्वारा आयुष्य अतिसंक्षिप्त किया हुआ होता है। ऐसा आयुष्य आयुष्यबन्ध के समय तक ही सीमित होता है, आगे नहीं। **चरमकाल समय**—इस शब्द से सूक्ष्म अंश का ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु पूर्वोक्तकाल ही समझना चाहिए, क्योंकि उससे कम काल में आयु का बन्ध होना सम्भव नहीं।[3]

कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के बन्धकों की प्ररूपणा

१७४५. उक्कोसकालठितीयं णं भंते! णाणावरणिज्जं कम्मं किं णेरइओ बंधति तिरिक्खजोणिओ बंधति तिरिक्खजोणिणी बंधति मणुस्सो बंधति मणुस्सी बंधति देवो बंधति देवी बंधति?

गोयमा! णेरइओ वि बंधति जाव देवी वि बंधति।

---

१. प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ४३७

२. वही, भा. ५, पृ. ४४०

३. वही, भा. ५, पृ. ४४०-४४१

[१७४५-प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले ज्ञानावरणीयकर्म को क्या नारक बांधता है, तिर्यञ्च बांधता है, तिर्यञ्चिनी बांधती है, मनुष्य बांधता है, मनुष्य स्त्री बांधती है अथवा देव बांधता है या देवी बांधती है ।

[१७४५ उ.] गौतम ! उसे नारक भी बांधता है यावत् देवी भी बांधती है ।

१७४६. केरिसए णं भंते ! णेरइए उक्कोसकालठितीयं णाणावरणिज्जं कम्मं बंधति ?

गोयमा ! सण्णी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्ते सागारे जागरे सुतोवउत्ते मिच्छादिट्ठी कण्हलेसे उक्कोससंकिलिट्ठपरिणामे ईसिमज्झिमपरिणामे वा, एरिसए णं गोयमा ! णेरइए उक्कोसकालठितीयं णाणावरणिज्जं कम्मं बंधति ।

[१७४६ प्र.] भगवन् ! किस प्रकार का नारक उत्कृष्ट स्थिति वाला ज्ञानावरणीयकर्म बांधता है ?

[१७४६ उ.] गौतम ! जो संज्ञीपंचेन्द्रिय, समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त, साकारोपयोग वाला, जाग्रत, श्रुत में उपयोगवान्, मिथ्यादृष्टि, कृष्णलेश्यावान्, उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम वाला अथवा किञ्चित् मध्यम परिणाम वाला हो, ऐसा नारक, हे गौतम ! उत्कृष्ट स्थिति वाले ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता है ।

१७४७. [१] केरिसए णं भंते ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालठितीयं णाणावरणिज्जं कम्मं बंधति ?

गोयमा ! कम्मभूमए वा कम्मभूमगपलिभागी वा सण्णी पंचेंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए, सेसं तं चेव जहा णेरइयस्स ।

[१७४७-१ प्र.] भगवन् ! किस प्रकार तिर्यञ्च उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले ज्ञानावरणीय-कर्म को बांधता है ?

[१७४७-१ उ.] गौतम ! जो कर्मभूमि में उत्पन्न हो अथवा कर्मभूमिज के सदृश हो, संज्ञी-पंचेन्द्रिय, सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त, साकारोपयोग वाला, जाग्रत, श्रुत में उपयोगवान् मिथ्यादृष्टि, कृष्णलेश्यावान् एवं उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम वाला हो तथा किञ्चित् मध्यम परिणाम वाला हो, हे गौतम ! इसी प्रकार का तिर्यञ्च उत्कृष्ट स्थिति वाले ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता है ।

[२] एवं तिरिक्खजोणिणी वि, मणूसे वि मणूसी वि । देव-देवी जहा णेरइए (सु. १७४६) ।

[१७४७-२] इसी प्रकार की (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) तिर्यञ्चिनी भी मनुष्य और मनुष्यस्त्री भी उत्कृष्ट स्थिति वाले ज्ञानावरणीय कर्म को बांधती है । (पूर्वोक्त विशेषण युक्त) (सू. १७४६ में उक्त) नारक के सदृश देव और देवी (उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयकर्म बांधते हैं ।)

१७४८. एवं आउअवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं ।

[१७४८] आयुष्य को छोड़कर शेष (उत्कृष्ट स्थिति वाले) सात कर्मों के बन्ध के विषय में पूर्ववत् जानना चाहिए ।

१७४९. उक्कोसकालठितीयं णं भंते ! आउअं कम्मं किं णेरइओ बंधइ जाव देवी बंधइ ?

गोयमा ! णो णेरइओ बंधइ, तिरिक्खजोणिओ बंधति, णो तिरिक्खजोणिणी बंधति, मणुस्सो वि बंधति, मणुस्सी वि बंधति, णो देवो बंधति, णो देवी बंधइ ।

[१७४९ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को क्या नैरयिक बांधता है, यावत् देवी बांधती है ?

[१७४९ उ.] गौतम ! उसे नारक नहीं बांधता, तिर्यञ्च बांधता है, किन्तु तिर्यञ्चिनी, देव या देवी नहीं बांधती, मनुष्य बांधता है तथा मनुष्य स्त्री भी बांधती है ।

१७५०. केरिसए णं भंते ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालठितीयं आउयं कम्मं बंधति ?

गोयमा ! कम्मभूमए वा कम्मभूमगपलिभागी वा सण्णी पंचेंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए सागारे जागरे सुतोवउत्ते मिच्छद्दिट्ठी परमकिण्हलेस्से उक्कोससंकिलिट्ठपरिणामे, एरिसए णं गोयमा ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालठितीयं आउअं कम्मं बंधति ।

[१७५० प्र.] भगवन् ! किस प्रकार का तिर्यञ्च उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधता है ?

[१७५० उ.] गौतम ! जो कर्मभूमि में उत्पन्न हो अथवा कर्मभूमिज के समान हो, संज्ञी-पंचेन्द्रिय, सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त, साकारोपयोग वाला हो, जाग्रत हो, श्रुत में उपयोगवान्, मिथ्यादृष्टि परमकृष्णलेश्यावान् एवं उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम वाला हो, ऐसा तिर्यञ्च उत्कृष्ट स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधता है ।

१७५१. केरिसए णं भंते ! मणूसे उक्कोसकालठितीयं आउयं कम्मं बंधति ?

गोयमा ! कम्मभूमगे वा कम्मभूमगपलिभागी वा जाव सुतोवउत्ते सम्मद्दिट्ठी वा मिच्छद्दिट्ठी वा कण्हलेसे वा सुक्कलेसे वा णाणी वा अण्णाणी वा उक्कोससंकिलिट्ठपरिणामे वा तप्पाउग्गविसुज्झमाणपरिणामे वा, एरिसए णं गोयमा ! मणूसे उक्कोसकालठिईयं आउअं कम्मं बंधति ।

[१७५१ प्र.] भगवन् ! किस प्रकार का मनुष्य उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधता है ?

[१७५१ उ.] गौतम ! जो कर्मभूमिज हो अथवा कर्मभूमिज के सदृश हो यावत् श्रुत में उपयोग वाला हो, सम्यग्दृष्टि हो अथवा मिथ्यादृष्टि हो, कृष्णलेश्यी हो या शुक्ललेश्यी हो, ज्ञानी हो या अज्ञानी हो, उत्कृष्ट संक्लिष्ट परिणाम वाला हो, अथवा तत्प्रायोग्य विशुद्ध होते हुए परिणाम वाला हो, हे गौतम ! इस प्रकार का मनुष्य उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधता है ।

१७५२. केरिसिया णं भंते ! मणूसी उक्कोसकालठितीयं आउयं कम्मं बंधइ ?

गोयमा ! कम्मभूमिगा वा कम्मभूमगपलिभागी वा जाव सुतोवउत्ता सम्मद्दिट्ठि सुक्कलेस्सा तप्पाउग्गविसुज्झमाणपरिणामा एरिसिया णं गोयमा ! मणुस्सी उक्कोसकालठितीयं आउयं कम्मं बंधति ।

[१७५२ प्र.] भगवन् ! किस प्रकार की मनुष्य-स्त्री उत्कृष्ट काल की स्थितिवाले आयुष्यकर्म को बांधती है ?

[१७५२ उ.] गौतम ! जो कर्मभूमि में उत्पन्न हो अथवा कर्मभूमिजा के समान हो यावत् श्रुत में उपयोग वाली हो, सम्यग्दृष्टि हो, शुक्ललेश्यावाली हो, तत्प्रायोग्य विशुद्ध होते हुए परिणाम वाली हो, हे गौतम ! इस प्रकार की मनुष्य-स्त्री उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले आयुष्यकर्म को बांधती है ।

१७५३. अंतराइयं जहा णाणावरणिज्जं (१७४५-४७) ।

[बीओ उद्देसओ समत्तो]

।। पण्णवणाए भगवतीए तेवीसइमं कम्मे त्ति पदं समत्तं ।।

[१७५३] उत्कृष्ट स्थिति वाले अन्तरायकर्म के वंध के विषय में (सू. १७४५-४७ में उक्त) ज्ञानावरणीयकर्म के समान जानना चाहिए ।

विवेचन—निष्कर्ष—आयुकर्म को छोड़कर शेष सातों उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों को पूर्वोक्त विशेषता वाले नारक, तिर्यञ्च, तिर्यञ्चिनी, मनुष्य, मानुषी, देव या देवी बांधती है । उत्कृष्ट स्थिति वाले आयुष्यकर्म को तिर्यञ्च, मनुष्य और मानुषी बंधती है, किन्तु नारक, तिर्यञ्चिनी, देव और देवी नहीं वांधती, क्योंकि इन चारों के उत्कृष्ट आयुकर्म का वन्ध नहीं होता ।[1]

कठिन शब्दार्थ—कम्मभूमिगपलिभागी—जो कर्मभूमि में जन्मे हुए के समान हों । अर्थात् कर्मभूमिजा गर्भिणी तिर्यञ्चिनी का अपहरण करके किसी ने यौगलिक क्षेत्र में रख दिया हो और उससे जो जन्मा हो ऐसा तिर्यञ्च । **सागारे**—साकारोपयोग वाला । **सुतोवउत्ते**—श्रुत (शास्त्र) में उपयोग वाला । **सुक्कलेस्से**—शुक्ललेश्यी । **तप्पाउग्गविसुज्झमाण-परिणामे**—उसके योग्य विशुद्ध परिणाम वाला हो ।

।। दूसरा उद्देशक समाप्त ।।

।। प्रज्ञापना भगवती का तेईसवाँ कर्मप्रकृतिपद सम्पूर्ण ।।

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ३८३-३८४

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधनीटीका) भा. ५, पृ. ४५१ से ४५६ तक

चउवीसइमं कम्मबंध-पयं

चौवीसवाँ कर्मबन्ध-पद

ज्ञानावरणीयकर्म के बंध के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध की प्ररूपणा

१७५४. [१] कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

[१७५४-१-प्र.] भगवन् ! कर्म-प्रकृतियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१७५४-१-उ.] गौतम ! कर्म-प्रकृतियाँ आठ कही गई हैं । यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय ।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

[१७५४-२] इसी प्रकार नैरयिकों (से लेकर) यावत् वैमानिकों तक (के आठ कर्म-प्रकृतियाँ हैं ।)

१७५५. जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा ।

[१७५५-प्र०] भगवन् ! (एक) जीव ज्ञानावरणीयकर्म को बांधता हुआ कितनी कर्म-प्रकृतियों को बांधता है ?

[१७५५-उ.] गौतम ! वह सात, आठ या छह कर्म-प्रकृतियों का बन्धक होता है ।

१७५६. [१] णेरइए णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा ।

[१७५६-१-प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक जीव ज्ञानावरणीयकर्म को बांधता हुआ कितनी कर्म-प्रकृतियाँ बांधता है ?

[१७५६-१-उ.] गौतम ! वह सात या आठ कर्म-प्रकृतियाँ बांधता है ।

[२] एवं जाव वेमाणिए । णवरं मणूसे जहा जीवे (सु. १७५५) ।

[१७५६-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त कथन करना चाहिए । विशेष यह है कि मनुष्य-सम्बन्धी कथन (सू. १७५५ उल्लिखित) समुच्चय-जीव के समान जानना चाहिए ।

१७५७. जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य १ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ३ ।

[१७५७-प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव ज्ञानावरणीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्म-प्रकृतियों को बांधते हैं ?

[१७५७-उ.] गौतम ! १—सभी जीव सात या आठ कर्म-प्रकृतियों के बन्धक होते हैं; २—अथवा बहुत से जीव सात या आठ कर्म-प्रकृतियों के बन्धक और कोई एक जीव छह का बन्धक होता है; ३—अथवा बहुत से जीव सात, आठ या छह कर्म-प्रकृतियों के बन्धक होते हैं ।

१७५८. [१] णेरइया णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य, ३ तिण्णि भंगा ।

[१७५८-१-प्र.] भगवन् ! (बहुत से) नैरयिक ज्ञानावरणीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्म-प्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[१७५८-१ उ.] गौतम ! १ सभी नैरयिक सात कर्म-प्रकृतियों के बन्धक होते हैं अथवा बहुत से नैरयिक सात कर्म-प्रकृतियों के बन्धक और एक नैरयिक आठ कर्म-प्रकृतियों का बन्धक होता है, ३—अथवा बहुत से नैरयिक सात या आठ कर्म-प्रकृतियों के बन्धक होते हैं । ये तीन भंग होते हैं ।

[२] एवं जाव थणियकुमारा ।

[१७५८-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक जानना चाहिए ।

१७५९. [१] पुढविक्काइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि ।

[१७५९-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) पृथ्वीकायिक जीव ज्ञानावरणीयकर्म को बाँधते हुए कितनी कर्मप्रकृतियों को बांधते हैं ?

[१७५९-१ उ.] गौतम! वे सात कर्मप्रकृतियों के भी बन्धक होते हैं, आठ कर्मप्रकृतियों के भी ।

[२] एवं जाव वणस्सतिकाइया ।

[१७५९-२] इसी प्रकार यावत् (बहुत) वनस्पतिकायिक जीवों के सम्बन्ध में कहना चाहिए ।

१७६०. वियलाणं पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण य तियभंगो—सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३ ।

[१७६०] विकलेन्द्रियों और तिर्यञ्च-पञ्चेन्द्रियजीवों के तीन भंग होते हैं—१. सभी सात कर्मप्रकृतियों के बन्धक होते हैं, २. अथवा बहुत-से सात कर्मप्रकृतियों के और कोई एक आठ कर्मप्रकृतियों का बन्धक होता है, ३. अथवा बहुत-से सात के तथा बहुत-से आठ कर्मप्रकृतियों के बन्धक होते हैं ।

१७६१. मणूसा णं भंते ! णाणावरणिज्जस्स पुच्छा ।

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधए य ४ अहवा सत्त-

विहबंधगा य छव्विहबंधगा य ५ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए ६ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगा य ७ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य ८ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ९, एवं एते णव भंगा। सेसा वाणमंतराइया जाव वेमाणिया जहा णेरइया सत्तविहादिबंधगा भणिया (सु. १७५८ [१]) तहा भाणियव्वा।

[१७६१ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) मनुष्य ज्ञानावरणीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्म-प्रकृतियों को बांधते हैं ?

[१७६१ उ.] गौतम ! १. सभी मनुष्य सात कर्मप्रकृतियों के बन्धक होते हैं, २. अथवा बहुत-से मनुष्य सात के बन्धक और कोई एक मनुष्य आठ का बन्धक होता है, ३. अथवा बहुत-से सात के तथा आठ के बन्धक होते हैं, ४, अथवा बहुत-से मनुष्य सात के और कोई एक मनुष्य छह का बन्धक होता है, ५. बहुत-से मनुष्य सात के और बहुत-से छह के बन्धक होते हैं, ६. अथवा बहुत-से सात के बन्धक होते हैं तथा एक आठ का एवं कोई एक छह का बन्धक होता है, ७. अथवा बहुत-से सात के बन्धक कोई एक आठ का बन्धक और बहुत-से छह के बन्धक होते हैं, ८. अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के और एक छह का बन्धक होता है, ९. अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के और बहुत-से छह के बन्धक होते हैं। इस प्रकार ये कुल नौ भंग होते हैं।

शेष वाणव्यन्तरादि (से लेकर) यावत् वैमानिक-पर्यन्त जैसे (सू. १७५८-१ में) नैरयिक सात आदि कर्म-प्रकृतियों के बन्धक कहे हैं, उसी प्रकार कहने चाहिए।

दर्शनावरणीयकर्मबन्ध के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण

१७६२. एवं जहा णाणावरणं बंधमाणा जाहिं भणिया दंसणावरणं पि बंधमाणा ताहिं जीवादीया एगत्त-पोहत्तेहिं भाणियव्वा।

[१७६२] जिस प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म को बांधते हुए जिन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का कथन किया, उसी प्रकार दर्शनावरणीयकर्म को बांधते हुए जीव आदि के विषय में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से उन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का कथन करना चाहिए।

विवेचन—ज्ञान-दर्शनावरणीय कर्म-बन्ध के साथ अन्य कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का निरूपण (१) समुच्चयजीव—सात, आठ या छह कर्मप्रकृतियों के बन्धक कैसे ?—जीव जब ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करता है, तब यदि आयुष्यकर्म का बन्ध न करे तो सात प्रकृतियाँ, यदि आयुष्य-बन्ध करे तो आठ कर्मप्रकृतियाँ बांधता है और जब मोहनीय और आयु दोनों का बन्ध नहीं करता, तब छह कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है। ऐसे जीव सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानवर्ती हैं, जो मोहनीय और आयु को छोड़कर शेष छह कर्म-प्रकृतियों के बन्धक होते हैं। केवल एक सातावेदनीय कर्मप्रकृति बांधने वाला ग्यारहवें (उपशान्त-मोहनीय), बारहवें (क्षीण-मोहनीय) और तेरहवें (सयोगी-केवली) गुणस्थानवर्ती जीव होता है। उस समय वे दो समय की स्थितिवाला सातावेदनीयकर्म बांधते हैं। उनके साम्परायिक बन्ध नहीं होता, क्योंकि उपशान्तकषाय आदि जीवों के ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का विच्छेद सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान के चरम समय में ही हो जाता है। **(२) नारकादि जीव**—

नारक जीव ज्ञानावरणीय का बन्ध करता हुआ जब आयुकर्म का वन्ध नहीं करता तब सात का बंध करता है और जब आयुष्यकर्म का बंध करता है, तब आठ कर्मप्रकृतियों का बंधक होता है। नारक जीव में छह कर्मप्रकृतियों के बंध का विकल्प सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः मनुष्य को छोड़कर शेष सभी प्रकार के जीवों (दण्डकों) में पूर्वोक्त दो विकल्प (सात या आठ के बंध के) ही समझने चाहिए, क्योंकि उन्हें सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान प्राप्त न होने से उनमें तीसरा (छह प्रकृतियों के बंध का) विकल्प सम्भव नहीं है। मनुष्य का कथन सामान्य जीव के समान है। अर्थात्—मनुष्य में तीनों भंग पाये जाते हैं। **(३) बहुत्व की अपेक्षा से समुच्चय जीव के ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के साथ अन्य कर्मबन्धन**—सभी जीव आयुकर्म बंध के अभाव में सात के और उसके बंध के सद्भाव में आठ कर्मप्रकृतियों के बंधक होते हैं। बहुत्व-विवक्षा में सात या आठ के बंधक तो सदैव बहुसंख्या में पाये जाते हैं, किन्तु छह के बंधक किसी काल-विशेष में ही पाये जाते हैं और किसी काल में नहीं पाये जाते, क्योंकि उसका अन्तरकाल छह महीने तक का कहा गया है। जब एक षड्विधबंधक नहीं पाया जाता, तब प्रथम भंग होता है, जब एक पाया जाता है तो द्वितीय और जब बहुत षड् बंधक जीव पाये जाते हैं, तब तृतीय विकल्प होता है।

वेदनीय कर्मबन्ध के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण

१७६३. [१] वेयणिज्जं बंधमाणे जीवे कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा।

[१७६३-१ प्र.] भगवन् ! वेदनीयकर्म को बाँधता हुआ एक जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ?

[१७६३-१ उ.] गौतम ! सात का, आठ का, छह का अथवा एक प्रकृति का बन्धक होता है।

[२] एवं मणूसे वि।

[१७६३-२] मनुष्य के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहना चाहिए।

[३] सेसा णारगादीया सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य जाव वेमाणिए।

[१७६३-३] शेष नारक आदि सप्तविध और अष्टविध बन्धक होते हैं, वैमानिक तक इसी प्रकार कहना चाहिए।

१७६४. जीवा णं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं० पुच्छा।

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगे य १ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य २।

[१७६४ प्र.] भगवन् ! बहुत जीव वेदनीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[१७६४ उ.] गौतम ! सभी जीव सप्तविधबन्धक, अष्टविधबन्धक, एक प्रकृतिबन्धक और एक जीव छह प्रकृतिबन्धक होता है १, अथवा बहुत सप्तविधबन्धक, अष्टविधबन्धक, एकविधबन्धक या छहविधबन्धक होते हैं २।

१७६५. [१] अवसेसा णारगादीया जाव वेमाणिया जाओ णाणावरणं बंधमाणा बंधंति ताहि भाणियव्वा।

[१७६५-१] शेष नारकादि से वैमानिक पर्यन्त ज्ञानावरणीय को बांधते हुए जितनी प्रकृतियों को वांधते हैं, उतनी का वन्ध यहाँ भी कहना चाहिए।

[२] णवरं मणूसा णं भंते ! वेदणिज्जं कम्मं बंधमाणा कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य १ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए २ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगे य ४ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ५ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य ६ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधगा य ७ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य ८ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ९, एवं णव भंगा।

[१७६५-२] विशेष यह है कि भगवन् ! मनुष्य वेदनीयकर्म को बाँधते हुए कितनी कर्मप्रकृतियों को बाँधते हैं।

गौतम ! सभी मनुष्य सप्तविधवन्धक और एकविधवन्धक होते हैं १, अथवा वहुत सप्तविधवन्धक, वहुत एकविधवन्धक और एक अष्टविधवन्धक होता है २, अथवा वहुत सप्तविधवन्धक, वहुत एकविधवन्धक और वहुत अष्टविधवन्धक होते हैं ३, अथवा वहुत सप्तविधवन्धक, वहुत एकविधवन्धक और एक षड्विधवन्धक होता है ४, अथवा वहुत सप्तविधवन्धक, वहुत एकविधवन्धक, वहुत षड्विधवन्धक ५, अथवा वहुत सप्तविधवन्धक, वहुत एकविधवन्धक, एक अष्टविधवन्धक और एक षड्विधवन्धक, होता है ६, अथवा वहुत सप्तविधवन्धक, वहुत एकविधवन्धक, एक अष्टविधवन्धक और वहुत षड्विध वन्धक होते हैं ७, अथवा वहुत सप्तविधवन्धक, वहुत एकविधवन्धक, वहुत अष्टविधबन्धक और एक षड्विधवन्धक होता है ८, अथवा वहुत सप्तविधवन्धक, वहुत एकविधवन्धक ,वहुत अष्टविधवन्धक और वहुत षड्विधवन्धक होते हैं ९। इस प्रकार नौ भंग होते हैं।

मोहनीय आदि कर्मों के बन्ध के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण

१७६६. मोहणिज्जं बंधमाणे जीवे कति कम्मपगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। जीवेगिंदिया सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि।

[१७६६ प्र.] भगवन् ! मोहनीय कर्म बाँधता जीव कितनी कर्मप्रकृतियों को बांधता है ?

[१७६६ उ.] गौतम ! सामान्य जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग कहना चाहिए। जीव और एकेन्द्रिय सप्तविधवन्धक भी और अष्टविधवन्धक भी होते हैं।

१७६७. [१] जीवे णं भंते ! आउअं कम्मं बंधमाणे कति कम्मपगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! णियमा अट्ठ। एवं णेरइए जाव वेमाणिए।

[१७६७-१ प्र.] भगवन् ! आयुकर्म को बांधता जीव कितनी कर्मप्रकृतियों को बाँधता है ?

[१७६७-१ उ.] गौतम ! नियम से आठ प्रकृतियाँ बाँधता है। नैरयिकों से लेकर वैमानिक पर्यन्त सभी दण्डकों में इसी प्रकार कहना चाहिए।

[२] एवं पुहत्तेण वि।

[२] इसी प्रकार बहुतों के विषय में भी कहना चाहिए।

१७६८. [१] णाम-गोय-अंतरायं बंधमाणे जीवे कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! जाओ णाणावरणिज्जं बंधमाणे बंधइ ताहिं भाणियव्वो।

[१७६८-१ प्र.] भगवन् ! नाम, गोत्र और अन्तरायकर्म को बांधता जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बाँधता है ?

[१७६८-१ उ.] गौतम ! ज्ञानावरणीय को बाँधने वाला जिन कर्मप्रकृतियों को बांधता है, वे ही यहाँ कहनी चाहिए।

[२] एवं णेरइए वि जाव वेमाणिए।

[१७६८-२] इसी प्रकार नारकों से लेकर वैमानिक तक कहना चाहिए।

[३] एवं पुहत्तेण वि भाणियव्वं।

[१७६८-३] इसी प्रकार बहुवचन में भी समझ लेना चाहिए।

॥ पण्णवणाए भगवतीए चउवीसइमं कम्मबंधपदं समत्तं ॥

विवेचन—वेदनीय कर्मबन्ध के समय अन्य प्रकृतियों का बन्ध—वेदनीय बन्ध के साथ कोई जीव सात का कोई आठ का और कोई छह का बंधक होता है, उपशान्तमोह आदि वाला कोई एक ही प्रकृति का बंधक होता है। मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही कथन समझना चाहिए। नारकादि कोई सात और कोई आठ के बन्धक होते हैं।

बहुत जीव (समुच्चय) पद में—सभी सात के या बहुत आठ के, बहुत-से एक के, कोई एक छह का बंधक होता है। अथवा बहुत सात के, बहुत आठ के, बहुत एक के और बहुत छह के बन्धक होते हैं। शेष नारकों से वैमानिकों तक में ज्ञानावरणीयकर्मबंध के कथन के समान है। **मनुष्यों के सम्बन्ध में ९ भंग** मूल पाठ में उल्लिखित हैं।

मोहनीय का बन्धक समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय मोहनीय कर्मबन्ध के समय ७ या ८ के बंधक होते हैं। मोहनीयकर्म का बन्धक छह प्रकृतियों का बंधक नहीं हो सकता, क्योंकि ६ प्रकृतियों का बंध सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है, मोहनीय का बंधक नौवें गुणस्थान तक ही होता है।

आयुकर्मबन्ध के साथ अन्य कर्मों का बन्ध—आयुकर्मबंधक जीव नियम से ८ प्रकृतियों का बंध करता है। २४ दण्डकवर्ती जीवों का भी इसी प्रकार कथन जानना।

नाम, गोत्र व अन्तराय कर्म के साथ अन्य कर्मों का बन्ध—ज्ञानावरणीयकर्म के साथ जिन प्रकृतियों का बंध बताया है, उन्हीं प्रकृतियों का बंध इन तीन कर्मों के बंध के साथ होता है।[1]

॥ प्रज्ञापना भगवती का चौवीसवाँ कर्मबन्धपद समाप्त ॥

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं (मू. पा. टि.) भाग १, पृ. ३८५ से ३८७ तक
(ख) प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ४६७ से ४८४ तक
(ग) मलयगिरिवृत्ति, पद २४ पर

पंचवीसइमं कम्मबंधवेयपयं

पच्चीसवाँ कर्मबन्धवेदपद

जीवादि द्वारा ज्ञानावरणीयादि कर्मबन्ध के समय कर्म-प्रकृतिवेद का निरूपण

१७६९. [१] कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

[१७६९-१ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१७६९-१ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ आठ कही गई हैं । यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तरायकर्म ।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

[१७६९-२] इसी प्रकार नैरयिकों (से लेकर) यावत् वैमानिकों तक (के ये ही आठ कर्मप्रकृतियाँ कही गई हैं ।)

१७७०. [१] जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कति कम्मपगडीओ वेदेति ?

गोयमा ! णियमा अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेति ।

[१७७०-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म का बन्ध करता हुआ जीव, कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१७७०-१ उ.] गौतम ! वह नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ।

[२] एवं णेरइए जाव वेमाणिए ।

[१७७०-२] इसी प्रकार (एक) नैरयिक (से लेकर) यावत् (एक) वैमानिक पर्यन्त (जीवों में इन्हीं आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन जानना चाहिए ।)

१७७१. एवं पुहत्तेण वि ।

[१७७१] इसी प्रकार बहुत (नारकों से लेकर यावत् बहुत वैमानिकों तक) के विषय में (कहना चाहिए ।)

१७७२. एवं वेयणिज्जवज्जं जाव अंतराइयं ।

[१७७२] वेदनीयकर्म को छोड़कर शेष सभी (छह) कर्मों के सम्बन्ध में इसी प्रकार(ज्ञानावरणीयकर्म के समान जानना चाहिए ।)

१७७३. [१] जीवे णं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ वेएइ ?

गोयमा ! सत्तविहवेयए वा अट्ठविहवेयए वा चउव्विहवेयए वा ।

[१७७३-१ प्र.] भगवन् ! वेदनीयकर्म को बांधता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१७७३-१ उ.] गौतम ! वह सात (कर्मप्रकृतियों) का, आठ का अथवा चार (कर्मप्रकृतियों) वेदन करता है ।

[२] एवं मणूसे वि । सेसा णेरइयाई एगत्तेण वि पुहत्तेण वि णियमा अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेंति, जाव वेमाणिया ।

[१७७३-२] इसी प्रकार मनुष्य के (द्वारा कर्मप्रकृतियों के वेदन के) सम्बन्ध में (कहना चाहिए ।) शेष नैरयिकों से लेकर यावत् वैमानिक पर्यन्त जीव एकत्व की विवक्षा से भी और बहुत्व की विवक्षा से भी नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ।

१७७४. [१] जीवा णं भंते ! वेदणिज्जं कम्मं बंधमाणा कति कम्मपगडीओ वेदेंति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा अट्ठविहवेदगा य चउव्विहवेदगा य १ अहवा अट्ठविहवेदगा य चउव्विहवेदगा य सत्तविहवेदगे य २ अहवा अट्ठविहवेदगा य चउव्विहवेदगा य सत्तविहवेदगा य ३ ।

[१७७४-१ प्र.] भगवन् ! वहुत जीव वेदनीयकर्म को बांधते हुए कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ?

[१७७४-१ उ.] गौतम! १. सभी जीव वेदनीयकर्म को बांधते हुए आठ या चार कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं, २. अथवा वहुत जीव आठ या चार कर्मप्रकृतियों के और कोई एक जीव सात कर्म-प्रकृतियों का वेदक होता है, ३. अथवा बहुत जीव आठ, चार या सात कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं ।

[२] एवं मणूसा वि भाणियव्वा ।

।। पण्णवणाए भगवतीए पंचवीसइमं कम्मबंधवेदपयं समत्तं ।।

[१७७४-२] इसी प्रकार बहुत-से मनुष्यों द्वारा वेदनीयकर्मबन्ध के समय वेदन सम्बन्धी कथन करना चाहिए ।

विवेचन—कर्मबन्ध के समय कर्मवेदन की चर्चा के पाँच निष्कर्ष—१. समुच्चय जीव के सम्बन्ध में उल्लिखित वक्तव्यतानुसार नैरयिक, असुरकुमारादि भवनपति, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक भी एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से ज्ञानावरणीयकर्म का बन्ध करते हुए नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ।

२. इसी प्रकार वेदनीय को छोड़कर शेष सभी कर्मों (दर्शनावरणीय, नाम, गोत्र, आयुष्य, मोहनीय और अन्तराय) के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए ।

३. समुच्चयजीव एकत्व और वहुत्व की अपेक्षा से वेदनीयकर्म का वन्ध करते हुए सात, आठ अथवा चार कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं । इसका कारण यह है कि उपशान्तमोह और क्षीणमोह जीव सात कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं, क्योंकि उनके मोहनीयकर्म का वेदन नहीं होता । मिथ्या-दृष्टिगुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसम्पराय (दसवें गुणस्थान) पर्यन्त जीव आठों कर्मप्रकृतियों का वेदन

करते हैं और सयोगी केवली चार अघाति कर्मप्रकृतियों का ही वेदन करते हैं, क्योंकि उनके चार घातिकर्मों का उदय नहीं होता।

४. समुच्चय जीव के समान एकत्व और बहुत्व की विवेक्षा से मनुष्य के विषय में भी ऐसा ही कहना चाहिए। अर्थात्—एक या बहुत मनुष्य वेदनीयकर्म का बन्ध करते हुए सात, आठ या चार कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं।

५. मनुष्य के सिवाय शेष सभी नारक आदि जीव एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से वेदनीय-कर्म का बन्ध करते हुए नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं।[1]

॥ प्रज्ञापना भगवती का पच्चीसवाँ कर्मबन्धवेदपद सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भाग १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ३८८

(ख) प्रज्ञापनासूत्र भा. ५ (प्रमेयवोधिनी टीका), पृ. ४८९-४९०

छव्वीसइमं कम्मवेयबंधपयं

छव्वीसवाँ कर्मवेदबन्धपद

ज्ञानावरणीयादि कर्मों के वेदन के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध का निरूपण

१७७५. [१] कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

[१७७५-१ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही हैं ?

[१७७५-१ उ.] गौतम कर्मप्रकृतियाँ आठ कही हैं । यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय ।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

[१७७५-२] इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर यावत् वैमानिकों तक आठ कर्मप्रकृतियाँ होती हैं ।

१७७६. जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा ।

[१७७६ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता हुआ कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है ?

[१७७६ उ.] गौतम ! वह सात, आठ, छह या एक कर्मप्रकृति का बंध करता है ।

१७७७. [१] णेरइए णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा ।

[१७७७-१ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक जीव ज्ञानावरणीयकर्म को वेदता हुआ कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है ?

[१७७७-१ उ.] गौतम ! वह सात या आठ कर्मप्रकृतियों का बंध करता है ।

[२] एवं जाव वेमाणिए । णवरं मणूसे जहा जीवे (सु. १७७६) ।

[१७७७-२] इसी प्रकार (असुरकुमारादि भवनपति से लेकर) यावत् वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए । परन्तु मनुष्य का कथन (सू. १७७६ में उल्लिखित) सामान्य जीव के कथन के समान है ।

१७७८. जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणा कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य १ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगे य ४ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य

एगविहबंधगा य ५ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य एगविहबंधए य ६ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य एगविहबंधगा य ७ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य एगविहबंधए य ८ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य एगविहबंधगा य ९, एवं एते नव भंगा।

[१७७८ प्र.] भगवन् ! (वहुत) जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करते हुए कितनी कर्मप्रकृतियाँ वाँधते हैं ?

[१७७८ उ.] गौतम ! १. सभी जीव सात या आठ कर्मप्रकृतियों के वंधक होते हैं, २. अथवा वहुत जीव सात या आठ के वंधक होते हैं और एक छह का बंधक होता है, ३. अथवा वहुत जीव सात, आठ और छह के वंधक होते हैं, ४. अथवा वहुत जीव सात के और आठ के तथा कोई एक प्रकृति का वंधक होता है, ५. अथवा वहुत जीव सात, आठ और एक के वंधक होते हैं, ६. या बहुत जीव सात के तथा आठ के, एक जीव छह का और एक जीव एक का वंधक होता है, ७. अथवा वहुत से जीव सात के या आठ के, एक जीव छह का और बहुत जीव एक के बंधक होते हैं, ८. अथवा वहुत जीव सात के, आठ के, छह के तथा एक के वंधक होते हैं। इस प्रकार ये कुल नौ भंग हुए।

१७७९. अवसेसाणं एगिंदिय-मणूसवज्जाणं तियभंगो जाव वेमाणियाणं।

[१७७९] एकेन्द्रिय जीवों और मनुष्यों को छोड़कर शेष जीवों यावत् वैमानिकों तक के तीन भंग कहने चाहिए।

१७८०. एगिंदिया णं सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य।

[१७८०] (वहुत-से) एकेन्द्रिय जीव सात के और आठ के वन्धक होते हैं।

१७८१. मणूसाणं पुच्छा।

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा १ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३ अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधए य, एवं छव्विहबंधएण वि समं दो भंगा ५ एगविहबंधएण वि समं दो भंगा ७ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य चउभंगो ११ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य एगविहबंधए य चउभंगो १५ अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधगे य एगविहबंधए य चउभंगो १९ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य एगविहबंधए य भंगा अट्ठ २७, एवं एते सत्तावीसं भंगा।

[१७८१ प्र.] पूर्ववत् मनुष्यों के सम्बन्ध में प्रश्न है।

[१७८१ उ.] गौतम ! (१) सभी मनुष्य सात कर्मप्रकृतियों के वन्धक होते हैं, (२) अथवा वहुत-से सात और एक आठ कर्मप्रकृति वांधता है, (३) अथवा वहुत-से मनुष्य सात के और एक छह का वन्धक है, (४-५) इसी प्रकार छह के वन्धक के साथ भी दो भंग होते हैं, (६-७) तथा एक के वन्धक के साथ भी दो भंग होते हैं, (८-११) अथवा वहुत-से सात के वन्धक, एक आठ का और एक छह का वन्धक, यों चार भंग हुए, (१२-१५) अथवा वहुत-से सात के वन्धक, एक आठ का और एक मनुष्य एक प्रकृति का वन्धक, यों चार भंग हुए, (१६-१९) अथवा वहुत-से सात के वन्धक तथा

एक छह का और एक, एक का बन्धक, इसके भी चार भंग हुए, (२०-२७) अथवा बहुत-से सात के बंधक, एक आठ का, एक छह का और एक, एक कर्मप्रकृति का बन्धक होता है, यों इसके आठ भंग होते हैं। कुल मिलाकर ये सत्ताईस भंग होते हैं।

१७८२. एवं जहा णाणावरणिज्जं तहा दरिसणावरणिज्जं पि अंतराइयं पि।

[१७८२] जिस प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म के बन्धक का कथन किया, उसी प्रकार दर्शनावरणीय एवं अन्तरायकर्म के बन्धक का कथन करना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत पद में कर्मसिद्धांत के इस पहलू पर विचार किया गया है कि कौन जीव किस-किस कर्म का वेदन करता हुआ किस-किस कर्म का बन्ध करता है ? अर्थात् किस कर्म का उदय होने पर किस कर्म का बन्ध होता है, इस प्रकार कर्मोदय और कर्मबन्ध के सम्बन्ध का निरूपण किया गया है।

ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन और बन्ध—(१) कोई जीव आयु को छोड़कर ७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है, (२) कोई आठों का बन्ध करता है, (३) कोई आयु और मोह को छोड़कर छह कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है, (४) उपशान्तमोह और क्षीणमोह केवल एक वेदनीयकर्म का बन्ध करता है, (५) सयोगीकेवली ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन ही नहीं करते।

नैरयिक से लेकर वैमानिक तक पूर्वोक्त युक्ति से ज्ञानावरण का वेदन करते हुए ७ या ८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

मनुष्य सम्बन्धी कथन—मनुष्य सामान्य जीववत् ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता हुआ सात, आठ, छह या एक प्रकृति का बन्ध करता है।

बहुत्व की विवक्षा से—बहुत समुच्चय जीवों के विषय में नौ भंग

(१) सभी ज्ञानावरणीयकर्मवेदक जीव ७ या ८ कर्मों के बन्धक होते हैं।

(२) अथवा बहुत-से सात के बन्धक, बहुत-से आठ के बन्धक और कोई एक जीव छह का बन्धक होता है। (सूक्ष्मसम्पराय की अपेक्षा से)।

(३) बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के और बहुत-से छह के बन्धक होते हैं।

(४) अथवा बहुत-से सात के और बहुत-से आठ के बन्धक होते हैं और कोई एक जीव (उपशान्तमोह या क्षीणमोह) एक का बन्धक होता है।

(५) अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के और बहुत से एक के बन्धक होते हैं।

(६) अथवा बहुत-से सात के और बहुत-से आठ के बन्धक होते हैं तथा एक जीव छह का और एक जीव एक का बन्धक होता है।

(७) अथवा बहुत-से जीव सात के और बहुत-से जीव आठ के बन्धक होते हैं तथा एक छह का बन्धक होता है एवं बहुत-से(उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान वाले) एक के बन्धक होते हैं।

(८) अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के एवं बहुत-से छह के बन्धक होते हैं और कोई एक जीव एक का बन्धक होता है।

(९) अथवा बहुत-से सात के, बहुत-से आठ के, बहुत-से छह के और बहुत-से एक के बन्धक होते हैं।

इस प्रकार समुच्चय जीवों के विषय में ये (उपर्युक्त) ९ भंग होते हैं। छह और एक प्रकृति के बन्ध का तथा इन दोनों के अभाव में सात अथवा आठ प्रकृतियों के बन्ध का कारण पूर्वोक्त युक्ति से समझ लेना चाहिए।

एकेन्द्रियों और मनुष्यों के सिवाय शेष नैरयिक आदि दण्डकों के तीन अंग होते हैं। एकेन्द्रियों में कोई विकल्प (भंग) नहीं होता, अर्थात्—वे सदैव बहुत संख्या में होते हैं, इसलिए बहुत सात के और बहुत आठ के बंधक ही होते हैं। मनुष्यों में २७ भंगों का चार्ट इस प्रकार है—(ब. से बहुत और ए. से एक समझना चाहिए।)

क्रम	१	२	३	४	५	६	७	=असंयोगी=१ भंग
१	सभी ७	ब. एक ७ ८	ब. ब. ७ ८	ब. एक ७ ६	ब. ब. ७ ६	ब. एक ७ १	ब. ब. ७ १	=द्विकसंयोगी ६ भंग कुल ७ भंग
	८	९	१०	११				
२	ब. एक एक ७ ८ ६	ब. ब. ब. ७ ८ ६	ब. ब. एक ७ ८ ६	ब. एक ब. ७ ८ ६				=आठ और छह बन्धक के त्रिकसंयोगी भंग ४
	१२	१३	१४	१५				
३	ब. एक एक ७ ८ १	ब. ब. ब. ७ ८ १	ब. ब. एक ७ ८ १	ब. एक ब. ७ ८ १				=आठ और एक के बंधक के त्रिकसंयोगी भंग ४
	१६	१७	१८	१९				
४	ब. एक. एक ७ ६ १	ब. ब. ब. ७ ६ १	ब. ब. एक ७ ६ १	ब. एक ब. ७ ६ १				=सात और एक के बंधक के त्रिकसंयोगी भंग ४
	२०	२१	२२	२३				
५	ब. ए. ए. ए. ७ ८ ६ १	ब. ब. ब. ब. ७ ८ ६ १	ब. ब. ए. ए. ७ ८ ६ १	ब. ब. ब. ए. ७ ८ ६ १				=८, ६, १ बंधक चतुष्कसंयोगी भंग ८[1]
	२४	२५	२६	२७				
	ब. ब. ए. ब. ७ ८ ६ १	ब. ए. ब. ब. ७ ८ ६ १	ब. ए. ए. ब. ७ ८ ६ १	ब. ए. ब. ए. ७ ८ ६ १				

वेदनीयकर्म के वेदन के समय अन्य कर्मप्रकृतियों के बन्ध की प्ररूपणा

१७८३. [१] जीवे णं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा अबंधए वा।

[१७८३-१ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव वेदनीयकर्म का वेदन करता हुआ कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है ?

---

१. (क) पण्णवणासुत्त भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ३८९
(ख) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, (अभिधान राजेन्द्रकोष भा. ३) पद २६, पृ. २९४-२९५
(ग) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५०१ से ५११ तक

[१७८३-१ उ.] गौतम ! वह सात, आठ, छह या एक का बन्धक होता है अथवा अबंधक होता है ।

[२] एवं मणूसे वि । अवसेसा णारगादीया सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य । एवं जाव वेमाणिए ।

[१७८३-२] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी समझ लेना चाहिए । शेष नारक आदि यावत् वैमानिक पर्यन्त सात के बंधक हैं या आठ के बन्धक हैं ।

१७८४. [१] जीवा णं भंते ! वेदणिज्जं कम्मं वेदेमाणा कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य १ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगे य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ३ अबंधगेण वि समं दो भंगा भाणियव्वा ५ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य अबंधए य चउभंगो ९, एवं एते णव भंगा ।

[१७८४-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव वेदनीयकर्म का वेदन करते हुए कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[१७८४-१ उ.] गौतम ! १. सभी जीव सात के, आठ के और एक के बन्धक होते हैं, २. अथवा बहुत-से जीव सात, आठ या एक के बन्धक होते हैं और एक छह का बन्धक होता है । ३. अथवा बहुत से जीव सात, आठ, एक तथा छह के बन्धक होते हैं, ४-५. अबन्धक के साथ भी दो भंग कहने चाहिए, ६-९. अथवा बहुत जीव सात के, आठ के, एक के बंधक होते हैं तथा कोई एक छह का बन्धक होता है तथा कोई एक अबन्धक भी होता है, यों चार भंग होते हैं । कुल मिलाकर ये नौ भंग हुए ।

[२] एगिंदियाणं अभंगयं ।

[१७८४-२] एकेन्द्रिय जीवों को इस विषय में अभंगक जानना चाहिए ।

[३] णारगादीणं तियभंगो, जाव वेमाणियाणं । णवरं मणूसाणं पुच्छा ।

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य १ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य अट्ठविहबंधए य अबंधए य, एवं एते सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा जहा किरियासु पाणाइवायविरतस्स (सु. १६४३) ।

[१७८४-३] नारक आदि यावत् वैमानिकों तक के तीन-तीन भंग कहने चाहिए ।

[प्र] मनुष्यों के विषय में वेदनीयकर्म के वेदन के साथ कर्मप्रकृतियों के बन्ध की पृच्छा ?

[उ.] गौतम ! १—बहुत-से सात के अथवा एक के बन्धक होते हैं । २—अथवा बहुत-से मनुष्य सात के और एक के बन्धक तथा कोई एक छह का, एक आठ का बन्धक है या फिर अबन्धक होता है । इस प्रकार ये कुल मिलाकर सत्ताईस भंग (सू. १६४३ में उल्लिखित हैं) जैसे—प्राणातिपात-विरत की क्रियाओं के विषय में कहे हैं, उसी प्रकार कहने चाहिए ।

विवेचन—वेदनीयकर्म के वेदन के क्षणों में अन्य कर्मों का बन्ध—(१) एक जीव और मनुष्य—सात, आठ, छह या एक प्रकृति का बन्धक होता है अथवा अबन्धक होता है। तात्पर्य यह है कि सयोगीकेवली, उपशान्तमोह और क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती जीव वेदनीयकर्म का वेदन करते हुए केवल एक वेदनीय प्रकृति का बन्ध करते हैं, क्योंकि सयोगीकेवली में भी वेदनीय कर्म का उदय और बंध पाया जाता है। अयोगीकेवली अबन्धक होते हैं। उनमें वेदनीयकर्म का वेदन होता है, किन्तु योगों का भी अभाव हो जाने से उसका या अन्य किसी भी कर्म का बन्ध नहीं होता।

(२) **मनुष्य के सिवाय नारक से वैमानिक तक**—वेदनीयकर्म का वेदन करते हुए ७ या ८ कर्मप्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

(३) **बहुत से जीव—तीन भंग**—

१	२	३	
सभी	ब. ब. ब. ए.	ब. ब. ब. ब.	= तीन भंग
७ ८ १	७ ८ १ ६	७ ८ १ ६	

अबंधक के साथ एकत्व—बहुत्व की अपेक्षा=दो भंग (एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा)

अथवा ब. ब. ब. ए. ए.
७ ८ १ ६ अबं.=४ भंग=कुल ९ भंग समुच्चय जीवों के एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा।

(४) **एकेन्द्रिय जीव**—कोई विकल्प नहीं। बहु. और बहु. के बंधक होते हैं।
७ ८

(५) मनुष्य को छोड़कर **नारक से वैमानिक तक**=पूर्ववत् तीन भंग।

(६) **मनुष्य**—(एकत्व या बहुत्व की अपेक्षा)=२७ भंग (ज्ञानावरणीयकर्म-बन्धवत्)[1] आयुष्य नाम और गोत्र कर्म के सम्बन्ध में वेदनीय कर्मवत्।

आयुष्यादि कर्मवेदन के समय कर्मप्रकृतियों के बन्ध की प्ररूपणा

१७८५. एवं जहा वेदणिज्जं तहा आउयं णामं गोयं च भाणियव्वं।

[१७८५] जिस प्रकार वेदनीयकर्म के वेदन के साथ कर्मप्रकृतियों के बन्ध का कथन किया गया है, उसी प्रकार आयुष्य, नाम और गोत्रकर्म के विषय में भी कहना चाहिए।

१७८६. मोहणिज्जं वेदेमाणे जहा बंधे णाणावरणिज्जं तहा भाणियव्वं (सु. १७५५-६१)।

॥ पण्णवणाए भगवईए छव्वीसइमं कम्मवेयबंधपयं समत्तं ॥

[१७८६] जिस प्रकार (सू. १७५५-६१ में) ज्ञानावरणीय कर्मप्रकृति के बन्ध का कथन किया है, उसी प्रकार यहाँ मोहनीयकर्म के वेदन के साथ बन्ध का कथन करना चाहिए।

विवेचन—मोहनीयकर्मवेदन के साथ कर्मबन्ध—ज्ञानावरणीय के समान अर्थात्—मोहनीय-

---

१. (क) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. पृ. ५, ५१३ से ५१७ तक
(ख) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति. (अभिधान राजेन्द्रकोष भा. ३) पद २६, पृ. २९६
(ग) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मू. पा. टि.) पृ. ३९०

कर्म का वेदन करता हुआ जीव ७, ८ या ६ का बन्धक होता है, क्योंकि सूक्ष्मसम्पराय अवस्था में भी मोहनीयकर्म का वेदन होता है, मगर बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार का कथन मनुष्य पद में भी करना चाहिए। नारक आदि पदों में सूक्ष्मसम्परायावस्था प्राप्त न होने से वे ७ या ८ के ही बन्धक होते हैं।

बहुत्व की अपेक्षा से—जीव पद में पूर्ववत् तीन भंग

१	२	३
ब. ब.	ब. ए.	ब. ब.
७ ८	७ ६	७ ६

नारकों और भवनपति देवों में—

ब.	ब.	ए.
७	८	८

= तीन भंग

पृथ्वीकायादि स्थावरों में—प्रथम भंग—ब. ब.
७ ८

विकलेन्द्रिय से वैमानिक तक में—नारकों के समान तीन भंग।

मनुष्यों में—नौ भंग ज्ञानावरणीयकर्म के साथ बन्धक के समान।[1]

॥ प्रज्ञापना भगवती का छव्वीसवाँ पद समाप्त ॥

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ३९०

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५१७ से ५१९ तक

(ग) प्रज्ञापना. (मलय. टीका) पद २६ (अभि. राज. कोष भा. ३, पृ. २९६)

सत्तावीसइमं कम्मवेयवेयगपयं

सत्ताईसवाँ कर्मवेदवेदकपद

ज्ञानावरणीयादिकर्मों के वेदन के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के वेदन का निरूपण

१७८७. [१] कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ । तं जहा—णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

[१७८७-१ प्र.] भगवन् ! कर्मप्रकृतियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१७८७-१ उ.] गौतम ! वे आठ कही गई हैं । यथा ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय ।

[२] एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

[१७८७-२] इसी प्रकार नारकों (से लेकर) यावत् वैमानिकों तक (के आठ कर्मप्रकृतियाँ हैं ।)

१७८८. [१] जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कति कम्मपगडीओ वेदेति ?

गोयमा ! सत्तविहवेदए वा अट्ठविहवेदए वा ।

[१७८८-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता हुआ (एक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१७८८-१ उ.] गौतम ! वह सात या आठ (कर्मप्रकृतियों) का वेदक होता है ।

[२] एवं मणूसे वि । अवसेसा एगत्तेण वि पुहत्तेण वि नियमा अट्ठविहकम्मपगडीओ वेदेंति जाव वेमाणिया ।

[१७८८-२] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी जानना चाहिए । (मनुष्य के अतिरिक्त) शेष सभी जीव (नारक से लेकर) यावत् वैमानिक पर्यन्त एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से नियमत: आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ।

१७८९. जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणा कति कम्मपगडीओ वेदेंति ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा अट्ठविहवेदगा १ अहवा अट्ठविहवेदगा य सत्तविहवेदगे य २ अहवा अट्ठविहवेदगा य सत्तविहवेदगा य ३ । एवं मणूसा वि ।

[१७८९ प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करते हुए कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ?

[१७८९ उ.] गौतम ! १. सभी जीव आठ कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं, २. अथवा कई जीव आठ कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं, और कोई एक जीव सात कर्मप्रकृतियों का वेदक होता है,

३. अथवा कई जीव आठ और कई सात कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यपद में भी ये तीन भंग होते हैं।

१७९०. दरिसणावरणिज्जं अंतराइयं च एवं चेव भाणियव्वं।

[१७९०] दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म के साथ अन्य कर्मप्रकृतियों के वेदन के विषय में भी पूर्ववत् कहना चाहिए।

१७९१. वेदणिज्ज-आउअ-णाम-गोयाइं वेदेमाणे कति कम्मपगडीओ वेदेति ?

गोयमा ! जहा बंधगवेयगस्स वेदणिज्जं (सु. १७७३-७४) तहा भाणियव्वं।

[१७९१ प्र.] भगवन् ! वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म का वेदन करता हुआ (एक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१७९१ उ.] गौतम ! जैसे (सू. १७७३-७४ में) बन्धक-वेदक के वेदनीय का कथन किया गया है, उसी प्रकार वेद-वेदक के वेदनीय का कथन करना चाहिए।

१७९२. [१] जीवे णं भंते ! मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कति कम्मपगडीओ वेदेति ?

गोयमा ! णियमा अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेति।

[१७९२-१ प्र.] भगवन् ! मोहनीयकर्म का वेदन करता हुआ (एक) जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१७९२-१ उ.] गौतम ! वह नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है।

[२] एवं णेरइए जाव वेमाणिए।

[१७९२-२] इसी प्रकार नारक से लेकर वैमानिक पर्यन्त (अष्टविध कर्मप्रकृतियों का) वेदन होता है।

[३] एवं पुहत्तेण वि।

॥ पण्णवणाए भगवतीए सत्तावीसतिमं कम्मवेदवेदयपयं समत्तं ॥

[१७९२-३] इसी प्रकार बहुत्व की विवक्षा से भी सभी जीवों और नारक से वैमानिक पर्यन्त समझना चाहिए।

विवेचन—वेद-वेदक चर्चा का निष्कर्ष—इस पद का प्रतिपाद्य यह है कि जीव ज्ञानावरणीय आदि किसी एक कर्म का वेदन करता हुआ, अन्य कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

(I) ज्ञानावरणीयकर्म का वेदन करता हुआ कोई जीव या कोई मनुष्य यानी उपशान्तमोह या क्षीणमोह मनुष्य मोहनीयकर्म का वेदक न होने से सात कर्मप्रकृतियों का वेदक होता है, इसके अतिरिक्त सूक्ष्मसम्पराय तक सभी जीव या मनुष्य आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं।

(II) बहुत जीवों की अपेक्षा से तीन भंग होते हैं—(१) सभी जीव आठ कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं, (२) अथवा कई आठ के वेदक होते हैं और कोई एक सात का वेदक होता है, (३) अथवा कई आठ के और कई सात के वेदक होते हैं।

(III) दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म-सम्बन्धी वक्तव्यता भी ज्ञानावरणीय के समान कहनी चाहिए।

(IV) वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन कर्मों का वेदन करता हुआ जीव बन्ध-वेदकवत् आठ, सात या चार कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है।

(V) मोहनीयकर्म का वेदन करता हुआ समुच्चयी जीव व नैरयिक से वैमानिक तक के जीव एकत्व या बहुत्व की अपेक्षा से नियमतः आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं।[1]

॥ प्रज्ञापना भगवती का सत्ताईसवाँ कर्मवेदवेदकपद सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ३९१

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५२३ से ५२७ तक

(ग) प्रज्ञापना. मलय. वृत्ति, पद २७ अभिधान राजेन्द्र कोष भा. ३, पृ. २९४-२९५

अट्ठावीसइमं आहारपयं

अट्ठाईसवाँ आहारपद

प्राथमिक

※ प्रज्ञापनासूत्र के आहारपद में सांसारिक जीवों और सिद्धों के आहार-अनाहार की दो उद्देशकों के ग्यारह और तेरह द्वारों के माध्यम से विस्तृत चर्चा की गई है।

※ आत्मा मूल स्वभावतः निराहारी है, क्योंकि शुद्ध-आत्मा (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा) के शरीर, कर्म, मोह आदि नहीं होते। निरंजन-निराकार होने से उसे आहार की कदापि इच्छा नहीं होती। जैसा सिद्धों का स्वरूप है, वैसा ही निश्चयनय दृष्टि से आत्मा का स्वरूप है। अतः विविध दार्शनिकों, साधकों और विचारकों के मन में प्रश्न का उद्भव हुआ कि जब आत्मा अनाहारी है तो भूख क्यों लगती है? मनुष्य पशु-पक्षी आदि क्षुधानिवृत्ति के लिए आहार क्यों करते हैं? यदि शरीर और क्षुधावेदनीय आदि कर्मों के कारण प्राणियों को आहार करना पड़ता है, तब ये प्रश्न उठते हैं कि सिद्ध तो अनाहारक होते हैं, किन्तु नारक से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डकवर्ती जीव सचित्त, अचित्त या मिश्र, किस प्रकार का आहार करते हैं? उन्हें आहार की इच्छा होती है या नहीं? इच्छा होती है तो कितने काल के पश्चात् होती है? कौनसा जीव किस वस्तु का आहार करता है? क्या वे सर्व आत्मप्रदेशों से आहार लेते हैं या एकदेश से? क्या वे जीवन में बार-बार आहार करते हैं या एक बार? वे कितने भाग का आहार करते हैं, कितने भाग का आस्वादन करते हैं? क्या वे ग्रहण किये हुए सभी पुद्गलों का आहार करते हैं? गृहीत आहार्य-पुद्गलों को वे किस रूप में परिणत करते हैं? क्या वे एकेन्द्रियादि के शरीर का आहार करते हैं? तथा उनमें से कौन लोमाहारी है, कौन प्रक्षेपाहारी (कवलाहारी) है तथा कौन ओज-आहारी है, कौन मनोभक्षी है? ये और इनसे सम्बन्धित आहार-सम्बन्धी चर्चाएँ इस पद के दो उद्देशकों में से प्रथम उद्देशक में की गई है।

※ इसके अतिरिक्त आहार-सम्बन्धी कई प्रश्न अवशिष्ट रह जाते हैं कि एक या अनेक जीव या चौवीस दण्डकवर्ती सभी जीव आहारक ही होते हैं या कोई जीव अनाहारक भी होता है/होते हैं? यदि कोई जीव किसी अवस्था में अनाहारक होता है तो किस कारण से होता है?[1] इन दो प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में भव्यता, संज्ञा, लेश्या, दृष्टि, संयम, कषाय, ज्ञान-अज्ञान, योग, उपयोग, वेद, शरीर, पर्याप्ति, इन १३ द्वारों के माध्यम से आहारक-अनाहारक की सांगोपांग चर्चा द्वितीय उद्देशक में की गई है।

※ प्रथम उद्देशक के उत्तरों को देखते हुए बहुत-से रहस्यमय एवं गूढ तथ्य साधक के समक्ष समाधान के रूप में मुखरित होते हैं। जैसे कि वैक्रिय शरीरधारी का आहार अचित्त ही

---

१. पण्णवणासुत्तं भा. १, पृ. ३९२

होता है और औदारिक शरीरधारी का आहार सचित्त, अचित्त और मिश्र तीनों प्रकार का होता है। जो आहार ग्रहण किया जाता है, वह दो प्रकार का है—आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित। अपनी इच्छा हो और आहार लिया जाए, वह आभोगनिर्वर्तित तथा बिना ही इच्छा के आहार हो जाए, वह अनाभोगनिर्वर्तित आहार है। इच्छापूर्वक आहार लेने में विभिन्न जीवों की पृथक्-पृथक् काल-मर्यादाएँ हैं। परन्तु इच्छा के बिना लिया जाने वाला आहार तो निरन्तर लिया जाता है। फिर यह भी स्पष्ट किया गया है कि कौन जीव किस प्रकार का आहार लेता है? वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श गुणों से युक्त आहार लिया जाता है, उसमें भी बहुत विविधता है। नारकों द्वारा लिया जाने वाला आहार अशुभवर्णादि वाला है और देवों द्वारा लिया जाने वाला आहार शुभवर्णादि वाला है। कोई ६ दिशा से तथा कोई तीन, चार, पांच दिशाओं से आहार लेता है। आहाररूप में ग्रहण किए गये पुद्गल पांच इन्द्रियों के रूप में तथा अंगोपांगों के रूप में परिणत होते हैं। शरीर भी आहारानुरूप होता है। आहार के लिए लिये जाने वाले पुद्गलों का असंख्यातवाँ भाग आहाररूप में परिणत होता है तथा उनके अनन्तवें भाग का आस्वादन होता है।

* अन्तिम प्रकरण में यह भी बताया गया है कि चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में से कौन लोमाहार और कौन प्रक्षेपाहार (कवलाहार) करता है? तथा किसके ओज-आहार होता है, किसके मनोभक्षण आहार होता है?

* कौन जीव किस जीव के शरीर का आहार करता है? इस तथ्य को यहाँ स्थूल रूप से प्ररूपित किया गया है। सूत्रकृतांगसूत्र श्रुत. २, अ. ३ आहारपरिज्ञा-अध्ययन में तथा भगवतीसूत्र में इस तथ्य की विशेष विश्लेषणपूर्वक चर्चा की गई है कि पृथ्वीकायिकादि विभिन्न जीव वनस्पतिकाय आदि के अचित्त शरीर को विध्वस्त करके आहार करते हैं, गर्भस्थ मनुष्य आदि जीव अपने माता की रज और पिता के शुक्र आदि का आहार करते हैं।

* स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान में तिर्यञ्चों, मनुष्यों और देवों का चार-चार प्रकार का आहार बताया है। जैसे—तिर्यञ्चों का चार प्रकार का आहार—(१) कंकोपम, (२) बिलोपम, (३) पाण (मातंग) मांसोपम और (४) पुत्रमांसोपम। मनुष्यों का चार प्रकार का आहार—अशन, पान, खादिम और स्वादिम। देवों का चार प्रकार का आहार है—वर्णवान्, रसवान्, गन्धवान् और स्पर्शवान्।[२]

* आहार की अभिलाषा में देवों की आहाराभिलाषा, जिसमें वैमानिक देवों की आहाराभिलाषा बहुत लम्बे काल की, उत्कृष्ट ३३ हजार वर्ष तक की बताई गई है। इसलिए ज्ञात होता है कि चिरकाल के बाद होने वाली आहारेच्छा किसी न किसी पूर्वजन्म कृत संयम-साधना या पुण्यकार्य का सुफल है।[३]

---

१. पण्णवणासुत्तं (मू. पा. टि.) भा. १, पृ. ३९३ से ४०५

२. स्थानांगसूत्र, स्था. ४

३. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ३९७-९८

※ मनुष्य चाहे तो तपश्चर्या के द्वारा दीर्घकाल तक निराहार रह सकता है और अनाहारकता ही रत्नत्रयसाधना का अन्तिम लक्ष्य है। इसी के लिए संयतासंयत तथा संयत होकर अन्त में नो-संयत-नोअसंयत-नो-संयतासंयत बनना है। यह इसके संयतद्वार में स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।[1]

※ कुल मिलाकर आहार-सम्बन्धी चर्चा साधकों और श्रावकों के लिए ज्ञानवर्द्धक, रसप्रद, आहार-विज्ञान-सम्मत एवं आत्मसाधनाप्रेरक है। □□

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण), भाग १, पृ. ४०३

अट्ठावीसइमं आहारपयं

अट्ठाईसवाँ आहारपद

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

प्रथम उद्देशक में उल्लिखित ग्यारह द्वार

१७९३. सच्चित्ता १ ऽऽहारट्ठी २ केवति ३ किं वा वि ४ सव्वओ चेव ५ ।
कतिभागं ६ सव्वे खलु ७ परिणामे चेव ८ बोद्धव्वे ॥ २१७ ॥

एगिंदिसरीरादी ९ लोमाहारे १० तहेव मणभक्खी ११ ।
एतेसिं तु पयाणं विभावणा होइ कायव्वा ॥ २१८ ॥

[१७९३ गाथार्थ-] [प्रथम उद्देशक में] इन (निम्नोक्त) ग्यारह पदों पर विस्तृत रूप से विचारणा करनी है—(१) सचित्ताहार, (२) आहारार्थी, (३) कितने काल से (आहारार्थ) ?, (४) क्या आहार (करते हैं ?), (५) सब प्रदेशों से (सर्वतः), (६) कितना भाग ?, (७) (क्या) सभी आहार (करते हैं ?) और (८) (सदैव) परिणत (करते हैं ?) (९) एकेन्द्रियशरीरादि, (१०) लोमाहार एवं (११) मनोभक्षी (ये ग्यारह द्वार जानने चाहिए) ॥ ॥ २१७-२१८ ॥

विवेचन—प्रथम उद्देशक में आहार-सम्बन्धी ग्यारह द्वार—प्रस्तुत दो संग्रहणी-गाथाओं द्वारा प्रथम उद्देशक में प्रतिपाद्य ग्यारह द्वारों (पदों) का उल्लेख किया गया है । **प्रथमद्वार**—इसमें नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के विषय में प्रश्नोत्तर हैं कि वे सचित्ताहारी होते हैं, अचित्ताहारी होते हैं या मिश्राहारी ?, **द्वितीयद्वार से अष्टमद्वार तक**—क्रमशः (२) नारकादि जीव आहारार्थी हैं या नहीं ?, (३) कितने काल में आहार की इच्छा उत्पन्न होती है ?, (४) किस वस्तु का आहार करते हैं ?, (५) क्या वे सर्वतः (सब प्रदेशों से) आहार करते हैं ?, सर्वतः उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं, क्या वे बार-बार आहार करते हैं ? बार-बार उसे परिणत करते हैं ? इत्यादि, (६) कितने भाग का आहार या आस्वादन करते हैं ?, (७) क्या सभी गृहीत पुद्गलों का आहार करते हैं ?, (८) गृहीत आहार्य पुद्गलों को किस-किस रूप में बार-बार परिणत करते हैं ? (९) क्या वे एकेन्द्रियादि के शरीरों का आहार करते हैं ?, (१०) नारकादि जीव लोमाहारी हैं या प्रक्षेपाहारी (कवलाहारी) ? तथा (११) वे ओजाहारी होते हैं या मनोभक्षी ? प्रथम उद्देशक में इन ग्यारह द्वारों का प्रतिपादन किया गया है ।[1]

---

१. (क) प्रज्ञापना. (मलय. वृत्ति) अभि. रा. को. भा. २, पृ. ५००
(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५४१, ५६३, ६१३

चौबीस दण्डकों में प्रथम सचित्ताहारद्वार

१७९४. [१] णेरइया णं भंते ! किं सचित्ताहारा अचित्ताहारा मीसाहारा ?

गोयमा ! णो सचित्ताहारा, अचित्ताहारा, णो मीसाहारा।

[१७९४-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक सचित्ताहारी होते हैं, अचित्ताहारी होते हैं या मिश्राहारी होते हैं ?

[१७९४-१ उ.] गौतम ! नैरयिक सचित्ताहारी नहीं होते और न मिश्राहारी (सचित्त-अचित्ताहारी) होते हैं, किन्तु अचित्ताहारी होते हैं।

[२] एवं असुरकुमारा जाव वेमाणिया।

[१७९४-२] इसी प्रकार असुरकुमारों से (लेकर) यावत् वैमानिकों पर्यन्त (जानना चाहिए।)

[३] ओरालियसरीरी जाव मणूसा सचित्ताहारा वि अचित्ताहारा वि मीसाहारा वि।

[१७९४-३] औदारिकशरीरी यावत् मनुष्य सचित्ताहारी भी हैं, अचित्ताहारी भी हैं और मिश्राहारी भी हैं।

विवेचन—सचित्ताहारी, अचित्ताहारी या मिश्राहारी ?—समस्त सांसारिक जीव भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त हैं—(१) वैक्रियशरीरी और (२) औदारिकशरीरी। वैक्रिय शरीरधारी जो नारक, देव आदि जीव हैं, वे वैक्रियशरीर-परिपोषण-योग्य पुद्गलों का आहार करते हैं और वे पुद्गल अचित्त ही होते हैं, सचित्त (जीवपरिगृहीत) और मिश्र नहीं। इसलिए प्रस्तुत में नैरयिक, असुरकुमारादि भवनपतिदेव, वाणव्यन्तरदेव, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों (जो कि वैक्रियशरीरी हैं) को एकान्ततः अचित्ताहारी बताया है तथा इनके अतिरिक्त एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त तिर्यञ्च और मनुष्य जो औदारिक शरीरधारी हैं, वे औदारिकशरीर के परिपोषणयोग्य पुद्गलों का आहार करते हैं, जो तीनों ही प्रकार के होते हैं। इसलिए इन्हें सचित्ताहारी, अचित्ताहारी और मिश्राहारी बताया गया है।[1]

नैरयिकों में आहारार्थी आदि द्वितीय से अष्टमद्वार पर्यन्त

१७९५. णेरइया णं भंते ! आहारट्ठी ?

हंता गोयमा ! आहारट्ठी।

[१७९५ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक आहारार्थी (आहाराभिलाषी) होते हैं ?

[१७९५ उ.] हाँ, गौतम ! वे आहारार्थी होते हैं।

१७९६. णेरइयाणं भंते ! केवतिकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति ?

गोयमा ! णेरइयाणं आहारे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—आभोगणिव्वत्तिए य अणाभोगणिव्वत्तिए य। तत्थ णं जे से अणाभोगणिव्वत्तिए से णं अणुसमयमविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जति। तत्थ णं जे से आभोगणिव्वत्तिए से णं असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए आहारट्ठे समुप्पज्जति।

---

१. प्रज्ञापना, मलयवृत्ति. पत्र····अभि. रा. कोष, भा. २, पृ. ५००

[१७९६ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों को कितने काल के पश्चात् आहार की इच्छा (आहारार्थ) समुत्पन्न होती है ?

[१७९६ उ.] गौतम ! नैरयिकों का आहार दो प्रकार का कहा गया है । यथा—(१) आभोग-निर्वर्तित, (उपयोगपूर्वक किया गया) और (२) अनाभोगनिर्वर्तित । उनमें जो अनाभोगनिर्वर्तित (बिना उपयोग के किया हुआ) है, उस आहार की अभिलाषा प्रति समय निरन्तर उत्पन्न होती रहती है, किन्तु जो आभोगनिर्वर्त्तित (उपयोगपूर्वक किया हुआ) आहार है, उस आहार की अभिलाषा असंख्यात-समय के अन्तर्मुहूर्त्त में उत्पन्न होती है ।

१७९७. णेरइया णं भंते ! किमाहारमाहारेंति ?

गोयमा ! दव्वओ अणंतपदेसियाइं, खेत्तओ असंखेज्जपदेसोगाढाइं, कालतो अण्णतरठितियाइं, भावओ वण्णमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं ।

[१७९७ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कौन-सा आहार ग्रहण करते हैं ?

[१७९७ उ.] गौतम ! वे द्रव्यतः—अनन्तप्रदेशी (पुद्गलों का) आहार ग्रहण करते हैं, क्षेत्रतः—असंख्यातप्रदेशों में अवगाढ (रहे हुए), कालतः—किसी भी (अन्यतर) कालस्थिति वाले और भावतः—वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान् और स्पर्शवान् पुद्गलों का आहार करते हैं ।

१७९८. [१] जाइं भावओ वण्णमंताइं आहारेंति ताइं किं एगवण्णाइं आहारेंति जाव किं पंचवण्णाइं आहारेंति ?

गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवण्णाइं पि आहारेंति जाव पंचवन्नाइं पि आहारेंति, विहाणमग्गणं पडुच्च कालवण्णाइं पि आहारेंति जाव सुक्किलाइं पि आहारेंति ।

[१७९८-१ प्र.] भगवन् ! भाव से (नैरयिक) वर्ण वाले जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, क्या वे एक वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं यावत् क्या वे पंच वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं ?

[१७९८-१ उ.] गौतम ! वे स्थानमार्गणा (सामान्य) की अपेक्षा से एक वर्ण वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं यावत् पांच वर्ण वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं तथा विधान (भेद) मार्गणा की अपेक्षा से काले वर्ण वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं यावत् शुक्ल (श्वेत) वर्ण वाले पुद्गलों का भी आहार करते हैं ।

[२] जाइं वण्णओ कालवण्णाइं आहारेंति ताइं किं एगगुणकालाइं आहारेंति जाव दसगुण-कालाइं आहारेंति संखेज्जगुणकालाइं असंखेज्जगुणकालाइं अणंतगुणकालाइं आहारेंति ?

गोयमा ! एगगुणकालाइं पि आहारेंति जाव अणंतगुणकालाइं पि आहारेंति । एवं जाव सुक्किलाइं पि ।

[१७९८-२ प्र.] भगवन् ! वे वर्ण से जिन काले वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं, क्या वे एक गुण काले पुद्गलों का आहार करते हैं यावत् दस गुण काले, संख्यातगुण काले, असंख्यात-गुण काले या अनन्तगुण काले वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं ?

[१७९८-२ उ.] गौतम ! वे एक गुण काले पुद्गलों का भी आहार करते हैं यावत् अनन्तगुण काले पुद्गलों का भी आहार करते हैं। इसी प्रकार (रक्तवर्ण से लेकर) यावत् शुक्लवर्ण के विषय में पूर्वोक्त प्रश्न और समाधान जानना चाहिए।

१७९९. एवं गंधओ वि रसतो वि।

[१७९९] इसी प्रकार गन्ध और रस की अपेक्षा से भी पूर्ववत् आलापक कहने चाहिए।

१८००. [१] जाइं भावओ फासमंताइं ताइं णो एगफासाइं आहारेंति, णो दुफासाइं आहारेंति, णो तिफासाइं आहारेंति, चउफासाइं आहारेंति जाव अट्ठफासाइं पि आहारेंति, विहाणमग्गणं पडुच्च कक्खडाइं पि आहारेंति जाव लुक्खाइं पि।

[१८००-१] जो जीव भाव से स्पर्शवाले पुद्गलों का आहार करते हैं, वे न तो एक स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं, न दो और तीन, स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते, अपितु चतुःस्पर्शी यावत् अष्टस्पर्शी पुद्गलों का आहार करते हैं। विधान (भेद) मार्गणा की अपेक्षा से वे कर्कश यावत् रूक्ष पुद्गलों का भी आहार करते हैं।

[२] जाइं फासओ कक्खडाइं आहारेंति ताइं किं एगगुणकक्खडाइं आहारेंति जाव अणंतगुणकक्खडाइं पि आहारेंति।

गोयमा ! एगगुणकक्खडाइं पि आहारेंति जाव अणंतगुणकक्खडाइं पि आहारेंति ? एवं अट्ठ वि फासा भाणियव्वा जाव अणंतगुणलुक्खाइं पि आहारेंति।

[१८००-२ प्र.] भगवन् ! वे जिन कर्कश स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं, क्या वे एकगुण कर्कश पुद्गलों का आहार करते हैं, यावत् अनन्तगुण कर्कश पुद्गलों का आहार करते हैं ?

[१८००-२ उ.] गौतम ! वे एकगुण कर्कश पुद्गलों का आहार करते हैं यावत् अनन्तगुण कर्कश पुद्गलों का भी आहार करते हैं। इसी प्रकार क्रमशः आठों ही स्पर्शों के विषय में यावत् 'अनन्तगुण रूक्ष पुद्गलों का भी आहार करते हैं'; यहाँ तक (कहना चाहिए)।

[३] जाइं भंते ! अणंतगुणलुक्खाइं आहारेंति ताइं किं पुट्ठाइं आहारेंति अपुट्ठाइं आहारेंति ?

गोयमा ! पुट्ठाइं आहारेंति, णो अपुट्ठाइं आहारेंति, जहा भासुद्देसए (सु. ८७७ [१५—२३]) जाव णियमा छद्दिसिं आहारेंति।

[१८००-३ प्र.] भगवन् ! वे जिन अनन्तगुण रूक्ष पुद्गलों का आहार करते हैं, क्या वे स्पृष्ट पुद्गलों का आहार करते हैं या अस्पृष्ट पुद्गलों का आहार करते हैं ?

[१८००-३ उ.] गौतम ! वे स्पृष्ट पुद्गलों का आहार करते हैं, अस्पृष्ट पुद्गलों का नहीं। (सू. ८७७-१५-२३ में उक्त) भाषा-उद्देशक में जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार वे यावत् नियम से छहों दिशाओं में से आहार करते हैं।

१८०१. ओसण्णकारणं पडुच्च वण्णओ काल-नीलाइं गंधओ दुब्भिगंधाइं रसतो तित्तरस-कडुयाइं फासओ कक्खड-गरुय-सीय-लुक्खाइं तेसिं पोराणे वण्णगुणे गंधगुणे फासगुणे विप्परिणामइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता अण्णे अपुव्वे वण्णगुणे गंधगुणे रसगुणे फासगुणे उप्पाएत्ता आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंति।

[१८०१] बहुल कारण की अपेक्षा से जो वर्ण से काले-नीले, गन्ध से दुर्गन्ध वाले, रस से तिक्त (तीखे) और कटुक (कड़ुए) रस वाले और स्पर्श से कर्कश, गुरु (भारी), शीत (ठंडे) और रूक्ष स्पर्श हैं, उनके पुराने (पहले के) वर्णगुण, गन्धगुण, रसगुण और स्पर्शगुण का विपरिणमन (परिवर्तन) कर, परिपीडन परिशाटन और परिविध्वस्त करके अन्य (दूसरे) अपूर्व (नये) वर्णगुण, गन्धगुण, रसगुण और स्पर्शगुण को उत्पन्न करके अपने शरीरक्षेत्र में अवगाहन किये हुए पुद्गलों का पूर्णरूपेण (सर्वात्मना) आहार करते हैं ।

१८०२. णेरइया णं भंते ! सव्वतो आहारेंति, सव्वतो परिणामेंति, सव्वओ ऊससंति, सव्वओ णीससंति, अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं परिणामेंति, अभिक्खणं ऊससंति अभिक्खणं णीससंति, आहच्च आहारेंति, आहच्च परिणामेंति आहच्च ऊससंति आहच्च णीससंति ?

हंता गोयमा ! णेरइया सव्वतो आहारेंति एवं तं चेव जाव आहच्च णीससंति ।

[१८०२ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक सर्वतः (समग्रता से) आहार करते हैं ? पूर्णरूप से परिणत करते हैं ? सर्वतः उच्छ्वास तथा सर्वतः निःश्वास लेते हैं ? बार-बार आहार करते हैं ? बार-बार परिणत करते हैं ? बार-बार उच्छ्वास एवं निःश्वास लेते हैं ? अथवा कभी-कभी आहार करते हैं ? कभी-कभी परिणत करते हैं ? और कभी-कभी उच्छ्वास एवं निःश्वास लेते हैं ?

[१८०२ उ.] हाँ, गौतम ! नैरयिक सर्वतः आहार करते हैं, इसी प्रकार वही पूर्वोक्तवत् यावत् कदाचित् निःश्वास लेते हैं ।

१८०३. णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसिं पोग्गलाणं सेयालंसि कतिभागं आहारेंति कतिभागं आसाएंति ?

गोयमा ! असंखेज्जतिभागं आहारेंति अणंतभागं अस्साएंति ।

[१८०३ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उन पुद्गलों का आगामी काल में कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वादन करते हैं ?

[१८०३ उ.] गौतम ! वे असंख्यातवें भाग का आहार करते हैं और अनन्तवें भाग का आस्वादन करते हैं ?

१८०४. णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते किं सव्वे आहारेंति णो सव्वे आहारेंति ?

गोयमा ! ते सव्वे अपरिसेसिए आहारेंति ।

[१८०४ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या उन सबका आहार कर लेते हैं अथवा सबका आहार नहीं करते ?

[१८०४ उ.] गौतम ! शेष बचाये बिना उन सबका आहार कर लेते हैं ।

१८०५. णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो २ परिणमंति ?

गोयमा ! सोइंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अणिट्ठत्ताए अकंतत्ताए अप्पियत्ताए असुभत्ताए अमणुण्णत्ताए अमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए अहत्ताए णो उड्ढत्ताए दुक्खत्ताए णो सुहत्ताए एएसिं (ते तेसिं) भुज्जो भुजो परिणमंति।

[१८०५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे उन पुद्गलों को बार-बार किस रूप में परिणत करते हैं ?

[१८०५ उ.] गौतम ! वे उन पुद्गलों को श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रिय के रूप में, अनिष्टरूप से, अकान्तरूप से, अप्रियरूप से, अशुभरूप से, अमनोज्ञरूप से, मनामरूप से, अनिश्चितता से (अथवा अनिच्छित रूप से), अनभिलषितरूप से, भारीरूप से, हल्केरूप से नहीं, दुःखरूप से, सुखरूप से नहीं, उन सबका बारबार परिणमन करते हैं।

विवेचन—आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित का स्वरूप—नारकों का आहार दो प्रकार का है—आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित । आभोगनिर्वर्तित का अर्थ है—इच्छापूर्वक—उपयोगपूर्वक होने वाला आहार तथा अनाभोगनिर्वर्तित का अर्थ है—बिना इच्छा के—बिना उपयोग के होने वाला आहार। अनाभोगनिर्वर्तित आहार, भव पर्यन्त प्रतिसमय निरन्तर होता रहता है। यह आहार ओजआहार आदि के रूप में होता है। आभोगनिर्वर्तित आहार की इच्छा असंख्यात समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त्त में उत्पन्न होती है। मैं आहार करूं, इस प्रकार की अभिलाषा एक अन्तर्मुहूर्त्त के अंदर पैदा हो जाती है। यही कारण है कि नारकों की आहारेच्छा अन्तर्मुहूर्त्त की कही गई हैं। यह तीसरा द्वार है।[1]

नैरयिक किस वस्तु का आहार करते हैं?—द्रव्य से वे अनन्तप्रदेशी पुद्गलों का आहार करते हैं, क्योंकि संख्यातप्रदेशी या असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध जीव के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते, उनका ग्रहण होना सम्भव नहीं है। क्षेत्र की अपेक्षा से वे असंख्यातप्रदेशावगाढ स्कन्धों का आहार करते हैं। काल की अपेक्षा से वे जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट किसी भी स्थिति वाले स्कन्धों को ग्रहण करते हैं। भाव से वे वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श वाले द्रव्यों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्योंकि प्रत्येक परमाणु में एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श अवश्य पाए जाते हैं। इसके पश्चात् एकादि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से अनेक वर्णादियुक्त आहार ग्रहण करने के विकल्प बताये गए हैं। तदनन्तर यह भी बताया गया है कि वे (नारक) आत्मप्रदेशों से स्पृष्ट द्रव्यों (सम्बद्ध पुद्गलों) का तथा नियमतः छह दिशाओं से आहार करते हैं।[2]

विविध पहलुओं से नारकों के आहार के विषय में प्ररूपणा—नारक वर्ण की अपेक्षा प्रायः काले-नीले वर्ण वाले, रस की अपेक्षा तिक्त और कटुक रस वाले, गन्ध की अपेक्षा दुर्गन्ध वाले तथा स्पर्श से कर्कश, गुरु, शीत और रूक्ष स्पर्श वाले अशुभ द्रव्यों का आहार करते हैं। यहाँ बहुलतासूचक शब्द—'ओसन्न' का प्रयोग किया गया है। जिसका आशय यह है कि अशुभ अनुभाव वाले मिथ्यादृष्टि नारक ही प्रायः उक्त कृष्णवर्ण आदि वाले द्रव्यों का आहार करते हैं। किन्तु जो नारक आगामी भव में तीर्थंकर आदि होने वाले हैं, वे ऐसे द्रव्यों का आहार नहीं करते।[3]

१, २. प्रज्ञापना (हरिभद्रीय टीका) भा. ५, पृ. ५४९ से ५५२

नारक आहार किस प्रकार से करते हैं ?—आहार किये जाने वाले पुद्गलों के पुराने वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शगुण का परिणमन, परिपीडन, परिशाटन एवं विध्वंस करके, अर्थात्—उन्हें पूरी तरह से बदल कर, उनमें नये वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शगुण को उत्पन्न करके, अपने शरीर-क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों का समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं ।[1]

सर्वतः आहारादि का अर्थ—सर्वतः आहार अर्थात्—समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं, सर्व-आत्मप्रदेशों से आहार परिणमाते हैं, सर्वतः उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं, सदा आहार करते हैं, सदा परिणत करते हैं, सदा उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं । कदाचित् आहार और परिणमन करते हैं तथा उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं ।

आहार और आस्वादन कितने-कितने भाग का ?—नारक आहार के रूप में जितने पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, उनके असंख्यातवें भाग का आहार करते हैं, शेष पुद्गलों का आहार नहीं हो पाता । वे जितने पुद्गलों का आहार करते हैं, उनके अनन्तवें भाग का आस्वादन करते हैं । शेष का आस्वादन न होने पर भी शरीर के रूप में परिणत हो जाते हैं ।[2] (छठा द्वार)

सभी आहाररूप में गृहीत पुद्गलों का या उनके एक भाग का आहारी—जिन त्यक्त-शेष एवं शरीर-परिणाम के योग्य पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उन सभी पुद्गलों का आहार करते हैं, सबके एक भाग का नहीं, क्योंकि वे आहार्यपुद्गल त्यक्तशेष और आहारपरिणाम के योग्य ही ग्रहण किये हुए होते हैं ।[3]

आहाररूप में गृहीत पुद्गल किस रूप में पुनः परिणत ?—आहार के रूप में नारकों द्वारा ग्रहण किये हुए वे पुद्गल श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय आदि पांचों इन्द्रियों के रूप में पुनः पुनः परिणत होते हैं । किन्तु इन्द्रियरूप में परिणत होने वाले वे पुद्गल शुभ नहीं, अशुभरूप ही होते हैं, अर्थात् वे पुद्गल अनिष्टरूप में परिणत होते हैं । जैसे मक्खियों को कपूर, चन्दन आदि शुभ होने पर भी अनिष्ट प्रतीत होते हैं, वैसे ही शुभ होने पर भी किन्हीं जीवों को वे पुद्गल अनिष्ट प्रतीत होते हैं । बल्कि अकान्त (अकमनीय—देखते समय सुन्दर न लगें), अप्रिय (देखते समय भी अन्तःकरण को प्रिय न लगें), (अशुभ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श वाले), अमनोज्ञ (विपाक समय क्लेशजनक होने के कारण जो मन में आह्लाद उत्पन्न नहीं करते ।[4]

अमनाम—जो भोज्यरूप में प्राणियों को ग्राह्य न हों, **अनीप्सित**—जो आस्वादन करने में उचित नहीं होते, **अभिध्यत**—जिनके विषय में अभिलाषा भी उत्पन्न न हो, इस रूप में परिणत होते हैं तथा वे पुद्गल भारीरूप में परिणत होते हैं, लघुरूप में नहीं ।, (अष्टमद्वार)

भवनपतियों के सम्बन्ध में आहारार्थी आदि सात द्वार (२-८)

१८०६, [१] असुरकुमारा णं भंते ! आहारट्ठी ?

हंता ! आहारट्ठी । एवं जहा णेरइयाणं तहा असुरकुमाराण वि भाणियव्वं जाव ते तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति । तत्थ णं जे से आभोगणिव्वत्तिए से णं जहण्णेणं चउत्थभत्तस्स उक्कोसेणं

१ से ३. प्रज्ञापना (हरिभद्रीय टीका.) भा. ५, पृ. ५४९ से ५५२

४. प्रज्ञापना प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ५५५ से ५५९ तक

सातिरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति। ओसण्णकारणं पडुच्च वण्णओ हालिद्द-सुक्किलाइं गंधओ सुब्भिगंधाइं रसओ अंबिल-महुराइं फासओ मउय-लहुअ-णिद्धुण्हाइं तेसिं पोराणे वण्णगुणे जाव फासिंदियत्ताए जाव मणामत्ताए इच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए उड्ढत्ताए णो अहत्ताए सुहत्ताए णो दुहत्ताए ते तेसिं भुज्जो २ परिणमंति। सेसं जहा णेरइयाणं।

[१८०६-१ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमार आहारार्थी होते हैं ?

[१८०६-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे आहारार्थी होते हैं।

जैसे नारकों की वक्तव्यता कही, वैसे ही असुरकुमारों के विषय में यावत् ...... 'उनके पुद्गलों का बार-बार परिणमन होता है' यहाँ तक कहना चाहिए । उनमें जो आभोगनिर्वर्तित आहार है उस आहार की अभिलाषा जघन्य चतुर्थ-भक्त पश्चात् एवं उत्कृष्ट कुछ अधिक सहस्रवर्ष में उत्पन्न होती है।

बाहुल्यरूप कारण की अपेक्षा से वे वर्ण से—पीत और श्वेत, गन्ध से—सुरभिगन्ध वाले, रस से—आम्ल और मधुर तथा स्पर्श से—मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण (पुद्गलों का आहार करते हैं।) (आहार किये जाने वाले) उन (पुद्गलों) के पुराने वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुण को विनष्ट करके, अर्थात् पूर्णतया परिवर्तित करके, अपूर्व यावत्—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुण को उत्पन्न करके (अपने शरीर-क्षेत्र में अवगाढ़ पुद्गलों का सर्व-आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं । आहाररूप में गृहीत वे पुद्गल श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियों के रूप में तथा इष्ट, कान्त, प्रिय, शुभ,) मनोज्ञ, मनाम रूप में परिणत होते हैं। भारीरूप में नहीं, सुखरूप में परिणत होते हैं, दुःखरूप में नहीं। (इस प्रकार असुरकुमारों द्वारा गृहीत) वे आहार्य पुद्गल उनके लिए पुनः पुनः परिणत होते हैं। शेष कथन नारकों के कथन के समान जानना चाहिए।

[२] एवं जाव थणियकुमाराणं। णवरं आभोगणिव्वत्तिए उक्कोसेणं दिवसपुहत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति।

[१८०६-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक का कथन असुरकुमारों के समान जानना चाहिए। विशेष यह है कि इनका आभोगनिर्वर्तित आहार उत्कृष्ट दिवस-पृथक्त्व से होता है।

विवेचन—असुरकुमारों आदि की आहाराभिलाषा—असुरकुमारों को बीच-बीच में एक-एक दिन छोड़ कर आहार की अभिलाषा होती है, यह कथन दस हजार वर्ष की आयु वाले असुरकुमारों की अपेक्षा से समझना चाहिए। उत्कृष्ट अभिलाषा कुछ अधिक सातिरेक सागरोपम की स्थिति वाले बलीन्द्र की अपेक्षा से है। शेष भवनपतियों का आभोगनिर्वर्तित आहार उत्कृष्ट दिवस-पृथक्त्व से होता है। यह कथन पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु तथा उससे अधिक आयु वालों की अपेक्षा से समझना चाहिए। असुरकुमार त्रसनाडी में ही होते हैं। अतएव वे छहों दिशाओं से पुद्गलों का आहार कर सकते हैं। आहार-सम्बन्धी शेष कथन मूलपाठ में स्पष्ट है।[1]

---

१. प्रज्ञापना प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. ५५५ से ५५९ तक

एकेन्द्रियों में आहारार्थी आदि सात द्वार (२-८)

१८०७. पुढविकाइया णं भंते ! आहारट्ठी ?

हंता ! आहारट्ठी ।

[१८०७ प्र.] भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक जीव आहारार्थी होते हैं ?

[१८०७ उ.] हाँ, गौतम ! वे आहारार्थी होते हैं ।

१८०८. पुढविक्काइयाणं भंते ! केवतिकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति ?

गोयमा ! अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जति ।

[१८०८ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८०८ उ.] गौतम ! उन्हें प्रतिसमय विना विरह के आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८०९. पुढविक्काइया णं भंते ! किमाहारमाहारेंति ?

एवं जहा णेरइयाणं (सु. १७९७-१८००) जाव ताइं भंते ! कति दिसिं आहारेंति ?

गोयमा ! णिव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं, णवरं ओसण्णकारणं ण भवति, वण्णतो काल-णील-लोहिय-हालिद्द-सुक्किलाइं, गंधओ सुब्भिगंध-दुब्भिगंधाइं, रसओ तित्त-कडुय-कसाय-अंबिल-महुराइं, फासतो कक्खड-मउय-गरुअ-लहुय-सीय-उसिण-णिद्ध-लुक्खाइं, तेसिं पोराणे वण्णगुणे सेसं जहा णेरइयाणं (सु. १८०१-२) जाव आहच्च णीससंति ।

[१८०९ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव किस वस्तु का आहार करते हैं ?

[१८०९ उ.] गौतम ! इस विषय का कथन (सू १७९७-१८०० में उक्त) नैरयिकों के कथन के समान जानना चाहिए; यावत्—[प्र.] पृथ्वीकायिक जीव कितनी दिशाओं से आहार करते हैं ? [उ.] गौतम ! यदि व्याघात (रुकावट) न हो तो वे (नियम से) छहों दिशाओं (में स्थित और छहों दिशाओं) से (आगत द्रव्यों का) आहार करते हैं । यदि व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओं से, कदाचित् चार दिशाओं से और कदाचित् पांच दिशाओं से आगत द्रव्यों का आहार करते हैं । विशेष यह है कि (पृथ्वीकायिकों के सम्बन्ध में) बाहुल्य कारण नहीं कहा जाता । (पृथ्वीकायिक जीव) वर्ण से—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत, गन्ध से—सुगन्ध और दुर्गन्ध वाले, रस से—तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल और मधुर रस वाले और स्पर्श से—कर्कश, मृदु, गुरु (भारी), लघु (हल्का), शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श वाले (द्रव्यों का आहार करते हैं) तथा उन (आहार किये जाने वाले पुद्गलद्रव्यों) के पुराने वर्ण आदि गुण नष्ट हो जाते हैं, इत्यादि शेष सब कथन (सू. १८०१-२ में उक्त) नारकों के कथन के समान यावत् कदाचित् उच्छ्वास और निःश्वास लेते हैं; (यहाँ तक जानना चाहिए ।)

१८१०. पुढविक्काइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति तेसि णं भंते ! पोग्गलाणं सेयालंसि कतिभागं आहारेंति कतिभागं आसाएंति ?

गोयमा ! असंखेज्जतिभागं आहारेंति अणंतभागं आसाएंति ।

[१८१० प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उन पुद्गलों में से भविष्यकाल में कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वादन करते हैं ?

[१८१० उ.] गौतम ! (आहार के रूप में गृहीत पुद्गलों के) असंख्यातवें भाग का आहार करते हैं और अनन्तवें भाग का आस्वादन करते हैं ।

१८११. पुढविक्काइया णं भंते ! जे पुग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते किं सव्वे आहारेंति णो सव्वे आहारेंति ? जहेव णेरइया (सु. १८०४) तहेव ।

[१८११ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या उन सभी का आहार करते हैं अथवा उन सबका आहार नहीं करते ? (अर्थात् सबके एक भाग का आहार करते हैं ?)

[१८११ उ.] गौतम ! जिस प्रकार (सू. १८०४ में) नैरयिकों की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में कहना चाहिए ।

१८१२. पुढविक्काइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

गोयमा ! फासेंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

[१८१२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल (पृथ्वीकायिकों में) किस रूप में पुनः-पुनः परिणत होते हैं ?

[१८१२ उ.] गौतम ! (वे पुद्गल) स्पर्शेन्द्रिय की विषम मात्रा के रूप में (अर्थात् इष्ट एवं अनिष्ट रूप में) बार-बार परिणत होते हैं ।

१८१३. एवं जाव वणप्फइकाइयाणं ।

[१८१३] इसी प्रकार (पृथ्वीकायिकों) की वक्तव्यता के समान (अप्कायिकों से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिकों की (वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए ।)

विवेचन—पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रियों की आहार-सम्बन्धी विशेषता— पृथ्वीकायिक प्रति-समय अविरतरूप से आहार करते हैं । वे निर्व्याघात की अपेक्षा छहों दिशाओं का और व्याघात की अपेक्षा कदाचित् तीन, चार या पांच दिशाओं का आहार लेते हैं । इनमें एकान्त शुभानुभाव या अशुभानुभावरूप बाहुल्य नहीं पाया जाता । पृथ्वीकायिकों के द्वारा आहार के रूप में गृहीत पुद्गल उनमें स्पर्शेन्द्रिय की विषममात्रा के रूप में परिणत होते हैं । इसका आशय यह है कि नारकों के समान एकान्त अशुभरूप में तथा देवों के समान एकान्त शुभरूप में उनका परिणमन नहीं होता, किन्तु बार-बार कभी इष्ट और कभी अनिष्ट रूप में उनका परिणमन होता है । यही नारकों से पृथ्वी-कायिकों की विशेषता है ।

शेष सब कथन नारकों के समान समझ लेना चाहिए। पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक तक आहार-सम्बन्धी वक्तव्यता एक-सी है।[1]

विकलेन्द्रियों में आहारार्थी आदि सात द्वार (२-८)

१८१४. बेइंदिया णं भंते ! आहारट्ठी ?

हंता गोयमा ! आहारट्ठी।

[१८१४ प्र.] भगवन् ! क्या द्वीन्द्रिय जीव आहारार्थी होते हैं ?

[१८१४ उ.] हाँ, गौतम ! वे आहारार्थी होते हैं।

१८१५. बेइंदियाणं भंते ! केवतिकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति ? जहा णेरइयाणं (सु. १७९९)। णवरं तत्थ णं जे से आभोगणिव्वत्तिए से णं असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए वेमायाए आहारट्ठे समुप्पज्जति। सेसं जहा पुढविक्काइयाणं (सु. १८०९) जाव आहच्च णीससंति, णवरं णियमा छद्दिसिं।

[१८१५ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८१५ उ.] गौतम ! इनका कथन (सू. १७९९ में उक्त) नारकों के समान समझना चाहिए। विशेष यह है कि उनमें जो आभोगनिर्वर्तित आहार है, उस आहार की अभिलाषा असंख्यात-समय के अन्तर्मुहूर्त्त में विमात्रा से उत्पन्न होती है। शेष सब कथन पृथ्वीकायिकों के समान यावत् "कदाचित् निःश्वास लेते हैं" यहाँ तक कहना चाहिए। विशेष यह है कि वे नियम से छह दिशाओं से (आहार लेते हैं।)

१८१६. बेइंदिया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसिं पोग्गलाणं सेयालंसि कतिभागं आहारेंति कतिभागं अस्साएंति ? एवं जहा णेरइयाणं (सु. १८०३)।

[१८१६ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे भविष्य में उन पुद्गलों के कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वादन करते हैं ?

[१८१६ उ.] गौतम ! इस विषय में (सू. १८०३ में उक्त) नैरयिकों के समान कहना चाहिए।

१८१७. बेइंदिया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते किं सव्वे आहारेंति, णो सव्वे आहारेंति ?

गोयमा ! बेइंदियाणं दुविहे आहारे पण्णत्ते, तं जहा—लोमाहारे य पक्खेवाहारे य। जे पोग्गले लोमाहारत्ताए गेण्हंति ते सव्वे अपरिसेसे आहारेंति, जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गेण्हंति तेसिं असंखे-

---
१. (क) पण्णवणासुत्तं, भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ३९४-३९५
(ख) प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५६३-५६६

ज्जइभागमाहारेंति णेगाइं च णं भागसहस्साइं अफासाइज्जमाणाणं अणासाइज्जमाणाणं विद्धंसमागच्छंति।

[१८१७ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या वे उन सबका आहार करते हैं अथवा उन सबका आहार नहीं करते ? (अर्थात् उन सबके एक भाग का आहार करते हैं ?)

[१८१७ उ.] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीवों का आहार दो प्रकार का कहा है। यथा—लोमाहार और प्रक्षेपाहार। वे जिन पुद्गलों को लोमाहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उन सबका समग्ररूप से आहार करते हैं और जिन पुद्गलों को प्रक्षेपाहाररूप में ग्रहण करते हैं, उनमें से असंख्यातवें भाग का ही आहार करते हैं। उनके बहुत-से (अनेक) सहस्र भाग यों ही विध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं, न ही उनका बाहर-भीतर स्पर्श हो पाता है और न ही आस्वादन हो पाता है।

१८१८. एतेसि णं भंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाण य कतरे कतरेहिंतो ४ ?[1]

गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा।

[१८१८ प्र.] भगवन् ! इन पूर्वोक्त प्रक्षेपाहारपुद्गलों में से आस्वादन न किये जाने वाले तथा स्पृष्ट न होने वाले पुद्गलों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[१८१८ उ.] गौतम ! सबसे कम आस्वादन न किये जाने वाले पुद्गल हैं, उनसे अनन्तगुणे (पुद्गल) स्पृष्ट न होने वाले हैं।

१८१९. बेइंदिया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए० पुच्छा।

गोयमा ! जिब्भिदिय-फासिंदियवेमायत्ताए ते तेसिं भुज्जो २ परिणमंति।

[१८१९ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल किस-किस रूप में पुनः पुनः परिणत होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१८१९ उ.] गौतम ! वे पुद्गल जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय की विमात्रा के रूप में पुनः-पुनः परिणत होते हैं।

१८२०. एवं जाव चउरिंदिया। णवरं णेगाइं च णं भागसहस्साइं अणग्घाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं अणस्साइज्जमाणाइं विद्धंसमागच्छंति।

[१८२०] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय तक के विषय में कहना चाहिए। विशेषता यह है कि इनके (त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) द्वारा प्रक्षेपाहाररूप में गृहीत पुद्गलों के अनेक सहस्र भाग अनाघ्रायमाण (नहीं सूंघे हुए), अस्पृश्यमान (बिना छूए हुए) तथा अनास्वाद्यमान (स्वाद लिये बिना) ही विध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं।

१८२१. एतेसि णं भंते ! पोग्गलाणं अणाघाइज्जमाणाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

१. ४ सूचक चिह्न—'अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?' इस पाठ का सूचक है। —सं.

गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा, अणस्साइज्जमाणा अणंतगुणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा।

[१८२१ प्र.] भगवन् ! इन अनाघ्रायमाण, अस्पृश्यमान और अनास्वाद्यमान पुद्गलों में से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[१८२१ उ.] गौतम ! अनाघ्रायमाण पुद्गल सबसे कम हैं, उससे अनन्तगुणे पुद्गल अनास्वाद्यमान हैं और अस्पृश्यमान पुद्गल उससे अनन्तगुणे हैं।

१८२२. तेइंदिया णं भंते ! जे पोग्गला० पुच्छा।

गोयमा ! घाणिंदिय-जिब्भिदिय-फासिंदियवेमायत्ताए ते तेसिं भुज्जो २ परिणमंति।

[१८२२ प्र.] भगवन् ! त्रीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल उनमें किस रूप में पुनः-पुनः परिणत होते हैं ?

[१८२२ उ.] गौतम ! वे पुद्गल घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय की विमात्रा से (अर्थात्—इष्ट—अनिष्टरूप से) पुनः-पुनः परिणत होते हैं।

१८२३. चउरिंदियाणं चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिदिय-फासिंदियवेमायत्ताए ते तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति, सेसं जहा तेइंदियाणं।

[१८२३] (चतुरिन्द्रिय द्वारा आहार के रूप में गृहीत पुद्गल) चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय की विमात्रा से पुनः पुनः परिणत होते हैं। चतुरिन्द्रियों का शेष कथन त्रीन्द्रियों के कथन के समान समझना चाहिए।

विवेचन—विकलेन्द्रियों के आहार के विषय में स्पष्टीकरण—लोमाहार—लोमों या रोमों (रोओं) द्वारा किया जाने वाला आहार लोमाहार कहलाता है। **प्रक्षेपाहार** अर्थात् कवलाहार, मुख में डाल (प्रक्षिप्त) कर या कौर (ग्रास) के रूप में मुख द्वारा किया जाने वाला आहार प्रक्षेपाहार है। वर्षा आदि के मौसम में ओघरूप से पुद्गलों का शरीर में प्रवेश हो जाता है, जिसका अनुमान मूत्र आदि से किया जाता है, वह लोमाहार है। द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रिय जीव लोमाहार के रूप में जिन पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, उन सबका पूर्णरूप से आहार करते हैं, क्योंकि उनका स्वभाव ही वैसा होता है। तथा जिन पुद्गलों को वे प्रक्षेपाहार के रूप में ग्रहण करते हैं, उनके असंख्यातवें भाग का ही आहार कर पाते हैं। उनमें से बहुत-से सहस्रभाग उनके द्वारा बिना स्पर्श किये या बिना आस्वादन किये यों ही विध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि उनमें से कोई पुद्गल अतिस्थूल होने के कारण और कोई अतिसूक्ष्म होने के कारण आहृत नहीं हो पाते।[1]

आहार्य पुद्गलों का अल्प-बहुत्व—प्रक्षेपाहार रूप में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों में सबसे कम पुद्गल अनास्वाद्यमान होते हैं, आशय यह है कि एक-एक स्पर्शयोग्य भाग में अनन्तवाँ भाग आस्वाद के योग्य होता है और उसका भी अनन्तवाँ भाग आघ्राण—(सूँघने के) योग्य होता है। अतः

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ५८४

सबसे कम अनाघ्रायमाण पुद्गल होते हैं । उनसे अनन्तगुणे पुद्गल अनास्वाद्यमान होते हैं और उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल अस्पृश्यमान होते हैं ।[1]

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों, मनुष्यों, ज्योतिष्कों एवं वाणव्यन्तरों में आहारार्थी आदि सात द्वार

१८२४. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया जहा तेइंदिया । णवरं तत्थ णं जे से आभोगणिव्वत्तिए से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति ।

[१८२४] पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों का कथन त्रीन्द्रिय जीवों के समान जानना चाहिए । विशेष यह है कि उनमें जो आभोगनिर्वर्तित आहार है, उस आहार की अभिलाषा उन्हें जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त से और उत्कृष्ट षष्ठभक्त से (अर्थात् दो दिन छोड़ कर) उत्पन्न होती है ।

१८२५. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते । जे पोग्गले आहारत्ताए० पुच्छा ।

गोयमा ! सोइंदिय-चक्खिदिय-घाणिदिय-जिब्भिदिय-फासेंदियवेमायत्ताए भुज्जो २ परिणमंति ।

[१८२५ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल उनमें किस रूप में पुनः-पुनः प्राप्त होते हैं ?

[१८२५ उ.] गौतम ! आहाररूप में गृहीत वे पुद्गल श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय की विमात्रा के रूप में पुनः-पुनः परिणत होते हैं ।

१८२६. मणूसा एवं चेव । णवरं आभोगणिव्वत्तिए जहण्णेणं अंतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति ।

[१८२६] मनुष्यों की आहार-सम्बन्धी वक्तव्यता भी इसी प्रकार है । विशेष यह है कि उनकी आभोगनिर्वर्तित आहार की अभिलाषा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त में होती है और उत्कृष्ट अष्टमभक्त (काल व्यतीत) होने पर उत्पन्न होती है ।

१८२७. वाणमंतरा जहा णागकुमारा (सु. १८०६ [२]) ।

[१८२७] वाणव्यन्तर देवों का आहार-सम्बन्धी कथन नागकुमारों के समान जानना चाहिए ।

१८२८. एवं जोइसिया वि । णवरं आभोगणिव्वत्तिए जहण्णेणं दिवस-पुहत्तस्स, उक्कोसेण वि दिवसपुहत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जति ।

[१८२८] इसी प्रकार ज्योतिष्कदेवों का भी कथन है । किन्तु उन्हें आभोगनिर्वर्तित आहार की अभिलाषा जघन्य दिवस-पृथक्त्व में और उत्कृष्ट भी दिवस-पृथक्त्व में उत्पन्न होती है ।

विवेचन—तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय आदि की आहारसम्बन्धी विशेषता—उनको आभोगनिर्वत्तित आहार की इच्छा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त में और उत्कृष्ट षष्ठभक्त में (दो दिन के बाद) होती है । यह कथन देवकुरु—उत्तरकुरु क्षेत्रों के तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों की अपेक्षा से समझना चाहिए । मनुष्यों को

१. प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ५८४

आभोगनिर्वर्तित आहार की अभिलाषा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त से और उत्कृष्ट अष्टमभक्त से (तीन दिन के बाद) होती है। यह कथन भी देवकुरु—उत्तरकुरु क्षेत्रों के मनुष्यों की अपेक्षा से समझना चाहिए। इन दोनों द्वारा गृहीत आहार्य पुद्गल भी पंचेन्द्रियों की विमात्रा के रूप में पुनः पुनः परिणत होते हैं। वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों का अन्य सब कथन तो नागकुमार के समान है, लेकिन आभोगनिर्वर्तित आहाराभिलाषा जघन्य और उत्कृष्ट दिवसपृथक्त्व (दो दिन से लेकर नौ दिनों) से होती है। इन दोनों प्रकार के देवों की आयु पल्योपम के आठवें भाग की होने से स्वभाव से ही दिवस-पृथक्त्व व्यतीत होने पर इन्हें आहार की अभिलाषा होती है।[1]

वैमानिक देवों में आहारादि सात द्वारों की प्ररूपणा (२-८)

१८२९. एवं वेमाणिया वि। णवरं आभोगणिव्वत्तिए जहण्णेणं दिवस-पुहत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जति। सेसं जहा असुरकुमाराणं (सु. १८०६ [१]) जाव ते तेसिं भुज्जो २ परिणमंति।

[१८२९] इसी प्रकार वैमानिक देवों की भी आहारसम्बन्धी वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेषता यह है कि इनको आभोगनिर्वर्तित आहार की अभिलाषा जघन्य दिवस-पृथक्त्व में और उत्कृष्ट तेतीस हजार वर्षों में उत्पन्न होती है। शेष वक्तव्यता (सू. १८०६-१ में उक्त) असुरकुमारों के समान यावत् 'उनके उन पुद्गलों का बार-बार परिणमन होता है', यहाँ तक कहनी चाहिए।

१८३०. सोहम्मे आभोगणिव्वत्तिए जहण्णेणं दिवसपुहत्तस्स, उक्कोसेणं दोण्हं वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ।

[१८३०] सौधर्मकल्प में आभोगनिर्वर्तित आहार की इच्छा जघन्य दिवस-पृथक्त्व से और उत्कृष्ट दो हजार वर्ष से समुत्पन्न होती है।

१८३१. ईसाणाणं पुच्छा।

गोयमा! जहण्णेणं दिवसपुहत्तस्स सातिरेगस्स, उक्कोसेणं सातिरेगाणं दोण्हं वाससहस्साणं।

[१८३१ प्र.] ईशानकल्पसम्बन्धी पूर्ववत् प्रश्न?

[१८३१ उ.] गौतम! जघन्य कुछ अधिक दिवस-पृथक्त्व में और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो हजार वर्ष में (उनको आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है।)

१८३२. सणंकुमाराणं पुच्छा।

गोयमा! जहण्णेणं दोण्हं वाससहस्साणं, उक्कोसेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं।

[१८३२ प्र.] सनत्कुमारसम्बन्धी पूर्ववत् प्रश्न?

[१८३२ उ.] गौतम! जघन्य दो हजार वर्ष में और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष में आहारेच्छा उत्पन्न होती है।

---

१ प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. ५८९ से ५९१ तक

१८३३. माहिंदे पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं दोण्हं वाससहस्साणं सातिरेगाणं, उक्कोसेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं सातिरेगाणं ।

[१८३३ प्र.] माहेन्द्रकल्प के विषय में पूर्ववत् प्रश्न ?

[१८३३ उ.] गौतम ! जघन्य कुछ अधिक दो हजार वर्ष में और उत्कृष्ट कुछ अधिक सात हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८३४. बंभलोए णं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं, उक्कोसेणं दसण्हं वाससहस्साणं ।

[१८३४ प्र.] गौतम ! ब्रह्मलोकसम्बन्धी प्रश्न ?

[१८३४ उ.] गौतम ! (वहाँ) जघन्य सात हजार वर्ष में और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८३५. लंतए णं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं दसण्हं वाससहस्साणं, उक्कोसेणं चोद्दसण्हं वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।

[१८३५ प्र.] लान्तककल्पसम्बन्धी पूर्ववत् पृच्छा ?

[१८३५ उ.] गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष में और उत्कृष्ट चौदह हजार वर्ष में उन्हें आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८३६. महासुक्के णं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं चोद्दसण्हं वाससहस्साणं, उक्कोसेणं सत्तरसण्हं वाससहस्साणं ।

[१८३६ प्र.] महाशुक्रकल्प के सम्बन्ध में प्रश्न ?

[१८३६ उ.] गौतम ! वहाँ जघन्य चौदह हजार वर्ष में और उत्कृष्ट सत्तरह हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है ।

१८३७. सहस्सारे णं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं सत्तरसण्हं वाससहस्साणं, उक्कोसेणं अट्ठारसण्हं वाससहस्साणं ।

[१८३७ प्र.] सहस्रारकल्प के विषय में पृच्छा ?

[१८३७ उ.] गौतम ! जघन्य सत्तरह हजार वर्ष में और उत्कृष्ट अठारह हजार वर्ष में उनको आहारेच्छा उत्पन्न होती है ।

१८३८. आणए णं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठारसण्हं वाससहस्साणं, उक्कोसेणं एगूणवीसाए वाससहस्साणं ।

[१८३८ प्र.] आनतकल्प के विषय में आहारसम्बन्धी प्रश्न ?

[१[illegible] गौतम ! जघन्य अठारह हजार वर्ष में और उत्कृष्ट उन्नीस हजार वर्ष में आहा-

१८३९. पाणए णं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं एगूणवीसाए वाससहस्साणं, उक्कोसेणं वीसाए वाससहस्साणं।

[१८३९ प्र.] प्राणतकल्प के देवों की आहारविषयक पृच्छा ?

[१८३९ उ.] गौतम ! वहाँ जघन्य उन्नीस हजार वर्ष में और उत्कृष्ट वीस हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है।

१८४०. आरणे णं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं वीसाए वाससहस्साणं, उक्कोसेणं एक्कवीसाए वाससहस्साणं।

[१८४० प्र.] आरणकल्प में आहारेच्छा सम्बन्धी पूर्ववत् प्रश्न ?

[१८४० उ.] गौतम ! जघन्य बीस हजार वर्ष में और उत्कृष्ट इक्कीस हजार वर्ष में आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है।

१८४१. अच्चुए णं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कवीसाए वाससहस्साणं, उक्कोसेणं बावीसाए वाससहस्साणं।

[१८४१ प्र.] भगवन् ! अच्युतकल्प के देवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८४१ उ.] गौतम ! जघन्य २१ हजार वर्ष और उत्कृष्ट २२ हजार वर्ष में उनको आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है।

१८४२. हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्जगाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं बावीसाए वाससहस्साणं, उक्कोसेणं तेवीसाए वाससहस्साणं। एवं सव्वत्थ सहस्साणि भाणियव्वाणि जाव सव्वट्ठं।

[१८४२ प्र.] भगवन् ! अधस्तन-अधस्तन (सबसे निचले) ग्रैवेयकों में आहारसम्बन्धी पृच्छा ?

[१८४२ उ.] गौतम ! जघन्य २२ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट २३ हजार वर्ष में देवों को आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है। इस प्रकार सर्वार्थसिद्ध विमान तक (एक-एक) हजार वर्ष अधिक कहना चाहिए।

१८४३. हेट्ठिममज्झिमाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं तेवीसाए, उक्कोसेणं चउवीसाए।

[१८४३ प्र.] भगवन् ! अधस्तन-मध्यम ग्रैवेयकों के विषय में पृच्छा ?

[१८४३ उ.] गौतम ! जघन्य २३ हजार वर्ष और उत्कृष्ट २४ हजार वर्ष में उन्हें आहारेच्छा उत्पन्न होती है।

१८४४. हेट्ठिमउवरिमाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं चउवीसाए, उक्कोसेणं पणुवीसाए।

[१८४४ प्र.] भगवन् ! अधस्तन-उपरिम ग्रैवेयकों के विषय में आहाराभिलाषा-पृच्छा ?

[१८४४ उ.] गौतम ! जघन्य चौवीस हजार वर्ष और उत्कृष्ट २५ हजार वर्ष में आहारेच्छा उत्पन्न होती है।

१८४५. मज्झिमहेट्ठिमाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं पणुवीसाए, उक्कोसेणं छव्वीसाए।

[१८४५ प्र.] भगवन् ! मध्यम-अधस्तन ग्रैवेयकों के विषय में प्रश्न ?

[१८४५ उ.] गौतम ! जघन्य २५ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट २६ हजार वर्ष में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

१८४६. मज्झिममज्झिमाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं छव्वीसाए, उक्कोसेणं सत्तावीसाए।

[१८४६ प्र.] भगवन् ! मध्यम-मध्यम ग्रैवेयकों की आहाराभिलाषा कितने काल में उत्पन्न होती है ?

[१८४६ उ.] गौतम ! जघन्य २६ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट २७ हजार वर्ष में आहारेच्छा उत्पन्न होती है।

१८४७. मज्झिमउवरिमाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं सत्तावीसाए उक्कोसेण अट्ठावीसाए।

[१८४७ प्र.] भगवन् ! मध्यम-उपरिम ग्रैवेयक में आहारेच्छा सम्बन्धी पृच्छा ?

[१८४७ उ.] गौतम ! जघन्य २७ हजार वर्ष और उत्कृष्ट २८ हजार वर्ष में उन्हें आहाराभिलाषा उत्पन्न होती है।

१८४८. उवरिमहेट्ठिमाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठावीसाए, उक्कोसेणं एगूणतीसाए।

[१८४८ प्र.] भगवन् ! उपरिम-अधस्तन ग्रैवेयकों में आहारेच्छा-सम्बन्धी पृच्छा ?

[१८४८ उ.] गौतम ! जघन्य २८ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट २९ हजार वर्ष में उन्हें आहार करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

१८४९. उवरिममज्झिमाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कूणतीसाए, उक्कोसेणं तीसाए।

[१८४९ प्र.] भगवन् ! उपरिम-मध्यम ग्रैवेयकों में आहारेच्छा कितने काल में उत्पन्न होती है ?

[१८४९ उ.] गौतम ! जघन्य २९ हजार वर्षों में और उत्कृष्ट ३० हजार वर्षों में उन्हें आहारेच्छा उत्पन्न होती है।

१८५०. उवरिमउवरिमगेवेज्जगाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं तीसाए, उक्कोसेणं एक्कतीसाए।

[१८५० प्र.] भगवन् ! उपरिम-उपरिम ग्रैवेयकों में कितने काल में आहारेच्छा उत्पन्न होती है ?

[१८५० उ.] गौतम ! जघन्य ३० हजार वर्ष में और उत्कृष्ट ३१ हजार वर्ष में उन्हें आहार करने की इच्छा उत्पन्न होती है !

१८५१. विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कतीसाए, उक्कोसेणं तेत्तीसाए ।

[१८५१ प्र.] भगवन् ! विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८५१ उ.] गौतम ! उन्हें जघन्य ३१ हजार वर्ष में और उत्कृष्ट ३३ हजार वर्ष में आहारेच्छा उत्पन्न होती है ।

१८५२. सव्वट्ठगदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जति ।

[१८५२ प्र.] भगवन् ! सर्वार्थक (सर्वार्थसिद्ध) देवों को कितने काल में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[१८५२ उ] गौतम ! उन्हें अजघन्य-अनुत्कृष्ट (जघन्य उत्कृष्ट के भेद से रहित) तेतीस हजार वर्ष में आहार की इच्छा उत्पन्न होती है ।

विवेचन—वैमानिक देवों की आहार सम्बन्धी वक्तव्यता—वैमानिक देवों की वक्तव्यता ज्योतिष्क देवों के समान समझनी चाहिए, किन्तु इसमें विशेषता यह है कि वैमानिक देवों को आभोग-निर्वर्तित आहार की इच्छा जघन्य दिवस-पृथक्त्व में होती है, और उत्कृष्ट ३३ हजार वर्षों में । ३३ हजार वर्षों में आहार की इच्छा का जो विधान किया गया है, वह अनुत्तरोपपातिक देवों की अपेक्षा से समझना चाहिए । शेष कथन जैसा असुरकुमारों के विषय में किया गया है, वैसा ही वैमानिकों के विषय में जान लेना चाहिए ।

शुभानुभावरूप बाहुल्य कारण की अपेक्षा से वर्ण से—पीत और श्वेत, गन्ध से सुरभिगन्ध वाले, रस से—अम्ल और मधुर, स्पर्श से—मृदु, लघु स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों के पुरातन वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुणों को रूपान्तरित करके अपने शरीरक्षेत्र में अवगाढ़ पुद्गलों का समस्त आत्मप्रदेशों से वैमानिक आहार करते हैं, उन आहार किये हुए पुद्गलों को वे श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियों के रूप में, इष्ट, कान्त, प्रिय, शुभ, मनोज्ञ, मनाम, इष्ट और विशेष अभीष्ट रूप में, हल्के रूप में, भारी रूप में नहीं, सुखदरूप में, दुःखदरूप में नहीं, परिणत करते हैं ।[1]

विशेष स्पष्टीकरण—जिन वैमानिक देवों की जितने सागरोपम की स्थिति है, उन्हें उतने ही हजार वर्ष में आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है । इस नियम के अनुसार सौधर्म, इशान आदि देवलोकों में आहारेच्छा की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का परिमाण समझ लेना चाहिए । इसे स्पष्ट-

---

१. (क) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ५१२-५१३

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५०६

रूप से समझने के लिए नीचे एक तालिका दी जा रही है, जिससे आसानी से वैमानिक देवों की आहारेच्छा के काल को समझा जा सके।

क्रम	वैमानिकदेव का नाम	जघन्य आहारेच्छाकाल	उत्कृष्ट आहारेच्छा काल
१	सौधर्मकल्प के देव	दिवस-पृथक्त्व	दो हजार वर्ष
२	ईशानकल्प के देव	कुछ अधिक दिवस-पृथक्त्व	कुछ अधिक दो हजार वर्ष
३	सनत्कुमारकल्प के देव	दो हजार वर्ष	सात हजार वर्ष
४	माहेन्द्रकल्प के देव	कुछ अधिक दो हजार वर्ष	कुछ अधिक ७ हजार वर्ष
५	ब्रह्मलोक के देव	सात हजार वर्ष	दस हजार वर्ष
६	लान्तककल्प के देव	दस हजार वर्ष	चौदह हजार वर्ष
७	महाशुक्रकल्प के देव	चौदह हजार वर्ष	सत्तरह हजार वर्ष
८	सहस्रारकल्प के देव	सत्तरह हजार वर्ष	अठारह हजार वर्ष
९	आनतकल्प के देव	अठारह हजार वर्ष	उन्नीस हजार वर्ष
१०	प्राणतकल्प के देव	उन्नीस हजार वर्ष	वीस हजार वर्ष
११	आरणकल्प के देव	वीस हजार वर्ष	इक्कीस हजार वर्ष
१२	अच्युतकल्प के देव	इक्कीस हजार वर्ष	बाईस हजार वर्ष
१३	अधस्तन-अधस्तन ग्रैवेयक देव	बाईस हजार वर्ष	तेईस हजार वर्ष
१४	अधस्तन-मध्यम ग्रैवेयक देव	तेईस हजार वर्ष	चौवीस हजार वर्ष
१५	अधस्तन-उपरितन " "	चौवीस हजार वर्ष	पच्चीस हजार वर्ष
१६	मध्यम-अधस्तन " "	पच्चीस हजार वर्ष	छव्वीस हजार वर्ष
१७	मध्यम-मध्यम " "	छव्वीस हजार वर्ष	सत्ताईस हजार वर्ष
१८	मध्यम-उपरिम " "	सत्ताईस हजार वर्ष	अठाईस हजार वर्ष
१९	उपरिम-अधस्तन " "	अठाईस हजार वर्ष	उनतीस हजार वर्ष
२०	उपरिम-मध्यम " "	उनतीस हजार वर्ष	तीस हजार वर्ष
२१	उपरिम-उपरिम " "	तीस हजार वर्ष	इकत्तीस हजार वर्ष
२२	विजय-वैजयन्त-जयन्त अपराजित देव	इकत्तीस हजार वर्ष	तेतीस हजार वर्ष
२३	सर्वार्थसिद्ध देव	अजघन्य-अनुत्कृष्ट	तेतीस हजार वर्ष[1]

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अ. रा. कोष ५०६
   (ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५ पृ.५९२-६०२

नौवाँ : एकेन्द्रियशरीरादिद्वार

१८५३. णेरइया णं भंते ! किं एगिदियसरीराइं आहारेंति जाव पंचेंदियसरीराइं आहारेंति ?

गोयमा ! पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च एगिदियसरीराइं पि आहारेंति जाव पंचेंदियसरीराइं पि, पडुप्पण्णभावपण्णवणं पडुच्च णियमा पंचेंदियसरीराइं आहारेंति ।

[१८५३ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक एकेन्द्रियशरीरों का यावत् पंचेन्द्रियशरीरों का आहार करते हैं ?

[१८५३ उ.] गौतम ! पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से वे एकेन्द्रियशरीरों का भी आहार करते हैं, यावत् पंचेन्द्रियशरीरों का भी तथा वर्त्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से नियम से वे पंचेन्द्रियशरीरों का आहार करते हैं ।

१८५४. एवं जाव थणियकुमारा ।

[१८५४] (असुरकुमारों से लेकर) यावत् स्तनितकुमारों तक इसी प्रकार (समझना चाहिए ।)

१८५५. पुढविक्काइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च एवं चेव, पडुप्पण्णभावपण्णवणं पडुच्च णियमा एगिदियसरीराइं आहारेंति ।

[१८५५ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न ?

[१८५५ उ.] गौतम ! पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से नारकों के समान वे एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक का आहार करते हैं । वर्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से नियम से वे एकेन्द्रियशरीरों का आहार करते हैं ।

१८५६. बेइंदिया पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च एवं चेव, पडुप्पण्णभावपण्णवणं पडुच्च णियमा बेइंदियसरीराइं आहारेंति ।

[१८५६] द्वीन्द्रियजीवों के सम्बन्ध में पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से इसी प्रकार (पूर्ववत् कहना चाहिए ।) वर्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से वे नियम से द्वीन्द्रियशरीरों का आहार करते हैं ।

१८५७. एवं जाव चउरिंदिया ताव पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च एवं, पडुप्पण्णभावपण्णवणं पडुच्च णियमा जस्स जति इंदियाइं तइंदियसरीराइं ते आहारेंति ।

[१८५७] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रियपर्यन्त पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से पूर्ववत् (कथन जानना चाहिए ।) वर्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से जिसके जितनी इन्द्रियां हैं, उतनी ही इन्द्रियों वाले शरीर का आहार करते हैं ।

१८५८. सेसा जहा णेरया जाव वेमाणिया ।

[१८५८] शेष जीवों यावत् वैमानिकों तक का कथन नैरयिकों के समान जानना चाहिए ।

कौन-सा जीव किनके शरीरों का आहार करता है?—प्रस्तुत प्रकरण में नैरयिक आदि चौवीस दण्डकवर्ती जीव जिन-जिन जीवों के शरीर का आहार करते हैं, उसकी प्ररूपणा की गई है, दो अपेक्षाओं से—पूर्वभावप्रज्ञापना (अर्थात् अतीतकालीन पर्यायों की प्ररूपणा) की अपेक्षा से और प्रत्युत्पन्न-वर्तमानकालिक भाव की प्ररूपणा की अपेक्षा से।[1]

प्रश्न के समाधान का आशय—प्रश्न तो मूलपाठ से स्पष्ट है, किन्तु उसके समाधान में जो कहा गया कि नारकादि जीव पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के शरीरों का आहार करते हैं और वर्तमानभावप्रज्ञापना की अपेक्षा नैरयिकादि पंचेन्द्रिय नियम से पंचेन्द्रियशरीरों का, चतुरिन्द्रिय चतुरिन्द्रियशरीरों का, त्रीन्द्रिय त्रीन्द्रियशरीरों का, द्वीन्द्रिय द्वीन्द्रियशरीरों का और पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय एकेन्द्रियशरीरों का ही आहार करते हैं। अर्थात्—जो प्राणी जितनी इन्द्रियों वाला है, वह उतनी ही इन्द्रियों वाले शरीरों का आहार करते हैं। इस समाधान का आशय वृत्तिकार लिखते हैं कि आहार्यमाण पुद्गलों के अतीतभाव (पर्याय) की दृष्टि से विचार किया जाए तो निष्कर्ष यह निकलता है कि उनमें से कभी कोई एकेन्द्रिय-शरीर के रूप में परिणत थे, कोई द्वीन्द्रिय-शरीर के रूप में परिणत थे, कोई त्रीन्द्रियशरीर या चतुरिन्द्रिय-शरीर के रूप में और कोई पंचेन्द्रिय-शरीर के रूप में परिणत थे। उस पूर्वभाव का यदि वर्तमान में आरोप करके विवक्षा की जाए तो नारकजीव एकेन्द्रिय-शरीरों का तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय-शरीरों का भी आहार करते हैं। किन्तु जब ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से वर्तमान-भव की विवक्षा की जाती है, तब ऋजुसूत्रनय क्रियमाण को कृत, आहार्यमाण को आहृत और परिणम्यमान पुदगलों को परिणत स्वीकार करता है; जो स्वशरीर के रूप में परिणत हो रहे हैं। इस प्रकार ऋजुसूत्रनय के मत से स्वशरीर का ही आहार किया जाता है। नारकों, देवों, मनुष्यों और पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों का स्वशरीर पंचेन्द्रिय है। शेष जीवों (एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय) के विषय में भी इसी प्रकार स्थिति के अनुसार कहना चाहिए।[2]

दसवाँ : लोमाहारद्वार

१८५९. णेरइया णं भंते ! किं लोमाहारा पक्खेवाहारा ?

गोयमा ! लोमाहारा, णो पक्खेवाहारा।

[१८५९ प्र.] भगवन् ! नारक जीव लोमाहारी हैं या प्रक्षेपाहारी हैं ?

[१८५९ उ.] गौतम ! वे लोमाहारी हैं, प्रक्षेपाहारी नहीं हैं।

१८६०. एवं एगिंदिया सव्वे देवा य भाणियव्वा जाव वेमाणिया।

[१८६०] इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवों, सभी देवों, यावत् वैमानिकों तक के विषय में कहना चाहिए।

---

१. (क) पण्णवणासुत्त भा. १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ३९९
   (ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. ६०५-६०६

२. वही भा. ५, पृ. ६०६ से ६०९ तक

१८६१. बेइंदिया जाव मणूसा लोमाहारा वि पक्खेवाहारा वि ।

[१८६१] द्वीन्द्रियों से लेकर यावत् मनुष्यों तक लोमाहारी भी हैं, प्रक्षेपाहारी भी हैं ।

विवेचन—चौबीस दण्डकों में लोमाहारी-प्रक्षेपाहारी-प्ररूपणा—लोमाहारी का अर्थ है—रोमों (रोओं) द्वारा आहार ग्रहण करने वाले तथा प्रक्षेपाहारी का अर्थ है—कवलाहारी—ग्रास (कौर) हाथ में लेकर मुख में डालने वाले जीव । चौवीस दण्डकों में नारक, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक और एकेन्द्रिय जीव लोमाहारी हैं, प्रक्षेपाहारी नहीं; क्योंकि नारक और चारों प्रकार के देव वैक्रियशरीरधारी होते हैं, इसलिए तथाविध स्वभाव से ही वे लोमाहारी होते हैं । उनमें कवलाहार का अभाव है । पृथ्वीकायिकादि पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों के मुख नहीं होता, अतएव उनमें प्रक्षेपाहार का अभाव है । किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं मनुष्य लोमाहारी भी होते हैं और कवलाहारी (प्रक्षेपाहारी) भी । नारकों का लोमाहार भी पर्याप्त नारकों का ही जानना चाहिए, अपर्याप्तकों का नहीं ।[1]

ग्यारहवाँ : मनोभक्षीद्वार

१८६२. णेरइया णं भंते ! किं ओयाहारा मणभक्खी ?

गोयमा ! ओयाहारा, णो मणभक्खी ।

[१८६२ प्र] भगवन् ! नैरयिक जीव ओज-आहारी होते हैं, अथवा मनोभक्षी ?

[१८६२ उ.] गौतम ! वे ओज-आहारी होते हैं, मनोभक्षी नहीं ।

१८६३. एवं सव्वे ओरालियसरीरा वि ।

[१८६३] इसी प्रकार सभी औदारिकशरीरधारी जीव भी ओज-आहार वाले होते हैं ।

१८६४. देवा सव्वे जाव वेमाणिया ओयाहारा वि मणभक्खी वि । तत्थ णं जे ते मणभक्खी देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ 'इच्छामो णं मणभक्खं करित्तए' तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसीकते समाणे खिप्पामेव जे पोग्गला इट्ठा कंता जाव मणामा ते तेसिं मणभक्खत्ताए परिणमंति, से जहाणामए सीता पोग्गला सीयं पप्प सीयं चेव अइवइत्ताणं चिट्ठंति उसिणा वा पोग्गला उसिणं पप्प उसिणं चेव अतिवइत्ताणं चिट्ठंति । एवामेव तेहिं देवेहिं मणभक्खणे कते समाणे गोयमा ! से इच्छामणे खिप्पामेव अवेति ।

।। पण्णवणाए भगवतीए आहारपदे पढमो उद्देसओ समत्तो ।।

[१८६४] असुरकुमारों से यावत् वैमानिकों तक सभी (प्रकार के) देव ओज-आहारी भी होते हैं और मनोभक्षी भी । देवों में जो मनोभक्षी देव होते हैं, उनको इच्छामन (अर्थात्—मन में आहार करने की इच्छा) उत्पन्न होती है । जैसे कि—वे चाहते हैं कि हम मनो—(मन में चिन्तित वस्तु का) भक्षण करें ! तत्पश्चात् उन देवों के द्वारा मन में इस प्रकार की इच्छा किये जाने पर शीघ्र ही जो पुद्गल इष्ट, कान्त (कमनीय), यावत् मनोज्ञ, मनाम होते हैं, वे उनके मनोभक्ष्यरूप में

---

१. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ६०९-६१०

परिणत हो जाते हैं। (यथा—मन से अमुक वस्तु के भक्षण की इच्छा के) तदनन्तर जिस किसी नाम वाले शीत (ठंडे) पुद्गल, शीतस्वभाव को प्राप्त होकर रहते हैं अथवा उष्ण पुद्गल, उष्णस्वभाव को पाकर रहते हैं।

हे गौतम ! इसी प्रकार उन देवों द्वारा मनोभक्षण किये जाने पर, उनका इच्छाप्रधान मन शीघ्र ही सन्तुष्ट—तृप्त हो जाता है।

विवेचन—ओज-आहारी का अर्थ—उत्पत्तिप्रदेश में आहार के योग्य पुद्गलों का जो समूह होता है, वह 'ओज' कहलाता है। मन में उत्पन्न इच्छा से आहार करने वाले मनोभक्षी कहलाते हैं।[1]

निष्कर्ष—जितने भी औदारिकशरीरी जीव हैं, वे सब तथा नारक ओज-आहारी होते हैं तथा वैक्रियशरीरी जीवों में चारों जाति के देव मनोभक्षी भी होते, तथा ओज-आहारी भी होते हैं। मनोभक्षी देवों का स्वरूप इस प्रकार का है कि वे विशेष प्रकार की शक्ति से, मन में शरीर को पुष्टिकर, सुखद, अनुकूल एवं रुचिकर जिन आहार्य-पुद्गलों के आहार की इच्छा करते हैं तदनुरूप आहार प्राप्त हो जाता है और उसकी प्राप्ति के पश्चात् वे परम-संतोष एवं तृप्ति का अनुभव करते हैं। नारकों को ऐसा आहार प्राप्त नहीं होता, क्योंकि प्रतिकूल अशुभकर्मों का उदय होने से उनमें वैसी शक्ति नहीं होती।[2]

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गाथाओं का अर्थ—ओजाहार शरीर के द्वारा होता है, रोमाहार त्वचा (चमड़ी) द्वारा होता है और प्रक्षेपाहार कवल (कौर) करके किया जाने वाला होता है ॥ १ ॥ सभी अपर्याप्त जीव ओज-आहार करते हैं, पर्याप्त जीवों के तो रोमाहार और प्रक्षेपाहार (कवलाहार) की भजना होती है ॥२॥ एकेन्द्रिय जीवों, नारकों और देवों के प्रक्षेपाहार (कवलाहार) नहीं होता, शेष सब संसारी जीवों के कवलाहार होता है ॥ ३ ॥ एकेन्द्रिय और नारकजीव तथा असुरकुमार आदि का गण रोमाहारी होता है, शेष जीवों का आहार रोमाहार एवं प्रक्षेपाहार होता है ॥ ४ ॥ सभी प्रकार के देव ओज-आहारी और मनोभक्षी होते हैं। शेष जीव रोमाहारी और प्रक्षेपाहारी होते हैं ॥ ५ ॥

॥ अट्ठाईसवाँ आहारपद : प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ६१२

२. वही, भा. ५, पृ. ६१३

३. सरीरेणोयाहारो तयाय फासेण लोम-आहारो।
पक्खेवाहारो कावलिओ होइ नायव्वो ॥ १७१ ॥

ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा।
पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होंति भइयव्वा ॥ १७२ ॥

एगिंदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो।
सेसाणं जीवाणं संसारत्थाण पक्खेवो ॥ १७३ ॥

लोमाहारा एगिंदिया उ नेरइय सुरगणा चेव।
सेसाणं आहारो लोमे पक्खेवओ चेव ॥ ४ ॥

ओयाहारा मणभक्खिणो य सव्वे वि सुरगणा होंति।
सेसा हवंति जीवा लोमे पक्खेवओ चेव ॥ ५ ॥ —सूत्रकृतांग सु. २, अ. ३ निर्युक्ति

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक के तेरह द्वारों की संग्रहणी गाथा

१८६५. आहार १ भविय २ सण्णी ३ लेस्सा ४ दिट्ठी य ५ संजय ६ कसाए ७ ।

णाणे ८ जोगुवओगे ९-१० वेदे य ११ सरीर १२ पज्जत्ती १३ ॥ २१९ ॥

[१८६५ संग्रहणी-गाथार्थ] द्वितीय उद्देशक में निम्नोक्त तेरह द्वार हैं—(१) आहारद्वार, (२) भव्यद्वार, (३) संज्ञीद्वार, (४) लेश्याद्वार, (५) दृष्टिद्वार, (६) संयतद्वार, (७) कषायद्वार, (८) ज्ञानद्वार, (९-१०) योगद्वार, उपयोगद्वार, (११) वेदद्वार, (१२) शरीरद्वार और (१४) पर्याप्तिद्वार ।

विवेचन—द्वितीय उद्देशक में इन तेरह द्वारों के आधार पर आहार का प्ररूपण किया जाएगा । यहाँ 'भव्य' आदि शब्दों के ग्रहण से उनके विरोधी 'अभव्य' आदि का भी ग्रहण हो जाता है ।

प्रथम : आहारद्वार

१८६६. [१] जीवे णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए ।

[१८६६ प्र.] भगवन् ! जीव आहारक है या अनाहारक ?

[१८६६ उ.] गौतम ! वह कथंचित् आहारक है, कथंचित् अनाहारक है ।

[२] एवं नेरइए जाव असुरकुमारे जाव वेमाणिए ।

[१८६६-२] नैरयिक (से लेकर) यावत् असुरकुमार, यावत् वैमानिक तक इसी प्रकार जानना चाहिए ।

१८६७. सिद्धे णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! णो आहारए, अणाहारए ।

[१८६७ प्र.] भगवन् ! एक सिद्ध (जीव) आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८६७ उ.] गौतम ! एक सिद्ध (जीव) आहारक नहीं होता, अनाहारक होता है ।

१८६८. जीवा णं भंते ! किं आहारया अणाहारया ?

गोयमा ! आहारगा वि अणाहारगा वि ।

[१८६८ प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव आहारक होते हैं, या अनाहारक ?

[१८६८ उ.] गौतम ! वे आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी होते हैं ।

१८६९. [१] णेरइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा आहारगा १ अहवा आहारगा य अणाहारगे य २ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ३ ।

[१८६९-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) नैरयिक आहारक होते हैं या अनाहारक ?

[१८६९-१ उ.] गौतम ! (१) वे सभी आहारक होते हैं, (२) अथवा बहुत आहारक और कोई एक अनाहारक होता है, (३) या बहुत आहारक और बहुत अनाहारक होते हैं ।

[२] एवं जाव वेमाणिया । णवरं एगिंदिया जहा जीवा ।

[१८७०] इसी तरह यावत् वैमानिक-पर्यन्त जानना । विशेष यह है कि एकेन्द्रिय जीवों का कथन बहुत जीवों के समान समझना चाहिए ।

१८७०. सिद्धाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णो आहारगा, अणाहारगा । दारं १ ।

[१८७० प्र.] (बहुत) सिद्धों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न ?

[१८७० उ.] गौतम ! सिद्ध आहारक नहीं होते, वे अनाहारक ही होते हैं । [प्रथम द्वार]

विवेचन—जीव स्यात् आहारक स्यात् अनाहारक : कैसे ? विग्रहगति, केवलि-समुद्घात, शैलेशी अवस्था और सिद्धावस्था की अपेक्षा समुच्चय जीव को अनाहारक और इनके अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा आहारक समझना चाहिए । कहा भी है—

'विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समोहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥'

समुच्चय जीव की तरह नैरयिक भी कथंचित् आहारक और कथंचित् अनाहारक होता है । असुरकुमार से लेकर वैमानिक देव तक सभी जीव कथंचित् आहारक और कथंचित् अनाहारक होते हैं ।[1]

बहुवचन की अपेक्षा—कोई जीव आहारक होते हैं, कोई अनाहारक भी होते हैं । सभी नारक आहारक होते हैं, अथवा बहुत नारक आहारक होते हैं, कोई एक अनाहारक होता है, अथवा बहुत-से आहारक और बहुत-से अनाहारक होते हैं । यही कथन वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए । एकेन्द्रिय जीवों का कथन समुच्चय जीवों के समान समझना । अर्थात् वे बहुत-से अनाहारक और बहुत-से आहारक होते हैं ।

सिद्ध एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा सदैव अनाहारक होते हैं ।[2]

विग्रहगति की अपेक्षा से जीव अनाहारक—विग्रहगति से भिन्न समय में सभी जीव आहारक होते हैं और विग्रहगति कहीं, कभी, किसी जीव की होती है । यद्यपि विग्रहगति सर्वकाल में पाई

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. को. भा. २, पृ. ५१०
   (ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ६२८ से ६३० तक

२. वही, भा. ५, पृ. ६२८

जाती है, किन्तु वह होती है प्रतिनियत जीवों की ही। इस कारण आहारकों को बहुत कहा है। सिद्ध सदैव अनाहारक होते हैं, वे सदैव विद्यमान रहते हैं तथा अभव्यजीवों से अनन्तगुणे भी हैं तथा सदैव एक-एक निगोद का प्रतिसमय असंख्यातवाँ भाग विग्रहगतिप्राप्त रहता है। इस अपेक्षा से अनाहारकों की संख्या भी बहुत कही है।[1]

बहुत-से नारकों के तीन भंग : क्यों और कैसे ?—(१) पहला भंग है—नारक कभी-कभी सभी आहारक होते हैं, एक भी नारक अनाहारक नहीं होता। यद्यपि नारकों के उपपात का विरह भी होता है, जो केवल बारह मुहूर्त्त का होता है; उस काल में पूर्वोत्पन्न एवं विग्रहगति को प्राप्त नारक आहारक हो जाते हैं, तथा कोई नया नारक उत्पन्न नहीं होता। अतएव कोई भी नारक उस समय अनाहारक नहीं होता। **(२) दूसरा भंग है**—बहुत-से नारक आहारक और कोई एक नारक अनाहारक होता है। इसका कारण यह है कि नरक में कदाचित् एक जीव उत्पन्न होता है, कदाचित् दो, तीन, चार यावत् संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। अतएव जब एक जीव उत्पद्यमान होता है और वह विग्रहगति-प्राप्त होता है, और दूसरे सभी पूर्वोत्पन्न नारक आहारक हो चुकते हैं, उस समय यह दूसरा भंग समझना चाहिए। **तीसरा भंग है**—बहुत-से नारक आहारक और बहुत-से अनाहारक। यह भंग उस समय घटित होता है, जब बहुत नारक उत्पन्न हो रहे हों और वे विग्रहगति को प्राप्त हों। इन तीन के सिवाय कोई भी भंग नारकों में सम्भव नहीं है।[2]

एकेन्द्रिय जीवों में केवल एक भंग : क्यों और कैसे—पृथ्वीकायिकों से लेकर वनस्पतिकायिकों तक में केवल एक ही भंग पाया जाता है। इसका कारण यह है कि पृथ्वीकायिक से लेकर वायुकायिक तक चार स्थावर जीवों में प्रतिसमय असंख्यात जीव उत्पन्न होते हैं इसलिए बहुत-से आहारक होते हैं तथा वनस्पतिकायिक में प्रतिसमय अनन्तजीव विग्रहगति से उत्पन्न होते हैं। इस कारण उनमें सदैव अनाहारक भी बहुत पाये जाते हैं। इसलिए समस्त एकेन्द्रियों में केवल एक ही भंग पाया जाता है—बहुत-से आहारक और बहुत-से अनाहारक।[3]

द्वितीय : भव्यद्वार

१८७१. [१] भवसिद्धिए णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए।

[१८७१-१ प्र.] भगवन् ! भवसिद्धिक जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८७१-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक होता है, कदाचित् अनाहारक होता है।

[२] एवं जाव वेमाणिए।

[१८७१-२] इसी प्रकार की वक्तव्यता यावत् वैमानिक तक जाननी चाहिए।

---

१. प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. ६२९

२. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१०

३. अभि. रा. कोष, भा. २, पृ. ५१०

१८७२. भवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ?

गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो ।

[१८७२ प्र.] भगवन् ! (बहुत) भवसिद्धिक जीव आहारक होते हैं या अनाहारक ?

[१८७२ उ.] गौतम ! समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर (इस विषय में) तीन भंग कहने चाहिए ।

१८७३. अभवसिद्धिए वि एवं चेव ।

[१८७३] अभवसिद्धिक के विषय में भी इसी प्रकार (भवसिद्धिक के समान) कहना चाहिए ।

१८७४. [१] णोभवसिद्धिए-णोअभवसिद्धिए णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! णो आहारए, अणाहारए ।

[१८७४-१ प्र.] भगवन् ! नो-भवसिद्धिक-नो-अभवसिद्धिक जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८७४-१ उ.] गौतम ! वह आहारक नहीं होता, अनाहारक होता है ।

[२] एवं सिद्धे वि ।

[१८७४-२] इसी प्रकार सिद्ध जीव के विषय में कहना चाहिए ।

१८७५. [१] णोभवसिद्धिया-णोअभवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ?

गोयमा ! णो आहारगा, अणाहारगा ।

[१८७५-१ प्र] भगवन् ! (बहुत-से) नो-भवसिद्धिक-नो-अभवसिद्धिक जीव आहारक होते हैं या अनाहारक ?

[१८७५-१ उ.] गौतम ! वे आहारक नहीं होते, किन्तु अनाहारक होते हैं ।

[२] एवं सिद्धा वि । दारं २ ॥

[१८७५-२] इसी प्रकार बहुत-से सिद्धों के विषय में समझ लेना शाहिए । [द्वितीय द्वार]

विवेचन—भवसिद्धिक कब आहारक, कब अनाहारक ?—भवसिद्धिक अर्थात्—भव्यजीव विग्रहगति आदि अवस्था में अनाहारक होता है और शेष समय में आहारक । भवसिद्धिक समुच्चय जीव की तरह भवसिद्धिक भवनपति आदि चारों जाति के देव, मनुष्य, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, एकेन्द्रिय आदि सभी जीव (सिद्ध को छोड़कर) पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होते हैं ।[1]

बहुत्वविशिष्ट भवसिद्धिक जीव के तीन भंग : क्यों और कैसे ?—आहारकद्वार के समान समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ शेष नारक आदि बहुत्वविशिष्ट सभी जीवों में उक्त के समान तीन भंग होते हैं ।

---

१. अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१०

अभवसिद्धिक और भवसिद्धिक : लक्षण एवं आहारकता-अनाहारकता—अभवसिद्धिक वह हैं, जो मोक्षगमन के योग्य न हों। भवसिद्धिक वे जीव हैं, जो संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त भवों के पश्चात् कभी न कभी सिद्धि प्राप्त करेंगे। भवसिद्धिक की भाँति अभवसिद्धिक के विषय में भी आहारकत्व-अनाहारकत्व का प्ररूपण किया गया है।[1]

नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक और सिद्ध—नो-भवसिद्धिक-नो-अभवसिद्धिक सिद्धजीव ही हो सकता है। क्योंकि सिद्ध मुक्तिपद को प्राप्त कर चुकते हैं, इसीलिए उन्हें भव्य नहीं कहा जा सकता तथा मोक्ष को प्राप्त हो जाने के कारण उन्हें मोक्षगमन के अयोग्य—अभवसिद्धिक (अभव्य) भी नहीं कहा जा सकता। एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से ये अनाहारक ही होते हैं।[2]

तृतीय : संज्ञीद्वार

१८७६. [१] सण्णी णं भंते ! जीवे किं आहारगे अणाहारगे ?

गोयमा ! सिय आहारगे सिय अणाहारगे।

[१८७६-१ प्र.] भगवन् ! संज्ञी जीव आहारक है या अनाहारक ?

[१८७६-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है।

[२] एवं जाव वेमाणिए। णवरं एगिंदिय-विगलिंदिया ण पुच्छिज्जंति।

[१८७६-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए। किन्तु एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए।

१८७७. सण्णी णं भंते ! जीवा किं आहारया अणाहारगा ?

गोयमा ! जीवाईओ तियभंगो जाव वेमाणिया।

[१८७७ प्र.] भगवन् ! बहुत-से संज्ञी जीव आहारक होते हैं या अनाहारक ?

[१८७७ उ.] गौतम ! जीवादि से लेकर यावत् वैमानिक तक (प्रत्येक में) तीन भंग होते हैं।

१८७८. [१] असण्णी णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए।

[१८७८-१ प्र.] भगवन् ! असंज्ञी जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८७८-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है।

[२] एवं णेरइए जाव वाणमंतरे।

[१८७८-२] इसी प्रकार नारक से लेकर वाणव्यन्तर पर्यन्त कहना चाहिए।

[३] जोइसिय-वेमाणिया ण पुच्छिज्जंति।

[१८७८-३] ज्योतिष्क और वैमानिक के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति पृ. ५१०

२. वही, अ. रा. कोष भा. २, पृ. ५१०-५११

१८७९. असण्णी णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ?

गोयमा ! आहारगा वि अणाहारगा वि, एगो भंगो।

[१८७९ प्र.] भगवन् ! (बहुत) असंज्ञी जीव आहारक होते हैं या अनाहारक ?

[१८७९ उ.] गौतम ! वे आहारक भी होते हैं और अनाहारक भी होते हैं। इनमें केवल एक ही भंग होता है।

१८८०. [१] असण्णी णं भंते ! णेरइया किं आहारगा अणाहारगा ?

गोयमा ! आहारगा वा १ अणाहारगा वा २ अहवा आहारए य अणाहारए य ३ अहवा आहारए य अणाहारगा य ४ अहवा आहारगा य अणाहारगे य ५ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ६, एवं एते छब्भंगा।

[१८८०-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) असंज्ञी नैरयिक आहारक होते हैं या अनाहारक ?

[१८८०-१ उ.] गौतम वे—(१) सभी आहारक होते हैं, (२) सभी अनाहारक होते हैं। (३) अथवा एक आहारक और एक अनाहारक, (४) अथवा एक आहारक और बहुत अनाहारक होते हैं, (५) अथवा बहुत-से आहारक और एक अनाहारक होता है तथा (६) अथवा बहुत-से आहारक और बहुत-से अनाहारक होते हैं।

[२] एवं जाव थणियकुमारा।

[१८८०-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त जानना चाहिए।

[३] एगिंदिएसु अभंगयं।

[१८८०-३] एकेन्द्रिय जीवों में भंग नहीं होता।

[४] बेइंदिय जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु तियभंगो।

[१८८०-४] द्वीन्द्रिय से लेकर यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्च तक के जीवों में पूर्वोक्त कथन के समान तीन भंग कहने चाहिए।

[५] मणूस-वाणमंतरेसु छब्भंगा।

[१८८०-५] मनुष्यों और वाणव्यन्तर देवों में (पूर्ववत्) छह भंग कहने चाहिए।

१८८१. [१] णोसण्णी-णोअसण्णी णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए।

[१८८१-१ प्र.] भगवन् ! नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८८१-१ उ] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है।

[२] एवं मणूसे वि।

[१८८१-२] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी कहना चाहिए।

[३] सिद्धे अणाहारए।

[१८८१-३] सिद्ध जीव अनाहारक होता है।

१८८२. [१] पुहत्तेणं णोसण्णी-णोअसण्णी जीवा आहारगा वि अणाहारगा वि।

[१८८२-१] बहुत्व की अपेक्षा से नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव आहारक भी होते हैं और अनाहारक भी।

[२] मणूसेसु तियभंगो।

[१८८२-२] (बहुत्व की अपेक्षा से नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी) मनुष्यों में तीन भंग (पाये जाते हैं।)

[३] सिद्धा अणाहारगा। दारं ३॥

[१८८२-३] (बहुत-से) सिद्ध अनाहारक होते हैं। [तृतीय द्वार]

विवेचन—संज्ञी-असंज्ञी : स्वरूप—जो मन से युक्त हों, वे संज्ञी कहलाते हैं। असंज्ञी अमनस्क होता है। प्रश्न होता है—संज्ञी जीव के भी विग्रहगति में मन नहीं होता, ऐसी स्थिति में अनाहारक कैसे? इसका समाधान यह है कि विग्रहगति को प्राप्त होने पर भी जो जीव संज्ञी के आयुष्य का वेदन कर रहा है, वह उस समय मन के अभाव में भी संज्ञी ही कहलाता है, जैसे – नारक के आयुष्य का वेदन करने के पश्चात् विग्रहगतिप्राप्त नरकगामी जीव नारक ही कहलाता है।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय मनोहीन होने के कारण संज्ञी नहीं होते, इसलिए यहाँ संज्ञीप्रकरण में एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए।

ज्योतिष्क और वैमानिकों में असंज्ञी की पृच्छा नहीं—ज्योतिष्क और वैमानिकों में असंज्ञीपन का व्यवहार नहीं होता, इसलिए इन दोनों में असंज्ञी का आलापक नहीं कहना चाहिए।

नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव में आहारकता-अनाहारकता—ऐसा जीव एकत्व की विवक्षा से कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है, क्योंकि केवलीसमुद्घातावस्था के अभाव में आहारक होता है, शेष अवस्था में अनाहारक होता है। बहुत्व की विवक्षा से इनमें दो भंग पाए जाते हैं। यथा—(१) आहारक भी नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी जीव बहुत होते हैं, क्योंकि समुद्घात-अवस्था से रहित केवली बहुत पाये जाते हैं। सिद्ध अनाहारक होते हैं, इसलिए अनाहारक भी बहुत पाये जाते हैं। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी मनुष्यों में तीन भंग पाये जाते हैं—(१) जब कोई भी केवलीसमुद्घातावस्था में नहीं होता, तब सभी आहारक होते हैं, यह प्रथम भंग, (२) जब बहुत-से मनुष्य समुद्घातावस्था में हों और एक केवलीसमुद्घातगत हो, तब दूसरा भंग, (३) जब बहुत-से केवलीसमुद्घातावस्था को प्राप्त हों, तब तीसरा भंग होता है।[1]

चतुर्थ : लेश्याद्वार

१८८३. [१] सलेसे णं भंते! जीवे किं आहारए अणाहारए?

गोयमा! सिय आहारए सिय अणाहारए।

---

१. (क) अभि. रा. कोष. भा. २, पृ. ५११

(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी. भा. ५, पृ. ६४२

[१८८३-१ प्र.] भगवन् ! सलेश्य जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८८३-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक होता है और कदाचित् अनाहारक होता है।

[२] एवं जाव वेमाणिए।

[१८८३-२] इसी प्रकार वैमानिक तक जानना चाहिए।

१८८४. सलेसा णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ?

गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१८८४ प्र.] भगवन् ! (बहुत) सलेश्य जीव आहारक होते हैं या अनाहारक ?

[१८८४ उ.] गौतम ! समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर इनके तीन भंग होते हैं।

१८८५. [१] एवं कण्हलेसाए वि णीललेसाए वि काउलेसाए वि जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१८८५-१] इसी प्रकार कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी और कापोतलेश्यी के विषय में भी समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर (पूर्वोक्त प्रकार से नारक आदि प्रत्येक में) तीन भंग कहने चाहिए।

[२] तेउलेस्साए पुढवि-आउ-वणप्फइकाइयाणं छब्भंगा।

[१८८५-२] तेजोलेश्या की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक. अप्कायिक और वनस्पतिकायिकों में छह भंग (कहने चाहिए।)

[३] सेसाणं जीवादीओ तियभंगो जेसिं अत्थि तेउलेस्सा।

[१८८५-३] शेष जीव आदि (अर्थात् जीव से लेकर वैमानिक पर्यन्त) में, जिनमें तेजोलेश्या पाई जाती है, उनमें तीन भंग (कहने चाहिए।)

[४] पम्हलेस्साए सुक्कलेस्साए य जीवादीओ तियभंगो।

[१८८५-४] पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या वाले (जिनमें पाई जाती है, उन) जीव आदि में तीन भंग पाए जाते हैं।

१८८६. अलेस्सा जीवा मणूसा सिद्धा य एगत्तेण वि पुहत्तेण वि णो आहारगा, अणाहारगा। दारं ४॥

[१८८६] अलेश्य (लेश्यारहित) समुच्चय जीव, मनुष्य, (अयोगी केवली) और सिद्ध एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से आहारक नहीं होते, किन्तु अनाहारक ही होते हैं। [चतुर्थ द्वार]

विवेचन—सलेश्य जीवों में आहारकता-अनाहारकता की प्ररूपणा—एकत्व की अपेक्षा— सलेश्य जीव तथा चौबीसदण्डकवर्ती जीव विग्रहगति, केवलीसमुद्घात और शैलेशी अवस्था की अपेक्षा अनाहारक और अन्य अवस्थाओं में आहारक समझने चाहिए।

बहुत्व की अपेक्षा—समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष नारक आदि प्रत्येक में पूर्वोक्त युक्ति से तीन भंग होते हैं। जीवों और एकेन्द्रियों में सिर्फ एक भंग—(बहुत आहारक और बहुत अनाहारक) पाया जाता है, क्योंकि दोनों सदैव बहुत संख्या में पाए जाते हैं। कृष्ण-नील-

कापोतलेश्यी नारक आदि में भी समुच्चय सलेश्य जीवों के समान प्रत्येक में तीन भंग (समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर) कहने चाहिए।[1]

तेजोलेश्यी जीवों में आहारकता-अनाहारकता—एकत्व की अपेक्षा से तेजोलेश्यावान् पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों में प्रत्येक में एक ही भंग (पूर्ववत्) समझना चाहिए।

बहुत्व की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक तेजोलेश्यावान् में छह भंग पाये जाते हैं—(१) सब आहारक, (२) सब अनाहारक, (३) एक आहारक एक अनाहारक, (४) एक आहारक बहुत अनाहारक, (५) बहुत आहारक एक अनाहारक और (६) बहुत आहारक बहुत अनाहारक।

इसके अतिरिक्त समुच्चय जीवों से लेकर वैमानिक पर्यन्त जिन-जिन जीवों में तेजोलेश्या पाई जाती है, उन्हीं में प्रत्येक में पूर्ववत् तीन-तीन भंग कहने चाहिए, शेष में नहीं। अर्थात्—नारकों में, तेजस्कायिकों में, वायुकायिकों में, द्वीन्द्रियों-त्रीन्द्रियों और चतुरिन्द्रियों में तेजोलेश्या-सम्बन्धी वक्तव्यता नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि इनमें तेजोलेश्या नहीं होती।

पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिकों में तेजोलेश्या इस प्रकार है कि भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्मादि देवलोकों के वैमानिक देव तेजोलेश्या वाले होते हैं, वे च्यवन कर पृथ्वीकायिकादि तीनों में उत्पन्न हो सकते हैं, इस दृष्टि से पृथ्वीकायिकादित्रय में तेजोलेश्या सम्भव है।[2]

पद्म-शुक्ललेश्यायुक्त जीवों की अपेक्षा आहारक-अनाहारक-विचारणा—पंचेन्द्रियतिर्यंचों, मनुष्यों, वैमानिकदेवों और समुच्चय जीवों में ही पद्म-शुक्ललेश्याद्वय पाई जाती है, अतएव इनमें एकत्व की विवक्षा से पूर्ववत् एक ही भंग होता है तथा बहुत्व की अपेक्षा पूर्ववत् तीन भंग होते हैं।

लेश्यारहित जीवों में अनाहारकता—समुच्चय जीव, मनुष्य, अयोगिकेवली और सिद्ध लेश्यारहित होते हैं, अतएव ये एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से अनाहारक ही होते हैं, आहारक नहीं।[3]

पंचम : दृष्टिद्वार

१८८७. [१] सम्मद्दिट्ठी णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए।

[१८८७-१ प्र.] भगवन् ! सम्यग्दृष्टि जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८८७-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् कनाहारक होता है।

[२] बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिया छब्भंगा।

[१८८७-२] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय (सम्यग्दृष्टियों) में पूर्वोक्त छह भंग होते हैं।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१२

२. (क) प्रज्ञापनाचूर्णि—'जेणं तेसु भवणवइ-वाणमंतर-सोहम्मीसाणया देवा उववज्जंति तेणं तेउलेस्सा लब्भइ।
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१२

३. वही. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१२

[३] सिद्धा अणाहारगा।

[१८८७-३] सिद्ध अनाहारक होते हैं।

[४[अवसेसाणं तियभंगो।

[१८८७-४] शेष सभी (सम्यग्दृष्टि जीवों) में (एकत्व की अपेक्षा से) तीन भंग (पूर्ववत्) होते हैं।

१८८८. मिच्छद्दिट्ठीसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१८८८] मिथ्यादृष्टियों में समुच्चय जीव और एकेन्द्रियों को छोड़ कर (प्रत्येक में) तीन-तीन भंग पाये जाते हैं।

१८८९. [१] सम्मामिच्छद्दिट्ठी णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! आहारए, णो अणाहारए।

[१८८९-१ प्र.] भगवन् ! सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८८९-१ उ.] गौतम ! वह आहारक होता है, अनाहारक नहीं।

[२] एवं एगिंदिय-विगलिंदियवज्जं जाव वेमाणिए।

[१८८९-२] एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को छोड़ कर यावत् वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार (का कथन करना चाहिए।)

[३] एवं पुहत्तेण वि। दारं ५ ॥

[१८८९-३] बहुत्व की अपेक्षा से भी इसी प्रकार की वक्तव्यता समझनी चाहिए।

[पंचमद्वार]

विवेचन—दृष्टि की अपेक्षा से आहारक-अनाहारक-प्ररूपणा—प्रस्तुत में सम्यग्दृष्टि पद का अर्थ—औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक और वेदक तथा क्षायिक सम्यक्त्व वाले समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ सामान्यपद से सम्यग्दृष्टि शब्द प्रयुक्त किया गया है। औपशमिक सम्यग्दृष्टि आदि प्रसिद्ध हैं। वेदक सम्यग्दृष्टि वह है, जो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के चरम समय में हो और जिसे अगले ही समय में क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होने वाली हो।

सम्यग्दृष्टि जीवादि पदों में—एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से क्रमशः एक-एक भंग कहना चाहिए। यथा जीव आदि पदों में एकत्वापेक्षया—कदाचित् एक आहारक और एक अनाहारक, यह एक भंग और बहुत्व की अपेक्षा—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक, यह एक भंग होता है। इनमें पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों की वक्तव्यता नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि इनमें सम्यग्दृष्टि और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि दोनों का अभाव होता है। विकलेन्द्रिय सम्यग्दृष्टियों में पूर्वोक्तवत् छह भंग कहने चाहिए। द्वीन्द्रियादि तीन विकलेन्द्रियों में अपर्याप्त अवस्था में सास्वादन-सम्यक्त्व की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टित्व समझना चाहिए। सिद्ध क्षायिक सम्यक्त्वी होते हैं और सदैव अनाहारक होते हैं। शेष अर्थात् नैरयिकों, भवनपतियों, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों में जो सम्यग्दृष्टि हैं, पूर्वोक्त युक्ति से उनमें तीन भंग पाये जाते हैं।

मिथ्यादृष्टियों में—एकत्व की विवक्षा से सर्वत्र कदाचित् एक आहारक एक अनाहारक, यही एक भंग पाया जाता है। बहुत्व की विवक्षा से समुच्चय जीव और पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय मिथ्यादृष्टियों में से प्रत्येक के बहुत आहारक बहुत अनाहारक, यह एक ही भंग पाया जाता है। इनके अतिरिक्त सभी स्थानों में पूर्ववत् तीन-तीन भंग कहने चाहिए। यहाँ सिद्ध-सम्बन्धी आलापक नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सिद्ध मिथ्यादृष्टि होते ही नहीं हैं।[1]

सम्यग्मिथ्यादृष्टि में आहारकता या अनाहारकता—सम्यग्मिथ्यादृष्टि सभी जीव एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से, एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों को छोड़कर आहारक होते हैं, क्योंकि संसारी जीव विग्रहगति में अनाहारक होते हैं। मगर सम्यग्मिथ्यादृष्टि विग्रहगति में होती नहीं है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि की अवस्था में मृत्यु नहीं होती। एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों का कथन यहाँ इसलिए नहीं करना चाहिए कि वे सम्यग्मिथ्यादृष्टि[2] नहीं होते।

छठा : संयतद्वार

१८९०. [१] संजए णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए।

[१८९०-१ प्र.] भगवन् ! संयत जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८९०-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है।

[२] एवं मणूसे वि।

[१८९०-२] इसी प्रकार मनुष्य संयत का भी कथन करना चाहिए।

[३] पुहत्तेण तियभंगो।

[१८९०-३] बहुत्व की अपेक्षा से (समुच्चय जीवों और मनुष्यों में) तीन-तीन भंग (पाये जाते हैं।)

१८९१. [१] अस्संजए पुच्छा।

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए।

[१८९१-१ प्र.] भगवन् ! असंयत जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८९१-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक होता है और कदाचित् अनाहारक भी होता है।

[२] पुहत्तेणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१८९१-२] बहुत्व की अपेक्षा जीव और एकेन्द्रिय छोड़ कर इनमें तीन भंग होते हैं।

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१३
   (ख) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी भा. ५, पृ. ६५७-५८

२. वही, भा. ५, पृ. ६५७-५८

१८९२. संजयासंजए जीवे पंचेंदियतिरिक्खजोणिए मणूसे य एते एगत्तेण वि पुहत्तेण वि आहारगा, णो अणाहारगा।

[१८९२] संयतासंयतजीव, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य, ये एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं।

१८९३. णोसंजए-णोअसंजए-णोसंजयासंजए जीवे सिद्धे य एते एगत्तेण वि पुहत्तेण वि णो आहारगा, अणाहारगा। दारं ६॥

[१८९३] नोसंयत नो-असंयत-नोसंयतासंयत जीव और सिद्ध, ये एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से आहारक नहीं होते, किन्तु अनाहारक होते हैं। [छठा द्वार]

विवेचन—संयत-संयतासंयत, असंयत और नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत की परिभाषा— जो संयम (पंचमहाव्रतादि) को अंगीकार करे अर्थात् विरत हो उसे संयत कहते हैं। जो अणुव्रती श्रावकत्व अंगीकार करे अर्थात् देशविरत हो, उसे संयतासंयत कहते हैं। जो अविरत हो, न तो साधुत्व को अंगीकार करे और न ही श्रावकत्व को, वह असंयत है और जो न तो संयत है, न संयतासंयत है और न असंयत है, वह नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत कहलाता है। संयत समुच्चय जीव और मनुष्य ही हो सकता है, संयतासंयत समुच्चय जीव, मनुष्य एवं पंचेन्द्रियतिर्यञ्च हो सकता है, नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत अयोगिकेवली तथा सिद्ध होते हैं।

संयत जीव और मनुष्य एकत्वापेक्षया केवलिसमुद्घात और अयोगित्वावस्था की अपेक्षा अनाहारक और अन्य समय में आहारक होता है।

बहुत्व की अपेक्षा से तीन भंग—(१) सभी संयत आहारक होते हैं; यह भंग तब घटित होता है जब कोई भी केवलीसमुद्घातावस्था में या अयोगी-अवस्था में न हो। (२) बहुत संयत आहारक और कोई एक अनाहारक, यह भंग भी तब घटित होता है जब एक केवलीसमुद्घातावस्था में या शैलेशी अवस्था में होता है। (३) बहुत संयत आहारक और बहुत अनाहारक, यह भंग भी तब घटित होता है जब बहुत-से संयत केवलीसमुद्घातावस्था में हों या शैलेशी-अवस्था में हों।

असंयत में एकत्वापेक्षा से—एक आहारक, एक अनाहारक यह एक ही विकल्प होता है। **बहुत्व की अपेक्षा से**—समुच्चय जीवों और असंयत पृथ्वीकायिकादि प्रत्येक में बहुत आहारक और बहुत अनाहारक यही एक भंग होता है। असंयत नारक से वैमानिक तक (समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर) प्रत्येक में पूर्ववत् तीन-तीन भंग होते हैं।

संयतासंयत—देश विरतजीव, मनुष्य और पंचेन्द्रियतिर्यञ्च ये तीनों एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से आहारक ही होते हैं, अनाहारक नहीं; क्योंकि मनुष्य और तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के सिवाय किसी जीव में देशविरति-परिणाम उत्पन्न नहीं होता और संयतासंयत सदैव आहारक ही होते हैं, क्योंकि अन्तरालगति और केवलिसमुद्घात आदि अवस्थाओं में देशविरति-परिणाम होता नहीं है।

नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत जीव व सिद्ध—एकत्व-बहुत्व-अपेक्षा से अनाहारक ही होते हैं, आहारक नहीं, क्योंकि शैलेशी प्राप्त त्रियोगरहित और सिद्ध अशरीरी होने के कारण आहारक होते ही नहीं।[1]

---

१. अभि. रा. को., भा. २, पृ. ५१३

सप्तम : कषायद्वार

१८९४. [१] सकसाई णं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ?

गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए ।

[१८९४-१ प्र.] भगवन् ! सकषाय जीव आहारक होता है या अनाहारक ?

[१८९४-१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है ।

[२] एवं जाव वेमाणिए ।

[१८९४-२] इसी प्रकार (नारक से लेकर) वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए ।

१८९५. [१] पुहत्तेणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो ।

[१८९५-१] बहुत्व की अपेक्षा से—जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर (सकषाय नारक आदि में) तीन भंग (पाए जाते हैं ।)

[२] कोहकसाईसु जीवादिएसु एवं चेव । णवरं देवेसु छब्भंगा ।

[१८९५-२] क्रोधकषायी जीव आदि में भी इसी प्रकार तीन भंग कहने चाहिए । विशेष यह है कि देवों में छह भंग कहने चाहिए ।

[३] माणकसाईसु मायाकसाईसु य देव-णेरइएसु छब्भंगा । अवसेसाणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो ।

[१८९५-३] मानकषायी और मायाकषायी देवों और नारकों में छह भंग पाये जाते हैं ।

[४] लोभकसाईसु णेरइएसु छब्भंगा । अवसेसेसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो ।

[१८९५-४] लोभकषायी नैरयिकों में छह भंग होते हैं । जीव और एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष जीवों में तीन भंग पाये जाते हैं ।

१८९६. अकसाई जहा णोसण्णी-णोअसण्णी (सु. १८८१-८२) । दारं ७ ॥

[१८९६] अकषायी की वक्तव्यता नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी के समान जाननी चाहिए ।

[सप्तम द्वार]

विवेचन—सकषाय जीव और चौबीस दण्डकों में आहारक-अनाहारक की प्ररूपणा—एकत्व की विवक्षा से समुच्चय जीव और चौवीस दण्डकवर्ती जीव पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है । बहुत्व की विवक्षा से समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर सकषाय नारकादि में पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार तीन भंग पाये जाते हैं । समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में एक भंग—'वहुत आहारक, बहुत अनाहारक' होता है ।[1]

---

१. (क) अभि. रा. कोष. भा. २, पृ. ५१३

(ख) प्रज्ञापना. प्रमेयवोधिनी टीका भा. ५, पृ. ६६३

क्रोधकषायी की प्ररूपणा—चौवीस दण्डकों में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से एक भंग—कदाचित् आहारक-कदाचित् अनाहारक—होता है। क्रोधकषायी समुच्चय जीवों तथा एकेन्द्रियों में केवल एक ही भंग—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक—होता है। शेष जीवों में देवों को छोड़ कर पूर्वोक्त रीति से तीन भंग होते हैं। विशेष—देवों में छह भंग—(१) सभी क्रोधकषायी देव आहारक होते हैं। यह भंग तब घटित होता है जब कोई भी क्रोधकषायी देव विग्रहगतिसमापन्न नहीं होता, (२) कदाचित् सभी क्रोधकषायी देव अनाहारक होते हैं। यह भंग तब घटित होता है, जब कोई भी क्रोधकषायी देव आहारक नहीं होता। यहाँ मान आदि के उदय से रहित क्रोध का उदय विवक्षित है, इस कारण क्रोधकषायी आहारक देव का अभाव सम्भव है, (३) कदाचित् एक आहारक और एक अनाहारक (४) देवों में क्रोध की बहुलता नहीं होती, स्वभाव से ही लोभ की अधिकता होती है, अत. क्रोधकषायी देव कदाचित् एक भी पाया जाता है, (५) कदाचित् बहुत आहारक और एक अनाहारक और (६) कदाचित् बहुत आहारक और बहुत अनाहारक।

मानकषायी और मायाकषायी जीवादि में—एकत्व की अपेक्षा से पूर्ववत् एक-एक भंग। बहुत्व की अपेक्षा से—मान-मायाकषायी देवों और नारकों में प्रत्येक में ६ भंग पूर्ववत् समझना चाहिए। देवों और नारकों में मान और माया कषाय की विरलता पाई जाती है, देवों में लोभ की और नारकों में क्रोध की बहुलता होती है। इस कारण ६ ही भंग सम्भव हैं। मान-मायाकषायी शेष जीवों में समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़कर तीन भंग पूर्ववत् होते हैं। समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में एक भंग—बहुत आहारक-बहुत अनाहारक'—होता है।

लोभकषायी जीवादि में—लोभकषायी नारकों में पूर्ववत् ६ भंग होते हैं, क्योंकि नारकों में लोभ की तीव्रता नहीं होती। नारकों के सिवाय एकेन्द्रियों और समुच्चय जीवों को छोड़कर शेष जीवों में ३ भंग पूर्ववत् पाये जाते हैं। समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में प्रत्येक में एक ही भंग—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक—पाया जाता है।[1]

अकषायी जीवों में—अकषायी मनुष्य और सिद्ध ही होते हैं। मनुष्यों में उपशान्तकषाय आदि ही अकषायी होते हैं। उनके अतिरिक्त सकषायी होते हैं। अतएव उन सकषायी समुच्चय जीवों, मनुष्यों और सिद्धों में से समुच्चय जीव में और मनुष्य में केवल एक भंग—कदाचित् एक आहारक और एक अनाहारक—पाया जाता है। सिद्ध में—एक भंग—'अनाहारक' ही पाया जाता है। **बहुत्व की विवक्षा से**—समुच्चय जीवों में—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक—एक भंग ही होता है। क्योंकि आहारक केवली और अनाहारक सिद्ध बहुत संख्या में उपलब्ध होते हैं। मनुष्यों में पूर्ववत् तीन भंग समझने चाहिए। सिद्धों में केवल एक ही भंग—'अनाहारक' पाया जाता है।[2]

अष्टम : ज्ञानद्वार

१८९७. णाणी जहा सम्मद्दिट्ठी (सु. १८८७)।

[१८९७] ज्ञानी की वक्तव्यता सम्यग्दृष्टि के समान समझनी चाहिए।

---

१. (क) प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ६६४ से ६६७ तक
   (ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष. भा. २, पृ. ५१३-५१४

२. (क) वही, मलयवृत्ति अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ५१४
   (ख) प्रज्ञापना प्रमेयबोधिनी टीका भा. ५, पृ. ६६७-६६८

१८९८. [१] आभिणिबोहियणाणि-सुतणाणिसु बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिएसु छब्भंगा। अवसेसेसु जीवादीओ तियभंगो जेसिं अत्थि।

[१७९८-१] आभिनिवोधिकज्ञानी और श्रुतज्ञानी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में (पूर्ववत्) छह भंग समझने चाहिए। शेष जीव आदि (समुच्चय जीव और नारक आदि) में जिनमें ज्ञान होता है, उनमें तीन भंग (पाये जाते हैं।)

[२] ओहिणाणी पंचेंदियतिरिक्खजोणिया आहारगा, णो अणाहारगा। अवसेसेसु जीवादीओ तियभंगो जेसिं अत्थि ओहिणाणं।

[१८९८-२] अवधिज्ञानी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च आहारक होते हैं अनाहारक नहीं। शेष जीव आदि में, जिनमें अवधिज्ञान पाया जाता है, उनमें तीन भंग होते हैं।

[३] मणपज्जवणाणी जीवा मणूसा य एगत्तेण वि पुहत्तेण वि आहारगा, णो अणाहारगा।

[१८९८-३] मन:पर्यवज्ञानी समुच्चय जीव और मनुष्य एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं।

[४] केवलणाणी जहा णोसण्णी-णोअसण्णी (सु. १८८१-८२)।

[१८९८-४] केवलज्ञानी का कथन (सू. १८८१-८२ में उक्त) नो-संज्ञी-नो-असंज्ञी के कथन के समान जानना चाहिए।

१८९९. [१] अण्णाणी मइअण्णाणी सुयअण्णाणी जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१८९९-१] अज्ञानी, मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी में समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग पाये जाते हैं।

[२] विभंगणाणी पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा य आहारगा, णो अणाहारगा। अवसेसेसु जीवादीओ तियभंगो। दारं ८॥

[१८९९-२] विभंगज्ञानी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं। अवशिष्ट जीव आदि में तीन भंग पाये जाते हैं। [अष्टम द्वार]

विवेचन—ज्ञानी जीवों में आहारक-अनाहारक-प्ररूपणा—समुच्चय ज्ञानी (सम्यग्ज्ञानी) में सम्यग्दृष्टि के समान प्ररूपणा जाननी चाहिए, क्योंकि एकेन्द्रिय सदैव मिथ्यादृष्टि होने के कारण अज्ञानी ही होते हैं, इसलिए एकेन्द्रियों को छोड़कर एकत्व की अपेक्षा से समुच्चय जीव तथा वैमानिक तक शेष १९ दण्डकों में ज्ञानी कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है। बहुत्व की विवक्षा से समुच्चयज्ञानी जीव आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी। नारकों से लेकर स्तनितकुमारों तक ज्ञानी जीवों में पूर्वोक्त रीति से तीन भंग होते हैं। पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों में भी तीन भंग ही पाए जाते हैं। तीन विकलेन्द्रिय ज्ञानियों में छह भंग प्रसिद्ध हैं। सिद्ध ज्ञानी अनाहारक ही होते हैं।

आभिनिवोधिकज्ञानी और श्रुतज्ञानी में एकत्व की अपेक्षा से पूर्ववत् समझना। **बहुत्व की अपेक्षा से**—तीन विकलेन्द्रियों में छह भंग होते हैं। उनके अतिरिक्त एकेन्द्रियों को छोड़कर अन्य जीवादि पदों में, जिनमें आभिनिवोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान हो, उनमें प्रत्येक में तीन-तीन भंग कहने

चाहिए। एकेन्द्रिय जीवों में आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान का अभाव होता है। इसलिए उनकी पृच्छा नहीं करनी चाहिए।

अवधिज्ञानी में—अवधिज्ञान पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारक को होता है, अन्य जीवों को नहीं। अतः एकेन्द्रियों एवं तीन विकलेन्द्रियों को छोड़कर पचेन्द्रियतिर्यञ्च अवधिज्ञानी सदैव आहारक ही होते हैं। *यद्यपि विग्रहगति में पंचेन्द्रियतिर्यञ्च अनाहारक होते हैं,* किन्तु उस समय उनमें अवधिज्ञान नहीं होता। चूंकि पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है—हो सकता है, मगर विग्रहगति के समय गुणों का अभाव होता है, इस कारण अवधिज्ञान का भी उस समय अभाव होता है। इसी कारण अवधिज्ञानी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च अनाहारक नहीं हो सकता। एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों को छोड़कर पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में समुच्चय जीव से लेकर नारकों, मनुष्यों एवं समस्त जाति के देवों में प्रत्येक में तीन-तीन भंग कहने चाहिए, परन्तु कहना उन्हीं में चाहिए जिनमें अवधिज्ञान का अस्तित्व हो। एकत्व की विवक्षा से पूर्ववत् प्ररूपणा समझनी चाहिए।

मनःपर्यवज्ञानी में—मन:पर्यवज्ञान मनुष्यों में ही होता है। अतः उसके विषय में दो पद ही कहते हैं—मन:पर्यवज्ञानी जीव और मनुष्य। एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से ये दोनों मन:पर्यवज्ञानी आहारक ही होते हैं, अनाहारक नहीं, क्योंकि विग्रहगति आदि अवस्थाओं में मन:पर्यवज्ञान होता ही नहीं है।

केवलज्ञानी में—केवलज्ञानी की प्ररूपणा में तीन पद होते हैं—समुच्चय जीवपद, मनुष्यपद और सिद्धपद। इन तीन के सिवाय और किसी जीव में केवलज्ञान का सद्भाव नहीं होता। प्रस्तुत में केवलज्ञानी की आहारक-अनाहारक-विषयक प्ररूपणा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञीवत् बताई गई है। अर्थात् समुच्चय जीवपद और मनुष्यपद में एकत्व की अपेक्षा से एक भंग—कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक—होता है। सिद्धपद में अनाहारक ही कहना चाहिए। **बहुत्व की विवक्षा से**—समुच्चय जीवों में अहारक भी होते हैं, अनाहारक भी होते हैं। मनुष्यों में पूर्वोक्त भंग कहना चाहिए। सिद्धों में अनाहारक ही होते हैं।

अज्ञानी की अपेक्षा से—अज्ञानियों में, मत्यज्ञानियों और श्रुताज्ञानियों में बहुत्व की विवक्षा से, जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़कर अन्य पदों में प्रत्येक में तीन भंग कहने चाहिए। समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी। विभंगज्ञानी में एकत्व की विवक्षा से पूर्ववत् ही समझना चाहिए। बहुत्व की विवक्षा से—विभंगज्ञानी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च एवं मनुष्य आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं होते, क्योंकि विग्रहगति में विभंगज्ञानयुक्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों और मनुष्यों में उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों से भिन्न स्थानों में एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों को छोड़कर जीव से लेकर प्रत्येक स्थान में तीन भंग कहना चाहिए।[1]

नौवाँ : योगद्वार

१९००. [१] सजोगीसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

---

१. (क) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति, अ. रा. को. भाग २, पृ. ५१४
(ख) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ६७५ से ६७७ तक

[१९००-१] सयोगियों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग (पाये जाते हैं।)

[२] मणजोगी वइजोगी य जहा सम्मामिच्छद्दिट्ठी (सु. १८८९)। णवरं वइजोगो विगलिंदियाण वि।

[१९००-२] मनोयोगी और वचनयोगी के विषय में (सू. १८८९ में उक्त) सम्यग्मिथ्यादृष्टि के समान वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह कि वचनयोग विकलेन्द्रियों में भी कहना चाहिए।

[३] कायजोगीसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१९००-३] काययोगी जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग (पाये जाते हैं।)

[४] अजोगी जीव-मणूस-सिद्धा अणाहारगा। दारं ९॥

[१९००-४] अयोगी समुच्चय जीव, मनुष्य और सिद्ध होते हैं, और वे अनाहारक हैं।

[नौवाँ द्वार]

विवेचन—योगद्वार की अपेक्षा प्ररूपणा—समुच्चयजीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर अन्य सयोगी जीवों में पूर्वोक्त तीन भंग पाये जाते हैं। समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों में एक भंग ही पाया जाता है—बहुत आहारक—बहुत अनाहारक, क्योंकि ये दोनों सदैव बहुत संख्या में पाये जाते हैं। मनोयोगी और वचनयोगी के सम्बन्ध में कथन सम्यग्मिथ्यादृष्टि के समान जानना चाहिए, अर्थात् वे एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से आहारक ही होते हैं, अनाहारक नहीं। यद्यपि विकलेन्द्रिय सम्यग्-मिथ्यादृष्टि नहीं होते, किन्तु उनमें वचनयोग होता है, इसलिए यहाँ उनकी भी प्ररूपणा करनी चाहिए। समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़कर शेष नारक आदि काययोगियों में पूर्ववत् तीन भंग कहना चाहिए। अयोगी समुच्चय जीव, मनुष्य और सिद्ध होते हैं, ये तीनों अयोगी एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से अनाहारक होते हैं।[1]

दसवाँ : उपयोगद्वार

१९०१. [१] सागाराणागारोवउत्तेसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१९०१-१] समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़कर अन्य साकार एवं अनाकार उपयोग से उपयुक्त जीवों में तीन भंग कहने चाहिए।

[२] सिद्धा अणाहारगा। दारं १०॥

[१९०१-२] सिद्ध जीव (सदैव) अनाहारक ही होते हैं। [दसवाँ द्वार]

विवेचन—उपयोगद्वार की अपेक्षा से प्ररूपणा—समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष साकार एवं अनाकार उपयोग से उपयुक्त जीवों में तीन भंग पाए जाते हैं। सिद्ध जीव चाहे साकारोपयोग वाला हो, चाहे अनाकारोपयोग से उपयुक्त हो, अनाहारक ही होते हैं।

एकत्व की अपेक्षा से सर्वत्र 'कदाचित् आहारक तथा कदाचित् अनाहारक'[2], ऐसा कथन करना चाहिए।'

---

१. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भाग ५, पृ. ६७९-६८०

२. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भाग ५, पृ. ६८०

ग्यारहवाँ : वेदद्वार

१९०२. [१] सवेदे जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१९०२-१] समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर अन्य सब सवेदी जीवों के (बहुत्व की अपेक्षा से) तीन भंग होते हैं।

[२] इत्थिवेद-पुरिसवेदेसु जीवादीओ तियभंगो।

[१९०२-२] स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीव आदि में तीन भंग होते हैं।

[३] णपुंसगवेदए जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१९०२-३] नपुसंकवेदी में समुच्चयजीव और एकेन्द्रिय को छोड़ कर तीन भंग होते हैं।

[४] अवेदए जहा केवलणाणी (सु. १८९८ [४])। दारं ११।

[१९०२-४] अवेदी जीवों का कथन (सू. १८९८-४ में उल्लिखित) केवलज्ञानी के कथन के समान जानना चाहिए। [ग्यारहवाँ द्वार]

विवेचन—वेदद्वार के माध्यम से आहारक-अनाहारक प्ररूपणा—सवेदी जीवों में एकेन्द्रियों और समुच्चय जीवों को छोड़कर बहुत्वापेक्षया तीन भंग होते हैं, जीवों और एकेन्द्रियों में आहारक भी होते हैं और अनाहारक भी। एकत्व की विवक्षा से सवेदी कदाचित् आहारक होता है, कदाचित् अनाहारक।

बहुत्वापेक्षया—स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी जीव आदि में एकेन्द्रियों एवं समुच्चय जीवों को छोड़ कर बहुत्व की विवक्षा से प्रत्येक के तीन भंग होते हैं। अवेदी का कथन केवलज्ञानी के समान है। **एकत्व-विवक्षया**—स्त्रीवेद और पुरुपवेद के विषय में आहारक भी होता है और अनाहारक भी। यह एक ही भंग होता है। यहाँ नैरयिकों, एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे स्त्रीवेदी और पुरुपवेदी नहीं होते, अपितु नपुंसकवेदी होते हैं। बहुत्व की अपेक्षा से जीवादि में से प्रत्येक में तीन भंग होते हैं।

नपुंसकवेद में—एकत्व की विवक्षा से पूर्ववत् भंग कहना चाहिए, किन्तु यहाँ भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव का कथन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये नपुंसक नहीं होते। बहुत्व की अपेक्षा से जीवों और एकेन्द्रियों के सिवाय शेष में तीन भंग होते हैं। जीवों और एकेन्द्रियों में एक ही भंग होता है—आहारक भी होते हैं, अनाहारक भी। अवेदी के सम्बन्ध में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से केवलज्ञानी के समान कहना चाहिए। एक जीव और एक मनुष्य की अपेक्षा से अवेदी कदाचित् आहारक होता है कदाचित् अनाहारक, यह एक भंग होता है। बहुत्व की अपेक्षा से—अवेदी में बहुत आहारक और बहुत अनाहारक, यही एक भंग पाया जाता है। अवेदी मनुष्यों में तीन भंग होते हैं। अवेदी सिद्धों में 'बहुत अनाहारक' यह एक भंग ही पाया जाता है।[1]

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोप, भाग. २, पृ.५१५

बारहवाँ : शरीरद्वार

१६०३. [१] ससरीरी जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१६०३-१] समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष (सशरीरी नारकादि) जीवों में (बहुत्वापेक्षया) तीन भंग पाये जाते हैं।

[२] ओरालियसरीरीसु जीव-मणूसेसु तियभंगो।

[१६०३-२] औदारिकशरीरी जीवों और मनुष्यों में तीन भंग पाये जाते हैं।

[३] अवसेसा आहारगा, णो अणाहारगा, जेसिं अत्थि ओरालियसरीरं।

[१६०३-३] शेष जीवों और (मनुष्यों से भिन्न) औदारिकशरीरी आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं। किन्तु जिनके औदारिकशरीर होता है, उन्हीं का कथन करना चाहिए।

[४] वेउव्वियसरीरी आहारगसरीरी य आहारगा, णो अणाहारगा, जेसिं अत्थि।

[१६०३-४] वैक्रियशरीरी और आहारकशरीरी आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं। किन्तु यह कथन जिनके वैक्रियशरीर और आहारकशरीर होता है, उन्हीं के लिए है।

[५] तेय-कम्मगसरीरी जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१६०३-५] समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर तैजसशरीर और कार्मणशरीर वाले जीवों में तीन भंग पाये जाते हैं।

[६] असरीरी जीवा सिद्धा य णो आहारगा, अणाहारगा। दारं १२॥

[१६०३-६] अशरीरी जीव और सिद्ध आहारक नहीं होते, अनाहारक होते हैं।

[बारहवाँ द्वार]

विवेचन—शरीरद्वार के आधार से प्ररूपणा—समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर शेष **सशरीरी** जीवों में बहुत्व की विवक्षा से तीन भंग और एकत्व की अपेक्षा से सर्वत्र एक ही भंग पाया जाता है—कदाचित् एक आहारक और कदाचित् एक अनाहारक। समुच्चय सशरीरी जीवों और एकेन्द्रियों में बहुत आहारक बहुत अनाहारक, यह एक भंग पाया जाता है।

औदारिकशरीरी जीवों और मनुष्यों में तीन भंग तथा इनसे भिन्न औदारिकशरीरी आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं। यह कथन औदारिकशरीरधारियों पर ही लागू होता है। नारक, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के औदारिकशरीर नहीं होता, अतः उनके लिए यह कथन नहीं है।

बहुत्व की अपेक्षा से—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियादि तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में बहुत आहारक ही कहना चाहिए, अनाहारक नहीं, क्योंकि विग्रहगति होने पर भी उनमें औदारिक-शरीर का सद्भाव होता है।

वैक्रियशरीरी और आहारकशरीरी आहारक ही होते हैं, अनाहारक नहीं। परन्तु यह कथन उन्हीं के लिए है, जिनके वैक्रियशरीर और आहारकशरीर होता है। नारकों और वायुकायिकों,

पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों, मनुष्यों तथा चारों जाति के देवों के ही वैक्रियशरीर होता है। आहारकशरीर केवल मनुष्यों के ही होता है।

तैजसशरीरी एवं कार्मणशरीरी जीवों में एकत्वापेक्षया सर्वत्र कदाचित् 'एक आहारक और कदाचित् एक अनाहारक' यह एक भंग होता है। बहुत्वापेक्षया—समुच्चय जीवों और एकेन्द्रिय को छोड़ कर अन्य स्थानों में तीन-तीन भंग जानने चाहिए। समुच्चय जीवों और पृथ्वीकायिकादि पांच एकेन्द्रियों में से प्रत्येक में एक ही भंग पाया जाता है—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक।

अशरीरी जीव और सिद्ध आहारक नहीं होते, अपितु अनाहारक ही होते हैं। अतएव एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से अशरीरी सिद्ध अनाहारक ही होते हैं।[1]

तेरहवाँ : पर्याप्तिद्वार

१९०४. [१] आहारपज्जत्तीपज्जत्तए सरीरपज्जत्तीपज्जत्तए इंदियपज्जत्तीपज्जत्तए आणापाणुपज्जत्तीपज्जत्तए भासा-मणपज्जत्तीपज्जत्तए एयासु पंचसु वि पज्जत्तीसु जीवेसु मणूसेसु य तियभंगो।

[१९०४-१] आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति तथा भाषा-मनःपर्याप्ति इन पांच (छह) पर्याप्तियों से पर्याप्त जीवों और मनुष्यों में तीन-तीन भंग होते हैं।

[२] अवसेसा आहारगा, णो अणाहारगा।

[१९०४-२] शेष (समुच्चय जीवों और मनुष्यों के सिवाय पूर्वोक्त पर्याप्तियों से पर्याप्त) जीव आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं।

[३] भासा-मणपज्जत्ती पंचेंदियाणं, अवसेसाणं णत्थि।

[१९०४-३] विशेषता यह है कि भाषा-मनःपर्याप्ति पंचेन्द्रिय जीवों में ही पाई जाती है, अन्य जीवों में नहीं।

१९०५. [१] आहारपज्जत्तीअपज्जत्तए णो आहारए, अणाहारए, एगत्तेण वि पुहत्तेण वि।

[१९०५-१] आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा आहारक नहीं होते, वे अनाहारक होते हैं।

[२] सरीरपज्जत्तीअपज्जत्तए सिय आहारए सिय अणाहारए।

[१९०५-२] शरीरपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव एकत्व की अपेक्षा कदाचित् आहारक, कदाचित् अनाहारक होता है।

[३] उवरिल्लियासु चउसु अपज्जत्तीसु णेरइय-देव-मणूसेसु छब्भंगा, अवसेसाणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१९०५-३] आगे की (अन्तिम) चार अपर्याप्तियों वाले (शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति,

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५. पृ. ६८३-६८४
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. २, पृ. ५१५

श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति एवं भाषा-मन:पर्याप्ति से अपर्याप्तक) नारकों, देवों और मनुष्यों में छह भंग पाये जाते हैं। शेष में समुच्चय जीवों और एकेन्द्रियों को छोड़ कर तीन भंग पाये जाते हैं।

१९०६. भासा-मणअपज्जत्तीए (ज्जत्तएसु) जीवेसु पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु य तियभंगो, णेरइय-देव-मणुएसु छब्भंगा।

[१९०६] भाषा-मन:पर्याप्ति से अपर्याप्त समुच्चय जीवों और पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में (बहुत्व की विवक्षा से) तीन भंग पाये जाते हैं। (पूर्वोक्त पर्याप्ति से अपर्याप्त) नैरयिकों, देवों और मनुष्यों में छह भंग पाये जाते हैं।

१९०७. सव्वपदेसु एगत्त-पुहत्तेणं जीवादीया दंडगा पुच्छाए भाणियव्वा। जस्स जं अत्थि तस्स तं पुच्छिज्जति, जं णत्थि तं ण पुच्छिज्जति जाव भासा-मणपज्जत्तीए अपज्जत्तएसु णेरइय-देव-मणुएसु य छब्भंगा। सेसेसु तियभंगो। दारं १३॥

॥ बीओ उद्देसओ समत्तो ॥

॥ पण्णवणाए भगवतीए अट्ठावीसइमं आहारपयं समत्तं ॥

[१९०७] सभी (१३) पदों में एकत्व और बहुत्व की विवक्षा से जीवादि दण्डकों में (समुच्चय जीव तथा चौवीस दण्डक) के अनुसार पृच्छा करनी चाहिए। जिस दण्डक में जो पद संभव हो, उसी की पृच्छा करनी चाहिए। जो पद जिसमें सम्भव न हो उसकी पृच्छा नहीं करनी चाहिए। (भव्यपद से लेकर) यावत् भाषा-मन:पर्याप्ति से अपर्याप्त नारकों, देवों और मनुष्यों में छह भंगों की वक्तव्यता पर्यन्त तथा नारकों, देवों और मनुष्यों से भिन्न समुच्चय जीवों और पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में तीन भंगों की वक्तव्यतापर्यन्त समझना चाहिए। [तेरहवाँ द्वार]

विवेचन—पर्याप्तिद्वार के आधार पर आहारक-अनाहारकप्ररूपणा—यद्यपि अन्य शास्त्रों में पर्याप्तियाँ छह मानी गई हैं, परन्तु यहाँ भाषापर्याप्ति और मन:पर्याप्ति दोनों का एक में समावेश करके पांच ही पर्याप्तियाँ मानी गई हैं।

आहारादि पांच पर्याप्तियों से पर्याप्त समुच्चय जीवों और मनुष्यों में तीन-तीन भंग पाये जाते हैं, इन दो के सिवाय दूसरे जो पांच पर्याप्तियों से पर्याप्त हैं, वे आहारक होते हैं, अनाहारक नहीं। एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में भाषा-मन:पर्याप्ति नहीं पाई जाती।

आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से अनाहारक होता है, आहारक नहीं, क्योंकि आहारपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव विग्रहगति में ही पाया जाता है। उपपातक्षेत्र में आने पर प्रथम समय में ही वह आहारपर्याप्ति से पर्याप्त हो जाता है। अतएव प्रथम समय में वह आहारक नहीं कहलाता। बहुत्व की विवक्षा में बहुत अनाहारक होते हैं।

शरीरपर्याप्ति से अपर्याप्त जीव कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है। जो विग्रहगति-समापन्न होता है, वह अनाहारक और उपपातक्षेत्र में आ पहुँचता है, वह आहारक होता है।

इन्द्रिय-श्वासोच्छ्वास-भाषा-मनःपर्याप्ति से अपर्याप्त--एकत्व की विवक्षा से कदाचित् आहारक कदाचित् अनाहारक होते हैं। बहुत्व की विवक्षा से अन्तिम तीन या (चार) पर्याप्तियों से अपर्याप्त के विषय में ६ भंग होते हैं—(१) कदाचित् सभी अनाहारक, (२) कदाचित् सभी आहारक, (३) कदाचित् एक आहारक और एक अनाहारक, (४) कदाचित् एक आहारक, बहुत अनाहारक, (५) कदाचित् बहुत आहारक और एक अनाहारक एवं (६) कदाचित् बहुत आहारक और बहुत अनाहारक। नारकों, देवों और मनुष्यों से भिन्न में (एकेन्द्रियों एवं समुच्चय जीवों को छोड़ कर) तीन भंग पूर्ववत् पाये जाते हैं।

शरीर-इन्द्रिय--श्वासोच्छ्वास-पर्याप्तियों से अपर्याप्त के विषय में **एकत्व की विवक्षा**—से एक भंग—बहुत आहारक और बहुत अनाहारक होते हैं। **बहुत्व की अपेक्षा** तीन. भंग सम्भव हैं—(१) समुच्चय जीव और सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रियतिर्यञ्च सदैव बहुत संख्या में पाये जाते हैं, जब एक भी विग्रहगतिसमापन्न नहीं होता है, तब सभी आहारक होते हैं, यह प्रथम भंग, (२) जब एक विग्रहगतिसमापन्न होता है, तब बहुत आहारक एक अनाहारक यह द्वितीय भंग, (३) जब बहुत जीव विग्रहगतिसमापन्न होते हैं, तब बहुत आहारक और बहुत अनाहारक, यह तृतीय भंग है। नारकों, देवों और मनुष्यों में भाषा-मनःपर्याप्ति से अपर्याप्त के विषय में बहुत्व की विवक्षा से ६ भंग होते हैं।[1]

वक्तव्यता का अतिदेश—अन्तिम सूत्र में एकत्व और बहुत्व की विवेक्षा से विभिन्न जीवों के आहारक-अनाहारक सम्बन्धी भंगों का अतिदेश किया गया है।

॥ प्रज्ञापना का अट्ठाईसवाँ पद : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ प्रज्ञापना भगवती का अट्ठाईसवाँ आहारपद समाप्त ॥

□□

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ६८५ से ६८८ तक

एगूणतीसइमं उवओगपयं तीसइमं पासणयापयं च

उनतीसवाँ उपयोगपद और तीसवाँ पश्यत्तापद

प्राथमिक

※ प्रज्ञापनासूत्र के उनतीसवें और तीसवें, उपयोगपद और पश्यत्ता पदों में जीवों के बोधव्यापार एवं ज्ञानव्यापार की चर्चा है।

※ जीव का या आत्मा का मुख्य लक्षण उपयोग है,[1] पश्यत्ता उसी का मुख्य अंग है। परन्तु आत्मा के साथ शरीर बंधा होता है। शरीर के निमित्त से अंगोपांग, इन्द्रियाँ, मन आदि अवयव मिलते हैं। प्रत्येक प्राणी को, फिर चाहे वह एकेन्द्रिय हो अथवा विकलेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय, देव हो, नारक हो, मनुष्य हो या तिर्यञ्च, सभी को अपने-अपने कर्मों के अनुसार शरीरादि अंगोपांग या इन्द्रियाँ आदि मिलते हैं। मूल में सभी प्राणियों की आत्मा ज्ञानमय एवं दर्शनमय है, जैसा कि आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा है—

'जे आया, से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। जेण विजाणइ से आया।'[2]

अर्थात्—'जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। जिससे (पदार्थों को) जाना जाता है, वह आत्मा है।'

※ प्रश्न होता है कि जब सब प्राणियों की आत्मा ज्ञानदर्शनमय (उपयोगमय) है तथा अरूपी है, नित्य है, जैसा कि भगवतीसूत्र में कहा है—

'अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी जीवे सासए अवट्ठिए लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा—दव्वओ जाव गुणओ। दव्वओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं, खेत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते, कालओ—न कयाइ न आसि, न कयावि नत्थि, जाव निच्चे, भावओ पुण अवण्णे अगंधे अरसे अफासे, गुणओ उवओगगुणे।'[3]

यहाँ आत्मा का स्वरूप पांच प्रकार से बताया गया है। द्रव्य से अनंत जीव (आत्मा) द्रव्य हैं, क्षेत्र से लोकप्रमाण है, काल से नित्य है, भाव से वर्णादि से रहित है और गुण से उपयोगगुण वाला है।

अतः समानरूप से सभी आत्माओं का गुण—उपयोग होते हुए भी किसी को कम उपयोग होता है, किसी को अधिक, किसी का ज्ञान त्रिकाल-त्रिलोकव्यापी है और किसी को वर्तमानकालिक तथा एक अंगुल क्षेत्र का भी ज्ञान या दर्शन नहीं होता। ऐसा क्यों?

---

१. उपयोगो लक्षणम्—तत्वार्थसूत्र अ. २ २. आचारांग. श्रु. १, अ. ५, उ. ५, सू. १६५

३. भगवती. श. २, उ. १०, सू. ५ (आ. प्र. समिति)

इसका समाधन है—ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्मों की विचित्रता। जिसके ज्ञान-दर्शन का आवरण जितना अधिक क्षीण होगा, उसका उपयोग उतना ही अधिक होगा, जिसका ज्ञान-दर्शनावरण जितना तीव्र होगा, उसका उपभोग उतना ही मन्द होगा।

※ यही कारण है कि यहाँ विविध जीवों के विविध प्रकार के उपयोगों की तरतमता आदि का निरूपण किया गया है।

※ उपयोग का अर्थ होता है—वस्तु का परिच्छेद-परिज्ञान करने के लिए जीव जिसके द्वारा व्यापृत होता है, अथवा जीव का बोधरूप तत्त्वभूत व्यापार।[1]

※ तीसवाँ पद पश्यत्ता-पासणया है। उपयोग और पश्यत्ता दोनों जीव के बोधरूप व्यापार हैं, मूल में इन दोनों की कोई व्याख्या नहीं मिलती। प्राचीन पद्धति के अनुसार भेद ही इनकी व्याख्या है। आचार्य अभयदेवसूरि ने पश्यत्ता को उपयोगविशेष ही बताया है। किन्तु आगे चल कर स्पष्टीकरण किया है कि जिस बोध में त्रैकालिक अवबोध हो, वह पश्यत्ता है और जिस बोध में वर्तमानकालिक बोध हो, वह उपयोग है। यही इन दोनों में अन्तर है।

※ जिस प्रकार उपयोग के मुख्य दो भेद—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग किये हैं, उसी प्रकार पश्यत्ता के भी साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता, ये दो भेद हैं। किन्तु दोनों के उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार मति-ज्ञान और मति-अज्ञान को साकारपश्यत्ता के भेदों में परिगणित नहीं किया, क्योंकि मतिज्ञान और मत्यज्ञान का विषय वर्तमानकालिक अविनष्ट पदार्थ ही बनता है। इसके अतिरिक्त अनाकारपश्यत्ता में अचक्षुदर्शन का समावेश नहीं किया गया है, इसका समाधान आचार्य अभयदेवसूरि ने यों किया है कि पश्यत्ता प्रकृष्ट ईक्षण है और प्रेक्षण तो केवल चक्षुदर्शन द्वारा ही सम्भव है, अन्य इन्द्रियों द्वारा होने वाले दर्शन में नहीं। अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षु का उपयोग अल्पकालिक होता है और जहाँ अल्पकालिक उपयोग होता है, वहाँ बोधक्रिया में शीघ्रता अधिक होती है, यही पश्यत्ता की प्रकृष्टता में कारण है।[2]

※ आचार्य मलयगिरि ने आचार्य अभयदेवसूरि का अनुसरण किया है। उन्होंने स्पष्टीकरण किया है कि पश्यत्ता शब्द रूढ़ि के कारण साकार और अनाकार बोध का प्रतिपादक है। विशेष में यह समझना चाहिए कि जहाँ दीर्घकालिक उपयोग हो, वहीं त्रैकालिक बोध सम्भव है। मतिज्ञान में दीर्घकाल का उपयोग नहीं है, इस कारण उससे त्रैकालिक बोध नहीं होता। अतः उसे 'पश्यत्ता' में स्थान नहीं दिया गया।

※ उनतीसवें पद में सर्वप्रथम साकारोपयोग और अनाकारोपयोग, यों भेद बताये गये हैं। तत्पश्चात् इन दोनों के क्रमशः आठ और चार भेद किये गये हैं।

※ साकारोपयोग और अनाकारोपयोग तथा साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता इन दोनों का अन्तर निम्नोक्त तालिका से स्पष्ट समझ में आ जाएगा—

---

१. उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेति उपयोगः। बोधरूपो जीवस्य तत्त्वभूतो व्यापारः।
—प्रज्ञापना. मलयवृत्ति अ. रा. को. भा. २, पृ. ८६०

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१४

उपयोग (सू. १९०८-१०)	पश्यत्ता (१९३६-३८)
१ साकारोपयोग	१ साकार-पश्यत्ता
(१) आभिनिबोधिकज्ञान-साकारोपयोग	× × ×
(२) श्रुतज्ञान-साकारोपयोग	(१) श्रुतज्ञान-साकारपश्यत्ता
(३) अवधिज्ञान-साकारोपयोग	(२) अवधिज्ञान-साकारपश्यत्ता
(४) मन:पर्यवज्ञान-साकारोपयोग	(३) मन:पर्यवज्ञान-साकारपश्यत्ता
(५) केवलज्ञान-साकारोपयोग	(४) केवलज्ञान साकारपश्यत्ता
(६) मत्यज्ञानावरण-साकारोपयोग	× × ×
(७) श्रुताज्ञानावरण-साकारोपयोग	(५) श्रुताज्ञान-साकारपश्यत्ता
(८) विभंगज्ञानावरण-साकारोपयोग	(६) विभंगज्ञान-साकारपश्यत्ता
२. अनाकारोपयोग	२. अनाकारपश्यत्ता
(१) चक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग	(१) चक्षुदर्शन-अनाकारपश्यत्ता
(२) अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग	× × ×
(३) अवधिदर्शन-अनाकारोपयोग	(२) अवधिदर्शन-अनाकारपश्यत्ता
(४) केवलदर्शन-अनाकारोपयोग	(३) केवलदर्शन-अनाकारपश्यत्ता[1]

* साकारोपयोग एवं अनाकारोपयोग का लक्षण आचार्य मलयगिरि ने इस प्रकार किया है—सचेतन या अचेतन वस्तु में उपयोग लगाता हुआ आत्मा जब वस्तु का पर्यायसहित बोध करता है, तब वह **उपयोग साकार** कहलाता है, तथा वस्तु का सामान्यरूप से ज्ञान होना **अनाकारोपयोग** है।[2]

* साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता में भी साकार और अनाकार शब्दों का अर्थ तो उपर्युक्त ही है, किन्तु पश्यत्ता में वस्तु का त्रैकालिक बोध होता है, जबकि उपयोग में वर्तमानकालिक ही बोध होता है।

* इसके पश्चात् उनतीसवें पद में नारक से वैमानिकपर्यन्त चौबीस दण्डकों में से किस-किस जीव में कितने उपयोग पाये जाते हैं ? इसका प्ररूपण किया गया है।

* तीसवें पश्यत्ता पद में इसके भेद-प्रभेदों का प्रतिपादन करके नारक से लेकर वैमानिक पर्यन्त जीवों में से किसमें कितने प्रकार की पश्यत्ता है ? इसका प्ररूपण किया गया है।

* उनतीसवें पद में पूर्वोक्त प्ररूपण के अनन्तर चौबीस दण्डकवर्ती जीवों के विषय में प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत की गई है कि कौनसा जीव साकोरोपयुक्त है या अनाकारोपयुक्त ? इसी प्रकार तीसवें पद में प्रश्नोत्तरी है कि जीव साकार पश्यत्तावान् है या अनाकार पश्यत्तावान् ?[3]

---

१. पण्णवणासुत्तं भा. २ (परिशिष्ट-प्रस्तावनात्मक), पृ. १३८

२. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. २, पृ. ८६०

३. पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४०८-९

※ तीसवें पद में पूर्वोक्त वक्तव्यता के पश्चात् केवलज्ञानी द्वारा रत्नप्रभा आदि का ज्ञान और दर्शन (अर्थात्—साकारोपयोग तथा निराकारोपयोग) दोनों समकाल में होते हैं या क्रमशः होते हैं ? इस प्रकार के दो प्रश्नों का समाधान किया गया है तथा ज्ञान और दर्शन का क्रमशः होना स्वीकार किया है । जिस समय अनाकारोपयोग (दर्शन) होता है, उस समय साकारोपयोग (ज्ञान) नहीं होता तथा जिस समय साकारोपयोग होता है, उस समय अनाकारोपयोग नहीं होता, इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है ।[1] □□

१. (क) पण्णवणासुत्तं, भा. १ (मू. पा. टि.), पृ. ४१२
(ख) वही, भा. २ (परिशिष्ट), पृ. १३८

एगूणतीसइमं : उवओगपयं

उनतीसवाँ उपयोगपद

जीव आदि में उपयोग के भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा -

१९०८. कतिविहे णं भंते ! उवओगे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे उवओगे पन्नत्ते । तं जहा—सागारोवओगे य अणागारोवओगे य ।

[१९०८ प्र.] भगवन् ! उपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९०८ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है । यथा—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग ।

१९०९. सागारोवओगे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा—आभिणिबोहियणाणसागारोवओगे १ सुयणाणसागारोवओगे २ ओहिणाणसागारोवओगे ३ मणपज्जवणाणसागारोवओगे ४ केवलणाणसागारोवओगे ५ मतिअण्णाणसागारोवओगे ६ सुयअण्णाणसागारोवओगे ७ विभंगणाणसागारोवओगे ८ ।

[१९०९ प्र.] भगवन् ! साकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९०९ उ.] गौतम ! वह आठ प्रकार का कहा गया है । यथा—(१) आभिनिवोधिक-ज्ञान-साकारोपयोग, (२) श्रुतज्ञान-साकारोपयोग, (३) अवधिज्ञान-साकारोपयोग, (४) मनःपर्यवज्ञान-साकारोपयोग, (५) केवलज्ञान-साकारोपयोग, (६) मति-अज्ञान-साकारोपयोग, (७) श्रुत-अज्ञान-साकारोपयोग और (८) विभंगज्ञान-साकारोपयोग ।

१९१०. अणागारोवओगे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—चक्खुदंसणअणागारोवओगे १ अचक्खुदंसणअणागारोवओगे २ ओहिदंसणअणागारोवओगे ३ केवलदंसणअणागारोवओगे ४ ।

[१९१० प्र.] भगवन् ! अनाकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१० उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है । यथा—चक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग, (२) अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग, (३) अवधिदर्शन-अनाकारोपयोग, (४) केवलदर्शन-अनाकारोपयोग ।

१९११. एवं जीवाणं पि ।

[१९११] इसी प्रकार समुच्चय जीवों का भी (साकारोपयोग और अनाकारोपयोग क्रमशः आठ और चार प्रकार का है ।)

१९१२. णेरइयाणं भंते ! कतिविहे उवओगे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते । तं जहा—सागारोवओगे य अणागारोवओगे य ।

[१९१२ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों का उपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१२ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग।

१९१३. णेरइयाणं भंते ! सागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—मतिणाणसागारोवओगे १ सुयणाणसागारोवओगे २ ओहिणाणसागारोवओगे ३ मतिअण्णाणसागारोवओगे ४ सुयअण्णाणसागारोवओगे ५ विभंगणाणसागारोवओगे ६।

[१९१३ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों का साकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१३ उ.] गौतम ! वह छह प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) मतिज्ञान-साकारोपयोग, (२) श्रुतज्ञान-साकारोपयोग, (३) अवधिज्ञान-साकारोपयोग, (४) मति-अज्ञान-साकारोपयोग, (५) श्रुत-अज्ञान-साकारोपयोग और (६) विभंगज्ञान-साकारोपयोग।

१९१४. णेरइयाणं भंते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—चक्खुदंसणअणागारोवओगे १ अचक्खुदंसणअणागारोवओगे २ ओहिदंसणअणागारोवओगे ३ य।

[१९१४ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों का अनाकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१४ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) चक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग, (२) अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग और (३) अवधिदर्शन-अनाकारोपयोग।

१९१५. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[१९१५] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) यावत् स्तनितकुमारों तक (के साकारोपयोग और अनाकारोपयोग का कथन करना चाहिए।)

१९१६. पुढविक्काइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते। तं जहा—सागारोवओगे य अणागारोवओगे य।

[१९१६ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के उपयोग-सम्बन्धी प्रश्न ?

[१९१६ उ.] गौतम ! उनका उपयोग दो प्रकार का कहा गया है। यथा—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग।

१९१७. पुढविक्काइयाणं भंते ! सागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—मतिअण्णाणे सुतअण्णाणे।

[१९१७ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों का साकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९१७ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान।

१९१८. पुढविक्काइयाणं भंते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगे अचक्खुदंसणाणागारोवओगे पण्णत्ते ।

[१९१८ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों का अनाकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ।

[१९१८ उ.] गौतम ! उनका एकमात्र अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग कहा गया है ।

१९१९. एवं जाव वणप्फइकाइयाणं ।

[१९१९] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीवों तक (के विषय में जानना चाहिए ।)

१९२०. बेइंदियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते । तं जहा—सागारे अणागारे य ।

[१९२० प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों के उपयोग के विषय में पृच्छा ?

[१९२० उ.] गौतम ! उनका उपयोग दो प्रकार का कहा है । यथा—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग ।

१९२१. बेइंदियाणं भंते ! सागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—आभिणिबोहियणाणसागारोवओगे १ सुयणाणसागारोवओगे २ मतिअण्णाणसागारोवओगे ३ सुतअण्णाणसागारोवओगे ४ ।

[१९२१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों का साकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९२१ उ.] गौतम ! उनका उपयोग चार प्रकार का कहा गया है । यथा—(१) आभिनिबोधिकज्ञान-साकारोपयोग, (२) श्रुतज्ञान-साकारोपयोग, (३) मति-अज्ञान-साकारोपयोग और (४) श्रुत-अज्ञान-साकारोपयोग ।

१९२२. बेइंदियाणं भंते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! एगे अचक्खुदंसणअणागारोवओगे ।

[१९२२ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों का अनाकारोपयोग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९२२ उ.] गौतम ! उनका एक ही अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग है ।

१९२३. एवं तेइंदियाण वि ।

[१९२३] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय जीवों (के साकारोपयोग और अनाकारोपयोग) का (कथन करना चाहिए ।)

१९२४. चउरिंदियाण वि एवं चेव । णवरं अणागारोवओगे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—चक्खुदंसणअणागारोवओगे य अचक्खुदंसणअणागारोवओगे य ।

[१९२४] चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए । किन्तु उनका अनाकारोपयोग दो प्रकार का कहा है । यथा—चक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग और अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग ।

१९२५. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जहा णेरइयाणं (सु. १९१२-१४)।

[१९२५] पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिक जीवों (के साकारोपयोग तथा अनाकारोपयोग) का कथन (सू. १९१२-१४ में उक्त) नैरयिकों के समान जानना चाहिए।

१९२६. मणुस्साणं जहा ओहिए उवओगे भणियं (सु. १९०८-१०) तहेव भाणियव्वं।

[१९२६] मनुष्यों का उपयोग (सू. १९०८-१० में उक्त) समुच्चय (औधिक) उपयोग के समान कहना चाहिए।

१९२७. वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणियाणं जहा णेरइयाणं (सु. १९१२-१४)।

[१९२७] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के साकारोपयोग-अनाकारोपयोग-सम्बन्धी कथन (सू. १९१२-१४ में उक्त) नैरयिकों के समान (जानना चाहिए।)

विवेचन—उपयोग : स्वरूप और प्रकार—जीव के द्वारा वस्तु के परिच्छेदज्ञान के लिए जिसका उपयोजन—व्यापार किया जाता है, उसे उपयोग कहते हैं। वस्तुतः उपयोग जीव का बोधरूप धर्म या व्यापार है। इसके दो भेद हैं—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग। नियत पदार्थ को अथवा पदार्थ के विशेष धर्म को ग्रहण करना आकार है। जो आकार-सहित हो, वह साकार है। अर्थात्—विशेषग्राही ज्ञान को साकारोपयोग कहते हैं। आशय यह है कि आत्मा जब सचेतन या अचेतन वस्तु में उपयोग लगाता हुआ पर्यायसहित वस्तु को ग्रहण करता है, तब उसका उपयोग साकारोपयोग कहलाता है। काल की दृष्टि से छद्मस्थों का उपयोग अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है और केवलियों का एक समय तक ही रहता है। जिस उपयोग में पूर्वोक्तरूप आकार विद्यमान न हो, वह अनाकारोपयोग कहलाता है। वस्तु का सामान्यरूप से परिच्छेद करना—सत्तामात्र को ही जानना अनाकारोपयोग है। अनाकारोपयोग भी छद्मस्थों का अन्तर्मुहूर्त्त-कालिक है। परन्तु अनाकारोपयोग के काल से साकारोपयोग का काल संख्यातगुणा अधिक जानना चाहिए, क्योंकि विशेष का ग्राहक होने से उसमें अधिक समय लगता है। केवलियों के अनाकारोपयोग का काल तो एक ही समय का होता है।[1]

पृष्ठ १५६ पर दी तालिका से जीवों में साकारोपयोग-अनाकारोपयोग की जानकारी सुगमता से हो जाएगी।

जीव आदि में साकारोपयुक्तता-अनाकारोपयुक्तता-निरूपण

१९२८. जीवा णं भंते! किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता?

गोयमा! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति जीवा सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि?

गोयमा! जे णं जीवा आभिणिबोहियणाण-सुतणाण-ओहिणाण-मण-केवल-मतिअण्णाण-सुतअण्णाण-विभंगणाणोवउत्ता ते णं जीवा सागारोवउत्ता, जे णं जीवा चक्खुदंसण-अचक्खुदंसण-ओहिदंसण-केवलदंसणोवउत्ता ते णं जीवा अणागारोवउत्ता, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति जीवा सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. को. भा. २, ८६०-६२

जीवों के नाम	साकारोपयोग कितने ?	अनाकारोपयोग कितने ?	कारण
समुच्चय जीव मनुष्य	आठ ही प्रकार का साकारोपयोग	चारों ही प्रकार का अनाकारोपयोग	क्योंकि इनमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव पाये जाते हैं, इस कारण आठों साकारो० व चारों अनाकारोपयोग
नैरयिक	इन सब में ६ प्रकार के—	इन सब में तीन प्रकार के—	नारक, तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय, भवनपति,
दस प्रकार के भवनपति	मतिज्ञान. श्रुतज्ञान. अवधिज्ञान.	चक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग	वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये
पंचेन्द्रियतिर्यञ्च	मत्यज्ञान; श्रुताज्ञान; विभंगज्ञान.	अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग	सम्यग्दृष्टि भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि भी।
वाणव्यन्तर देव	,, ,, ,,	अवधिदर्शन-अनाकारोपयोग	सम्यग्दृष्टि में तीन ज्ञान, मिथ्यादृष्टि में तीन
ज्योतिष्क देव	,, ,, ,,	,, ,,	अज्ञान पाये जाते हैं तथा दोनों में तीन
वैमानिक देव	,, ,, ,,	,, ,,	प्रकार के अनाकारोपयोग पाये जाते है।
पृथ्वीकायिकादि पांच स्थावर एकेन्द्रिय जीव	दो प्रकार का—मति-अज्ञान. श्रुत-अज्ञान-साकारोपयोग	एक प्रकार का— अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग	सम्यग्दर्शनरहित होने से दो प्रकार के अज्ञान तथा चक्षुरिन्द्रियरहित होने से एक अचक्षुदर्शन-अनाकारोपयोग होता है।
द्वीन्द्रिय जीव	चार प्रकार का—मतिज्ञान.	एक ही प्रकार का—अचक्षुदर्शन	तीनों विकलेन्द्रिय जीवों को मतिज्ञान और
त्रीन्द्रिय जीव	श्रुतज्ञान तथा मत्यज्ञान	,, ,, ,,	श्रुतज्ञान सास्वादनभाव को प्राप्त होते हुए
चतुरिन्द्रिय जीव	श्रुत-अज्ञान—साकारोपयोग	दो प्रकार का—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन	अपर्याप्तावस्था में होते हैं, इसलिए दो ज्ञान भी होते हैं। चतुरिन्द्रिय जीव के चक्षुरिन्द्रिय होने से चक्षुदर्शन भी पाया जाता है।[1]

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति अभि. भा. २, पृ. ८६६-६७
(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनीटीका) भा. ५, पृ. ७०७ से ७१३

[१९२८ प्र.] भगवन् ! जीव साकारोपयुक्त होते हैं या अनाकारोपयुक्त ?

[१९२८ उ.] गौतम ! जीव साकारोपयोग से उपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयोग से उपयुक्त भी।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि जीव साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं ?

[उ.] गौतम ! जो जीव आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान एवं विभंगज्ञान उपयोग वाले होते हैं, वे साकारोपयुक्त कहे जाते हैं और जो जीव चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के उपयोग से युक्त होते हैं, वे अनाकारोपयुक्त कहे जाते हैं। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि जीव साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी।

१९२९. णेरइया णं भंते ! किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! णेरइया सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति ?

गोयमा ! जे णं णेरइया आभिणिबोहियणाण-सुत-ओहिणाण-मतिअण्णाण-सुतअण्णाण-विभंगणाणोवउत्ता ते णं णेरइया सागारोवउत्ता, जे णं णेरइया चक्खुदंसण-अचक्खुदंसण-ओहिदंसणोवउत्ता ते णं णेरइया अणागारोवउत्ता, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति जाव सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि।

[१९२९ प्र.] भगवन् ! नैरयिक साकारोपयुक्त होते हैं या अनाकारोपयुक्त ?

[१९२९ उ.] गौतम ! नैरयिक साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि नैरयिक साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं ?

[उ.] गौतम ! जो नैरयिक आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान के उपयोग से युक्त होते हैं, वे साकारोपयुक्त होते हैं और जो नैरयिक चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन के उपयोग से युक्त होते हैं, वे अनाकारोपयुक्त होते हैं। इस कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि नैरयिक साकारोयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं।

१९३०. एवं जाव थणियकुमारा।

[१९३०] इसी प्रकार का कथन यावत् स्तनितकुमार तक के विषय में करना चाहिए।

१९३१. पुढविक्काइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! तहेव जाव जे णं पुढविकाइया मतिअण्णाण-सुतअण्णाणोवउत्ता ते णं पुढविकाइया सागारोवउत्ता, जे णं पुढविकाइया अचक्खुदंसणोवउत्ता ते णं पुढविक्काइया अणागारोवउत्ता, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति जाव वणप्फइकाइया।

[१९३१ प्र.] पृथ्वीकायिकों के विषय में इसी प्रकार की पृच्छा ?

[१९३१ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (नारकादि के समान) जो पृथ्वीकायिक जीव मत्यज्ञान और श्रुतअज्ञान के उपयोग वाले हैं, वे साकारोपयुक्त होते हैं तथा जो पृथ्वीकायिक जीव अचक्षुदर्शन के उपयोग वाले होते हैं, वे अनाकारोपयुक्त होते हैं। इस कारण से हे गौतम ! यों कहा जाता है कि पृथ्वीकायिक जीव साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त कारणों से अप्कायिक, वायुकायिक, तेजस्कायिक और वनस्पतिकायिक साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं।

१९३२. [१] बेइंदियाणं अट्ठसहिया तहेव पुच्छा।

गोयमा ! जाव जे णं बेइंदिया आभिणिबोहियणाण-सुतणाण-मतिअण्णाण-सुयअण्णाणोवउत्ता ते णं बेइंदिया सागारोवउत्ता, जे णं बेइंदिया अचक्खुदंसणोवउत्ता ते णं बेइंदिया अणागारोवउत्ता, सेतेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति०।

[१९३२ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों की (उपयोगयुक्तता के विषय में पूर्ववत्) कारण-सहित पृच्छा ?

[१९३२ उ.] गौतम ! यावत् जो द्वीन्द्रिय आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, मत्यज्ञान और श्रुत-अज्ञान के उपयोग वाले होते हैं, वे साकारोपयुक्त होते हैं और जो द्वीन्द्रिय अचक्षुदर्शन के उपयोग से युक्त होते हैं, वे अनाकारोपयुक्त होते हैं। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि द्वीन्द्रिय जीव साकारोपयुक्त भी होते हैं और अनाकारोपयुक्त भी होते हैं।

[२] एवं जाव चउरिंदिया। णवरं चक्खुदंसणं अब्भइयं चउरिंदियाणं।

[१९३२-२] इसी प्रकार (त्रीन्द्रिय एवं) यावत् चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में समझना चाहिए; विशेष यह है कि चतुरिन्द्रिय जीवों में चक्षुदर्शन अधिक कहना चाहिए।

१९३३. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइया (सु. १९२९)।

[१९३३] पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकों का (कथन सू. १९२९ में उक्त) नैरयिकों के समान (जानना चाहिए।)

१९३४. मणूसा जहा जीवा (सु. १९२८)।

[१९३४] मनुष्यों के विषय में वक्तव्यता (सू. १९२८ में उक्त) समुच्चय जीवों के समान (जानना चाहिए।)

१९३५. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा णेरइया (सु. १९२९)।

॥ पण्णवणाए भगवतीए एगूणतीसइमं उवओगपयं समत्तं ॥

[१९३५] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में नैरयिकों के समान (कथन करना चाहिए।)

विवेचन—प्रस्तुत (सू. १९१८ से १९३५ तक) आठ सूत्रों में समुच्चय जीवों और चौबीस-दण्डकवर्ती जीवों में साकारोपयोगयुक्तता एवं अनाकारोपयोगयुक्तता का कारणपूर्वक कथन किया गया है। कथन स्पष्ट है।

॥ प्रज्ञापना भगवती का उनतीसवाँ उपयोगपद समाप्त ॥

□□

तीसइमं पासणयापयं

तीसवाँ पश्यत्तापद

जीव एवं चौवीस दण्डकों में पश्यत्ता के भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा

१९३६. कतिविहा णं भंते ! पासणया[1] पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पासणया पण्णत्ता । तं जहा—सागारपासणया अणागारपासणया य ।

[१९३६ प्र.] भगवन् ! पश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९३६ उ.] गौतम ! पश्यत्ता दो प्रकार की कही गई है । यथा—साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता ।

१९३७. सागारपासणया णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! छव्विहा पण्णत्ता । तं जहा—सुयणाणसागारपासणया १ ओहिणाणसागारपासणया २ मणपज्जवणाणसागारपासणया ३ केवलणाणसागारपासणया ४ सुयअन्नाणसागारपासणया ५ विभंगनाणसागारपासणया ६ ।

[१९३७ प्र.] भगवन् ! साकारपश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९३७ उ.] गौतम ! वह छह प्रकार की कही गई है । यथा—(१) श्रुतज्ञानसाकार-पश्यत्ता, (२) अवधिज्ञानसाकारपश्यत्ता, (३) मनःपर्यवज्ञानसाकारपश्यत्ता, (४) केवलज्ञानसाकार-पश्यत्ता, (५) श्रुत-अज्ञानसाकारपश्यत्ता और (६) विभंगज्ञानसाकारपश्यत्ता ।

१९३८. अणागारपासणया णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—चक्खुदंसणअणागारपासणया १ ओहिदंसणअणागारपासणया २ केवलदंसणअणागारपासणया ३ ।

[१९३८ प्र.] भगवन् ! अनाकारपश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९३८ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार की कही गई है । यथा—(१) चक्षुदर्शनअनाकार-पश्यत्ता, (२) अवधिदर्शनअनाकारपश्यत्ता और (३) केवलदर्शनअनाकारपश्यत्ता ।

१९३९. एवं जीवाणं पि ।

[१९३९] इसी प्रकार (छह प्रकार की साकारपश्यत्ता और तीन प्रकार की अनाकार-पश्यत्ता) समुच्चय जीवों में (कहनी चाहिए ।)

---

१. 'पासणया' शब्द का संस्कृतरूपान्तर 'पश्यनका—पश्यना' भी होता है, वह सहसा यह भ्रम खड़ा कर देता है, कि कहीं यह वर्तमान में प्रचारित बौद्धधर्म-संदिष्ट 'विपश्यना' तो नहीं है ? परन्तु आगे के वर्णन को देखते हुए यह भ्रम मिट जाता है । —सं.

१६४०. णेरइयाणं भंते ! कतिविहा पासणया पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—सागारपासणया अणागारपासणया य।

[१६४० प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीवों की पश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१६४० उ.] गौतम ! दो प्रकार की कही गई है। यथा— साकारपश्यत्ता और अनाकार-पश्यत्ता।

१६४१. णेरइयाणं भंते ! सागारपासणया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा--सुतणाणसागारपासणया १ ओहिणाणसागार-पासणया २ सुयअण्णाणसागारपासणया ३ विभंगणाणसागारपासणया ४।

[१६४१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की साकारपश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१६४१ उ.] गौतम ! उनकी पश्यत्ता चार प्रकार की कही गई है। यथा—(१) श्रुतज्ञान-साकारपश्यत्ता, (२) अवधिज्ञानसाकारपश्यत्ता, (३) श्रुत-अज्ञानसाकारपश्यत्ता और (४) विभंग-ज्ञानसाकारपश्यत्ता।

१६४२. णेरइयाणं भंते ! अणागारपासणया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—चक्खुदंसणअणागारपासणया य ओहिदंसणअणागार-पासणया य।

[१६४२ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की अनाकारपश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१६४२ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार की कही गई है। यथा—चक्षुदर्शन-अनाकारपश्यत्ता और अवधिदर्शन-अनाकारपश्यत्ता।

१६४३ एवं जाव थणियकुमारा।

[१६४३] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक (की पश्यत्ता जाननी चाहिए।)

१६४४. पुढविक्काइयाणं भंते ! कतिविहा पासणया पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगा सागारपासणया।

[१६४४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की पश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१६४४ उ.] गौतम ! उनमें एक साकारपश्यत्ता कही है।

१६४५. पुढविक्काइयाणं भंते ! सागारपासणता कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगा सुयअण्णाणसागारपासणया पण्णत्ता ?

[१६४५ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों की साकारपश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१६४५ उ.] गौतम ! उनमें एकमात्र श्रुत-अज्ञानसाकारपश्यत्ता कही गई है।

१६४६. एवं जाव वणप्फइकाइयाणं।

[१६४६] इसी प्रकार (अप्कायिकों से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिकों तक (की पश्यत्ता जाननी चाहिए।)

१६४७. बेइंदियाणं भंते ! कतिविहा पासणया पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगा सागारपासणता पण्णत्ता।

[१९४७ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों की कितने प्रकार की पश्यत्ता कही गई है ?

[१६४७ उ.] गौतम ! उनमें एकमात्र साकारपश्यत्ता कही गई है।

१६४८. बेइंदियाणं भंते ! सागारपासणया कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—सुतणाणसागारपासणता य सुयअण्णाणसागार-पासणता य।

[१६४८ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों की साकारपश्यत्ता कितने प्रकार की कही है ?

[१६४८ उ.] गौतम ! दो प्रकार की कही गई है। यथा—श्रुतज्ञानसाकारपश्यत्ता और श्रुत-अज्ञानसाकारपश्यत्ता।

१६४६. एवं तेइंदियाण वि।

[१६४६] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय जीवों की (वक्तव्यता) भी (जाननी चाहिए।)

१६५०. चउरिंदियाणं पुच्छा।

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—सागारपासणता य अणागारपासणता य। सागारपासणता जहा बेइंदियाणं (सु. १६४७-४८)।

[१६५० प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवों की पश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१९५० उ.] गौतम ! उनकी पश्यत्ता दो प्रकार की कही गई है। यथा—साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता। इनकी साकारपश्यत्ता द्वीन्द्रियों की (सू. १६४७-४८ में कहे अनुसार) साकारपश्यत्ता के समान जाननी चाहिए।

१६५१. चउरिंदियाणं भंते ! अणागारपासणता कतिविहा पण्णत्ता ?

गोयमा ! एगा चक्खुदंसणअणागारपासणया पण्णत्ता।

[१६५१ प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवों की अनाकारपश्यत्ता कितने प्रकार की कही गई है ?

[१६५१ उ.] गौतम ! उनकी एकमात्र चक्षुदर्शन-अनाकारपश्यत्ता कही है।

१६५२. मणूसाणं जहा जीवाणं (सु. १६३६)।

[१९५२] मनुष्यों (की साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता) का कथन (सू. १९३९ में उक्त) समुच्चय जीवों के समान है।

१६५३. सेसा जहा णेरइया (सु. १६४०-४२) जाव वेमाणिया।

[१६५३] वैमानिक पर्यन्त शेष समस्त दण्डकों की पश्यत्ता-सम्बन्धी वक्तव्यता (सू. १९४०-४२ में उक्त] नैरयिकों के समान कहनी चाहिए।

विवेचन—उपयोग और पश्यत्ता में अन्तर—मूलपाठ में दोनों में कोई अन्तर नहीं बताया गया। व्याकरण की दृष्टि से पश्यत्ता का अर्थ है—देखने का भाव। उपयोग शब्द के समान पश्यत्ता के भी दो भेद किये गए हैं। आचार्य अभयदेव ने थोड़ा-सा स्पष्टीकरण किया है कि यों तो पश्यत्ता एक उपयोग-विशेष ही है, किन्तु उपयोग और पश्यत्ता में थोड़ा-सा अन्तर है। जिस बोध में केवल त्रैकालिक (दीर्घकालिक) अवबोध हो, वह 'पश्यत्ता' है तथा जिस बोध में केवल वर्तमानकालिक बोध हो, वह उपयोग है। यही कारण है कि साकारपश्यत्ता के भेदों में मतिज्ञान और मत्यज्ञान, इन दोनों को नहीं लिया गया है, क्योंकि इन दोनों का विषय वर्तमानकालिक अविनष्ट पदार्थ ही होता है तथा अनाकारपश्यत्ता में अचक्षुदर्शन का समावेश इसलिए नहीं किया गया है कि पश्यत्ता एक प्रकार का प्रकृष्ट ईक्षण है, जो चक्षुरिन्द्रिय से ही सम्भव है तथा दूसरी इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग अल्पकालिक और द्रुततर होता है, यही पश्यत्ता की प्रेक्षण-प्रकृष्टता में कारण है। अतः अनाकारपश्यत्ता का लक्षण है—जिसमें विशिष्ट परिस्फुटरूप देखा जाए। यह लक्षण चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन में ही घटित हो सकता है। वस्तुतः प्राचीनकालिक व्याख्याकारों के अनुसार पश्यत्ता और उपयोग के भेदों में अन्तर ही इनकी व्याख्या को ध्वनित कर देते हैं।[1]

साकारपश्यत्ता का प्रमाण—आभिनिबोधिकज्ञान उसे कहते हैं, जो अवग्रहादिरूप हो, इन्द्रिय तथा मन के निमित्त से उत्पन्न हो तथा वर्तमानकालिक वस्तु का ग्राहक हो। इस दृष्टि से मतिज्ञान और मत्यज्ञान दोनों में साकारपश्यत्ता नहीं है, जबकि श्रुतज्ञानादि छहों अतीत और अनागत विषय के ग्राहक होने से साकारपश्यत्ता शब्द के वाच्य होते हैं। श्रुतज्ञान त्रिकालविषयक होता है। अवधिज्ञान भी असंख्यात अतीत और अनागतकालिक उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों को जानने के कारण त्रिकाल-विषयक है। मनःपर्यवज्ञान भी पल्योपम के असंख्यात भागप्रमाण अतीत-अनागतकाल का परिच्छेदक होने से त्रिकालविषयक है। केवलज्ञान की त्रिकालविषयता तो प्रसिद्ध ही है। श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान भी त्रिकाल विषयक होते हैं, क्योंकि ये दोनों यथायोग्य अतीत और अनागत भावों के परिच्छेदक होते हैं। अतएव पूर्वोक्त छहों ही साकारपश्यत्ता वाले हो सकते हैं।[2]

जीव और चौवीस दण्डकों में साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता का निरूपण

१९५४. जीवा णं भंते ! किं सागारपस्सी अणागारपस्सी ?

गोयमा ! जीवा सागारपस्सी वि अणागारपस्सी वि।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति जीवा सागारपस्सी वि अणागारपस्सी वि ?

गोयमा ! जे णं जीवा सुयणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी सुयअण्णाणी विभंगणाणी ते णं जीवा सागारपस्सी, जे णं जीवा चक्खुदंसणी ओहिदंसणी केवलदंसणी ते णं जीवा अणागारपस्सी, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति जीवा सागारपस्सी वि अणागारपस्सी वि।

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५३०

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ७२९ से ७३१

(ग) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७१४

२. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ७३१-७३२

[१९५४ प्र.] भगवन् ! जीव साकारपश्यत्ता वाले होते हैं या अनाकारपश्यत्ता वाले ?

[१९५४ उ.] गौतम ! जीव साकारपश्यत्ता वाले भी होते हैं और अनाकारपश्यत्ता वाले भी होते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि जीव साकारपश्यत्ता वाले भी होते हैं और अनाकारपश्यत्ता वाले भी होते हैं ?

[उ.] गौतम ! जो जीव श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी होते हैं, वे साकारपश्यत्ता वाले होते हैं और जो जीव चक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी और केवलदर्शनी होते हैं, वे अनाकारपश्यत्ता वाले होते हैं । इस कारण से हे गौतम ! यों कहा जाता है कि जीव साकारपश्यत्ता वाले भी होते हैं और अनाकारपश्यत्ता वाले भी होते हैं ।

१९५५. णेरइया णं भंते ! किं सागारपस्सी अणागारपस्सी ?

गोयमा ! एवं चेव । णवरं सागारपासणताए मणपज्जवणाणी केवलणाणी ण वुच्चंति, अणागारपासणताए केवलदंसणं णत्थि ।

[१९५५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं या अनगारपश्यत्ता वाले हैं ?

[१९५५ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (दोनों प्रकार के हैं ।) परन्तु इनमें साकारपश्यत्ता के रूप में (नैरयिकों में) मनःपर्यायज्ञानी और केवलज्ञानी नहीं कहना चाहिए तथा अनाकारपश्यत्ता में केवलदर्शन नहीं है ।

१९५६. एवं जाव थणियकुमारा ।

[१९५६] इसी प्रकार (की वक्तव्यता) यावत् स्तनितकुमारों तक (कहनी चाहिए) ।

१९५७ [१] पुढविक्काइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! पुढविक्काइया सागारपस्सी, णो अणागारपस्सी ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति ?

गोयमा ! पुढविक्काइयाणं एगा सुयअण्णाणसागारपासणया पण्णत्ता, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति० ।

[१९५७-१ प्र.] पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न ?

[१९५७-१ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं, अनाकारपश्यत्ता वाले नहीं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि 'पृथ्वीकायिक जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं, अनाकारपश्यत्ता वाले नहीं ?

[उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिकों में एकमात्र श्रुत-अज्ञान (होने से) साकारपश्यत्ता कही है । इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि पृथ्वीकायिक साकारपश्यत्ता वाले हैं, अनाकारपश्यत्ता वाले नहीं ।

[२] एवं जाव वणस्सतिकाइया।

[१९५७-२] इसी प्रकार (अप्कायिक से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिकों तक के (सम्बन्ध में कहना चाहिए।)

१९५८. बेइंदियाणं पुच्छा।

गोयमा ! सागारपस्सी, णो अणागारपस्सी।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति ?

गोयमा ! बेइंदियाणं दुविहा सागारपासणया पण्णत्ता। तं जहा—सुयणाणसागारपासणया य सुयअण्णाणसागारपासणया य, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति०।

[१९५८ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं या अनाकारपश्यत्ता वाले हैं ?
[१९५८ उ.] गौतम ! वे साकारपश्यत्ता वाले हैं, अनाकारपश्यत्ता वाले नहीं।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि द्वीन्द्रिय साकारपश्यत्ता वाले हैं, अनाकार-पश्यत्ता वाले नहीं ?

[उ.] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीवों की दो प्रकार की पश्यत्ता कही है। यथा—श्रुतज्ञानसाकार-पश्यत्ता और श्रुत-अज्ञानसाकारपश्यत्ता। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि द्वीन्द्रिय साकारपश्यत्ता वाले हैं, अनाकारपश्यत्ता वाले नहीं।

१९५९. एवं तेइंदियाण वि।

[१९५९] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय जीवों के विषय में समझना चाहिए।

१९६०. चउरिंदियाणं पुच्छा।

गोयमा ! चउरिंदिया सागारपस्सी वि अणागारपस्सी वि।

से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! जे णं चउरिंदिया सुयणाणी सुतअण्णाणी ते णं चउरिंदिया सागारपस्सी, जे णं चउरिंदिया चक्खुदंसणी ते णं चउरिंदिया अणागारपस्सी, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति०।

[१९६० प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं या अनाकारपश्यत्ता वाले हैं ?

[१९६० उ.] गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं और अनाकारपश्यत्ता वाले भी हैं।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि चतुरिन्द्रिय जीव साकारपश्यत्ता वाले हैं और अनाकारपश्यत्ता वाले भी हैं ?

[उ.] गौतम ! जो चतुरिन्द्रिय जीव श्रुत-ज्ञानी और श्रुतअज्ञानी हैं, वे साकारपश्यत्ता वाले

हैं और जो चतुरिन्द्रिय चक्षुदर्शनी हैं, वे अनाकारपश्यता वाले हैं। इस हेतु से हे गौतम ! यों कहा जाता है कि चतुरिन्द्रिय साकारपश्यत्ता वाले भी हैं और अनाकारपश्यत्ता वाले भी हैं।

१९६१. मणूसा जहा जीवा (सु. १९५४)।

[१९६१] मनुष्यों से सम्बन्धित कथन (सू. १९५४ में उक्त) समुच्चय जीवों के समान है।

१९६२. अवसेसा जहा णेरइया (सु. १९५५) जाव वेमाणिया।

[१९६२] अवशिष्ट सभी (वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क तथा) यावत् वैमानिक तक के विषय में (सू. १९५५ में उक्त) नैरयिकों के समान (जानना चाहिए।)

विवेचन—किन-किन जीवों में साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता होती है और क्यों ?— (१) समुच्चय जीवों में जो जीव श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी या केवलज्ञानी हैं अथवा श्रुताज्ञानी या विभंगज्ञानी हैं, वे साकारपश्यत्ता वाले हैं, क्योंकि उनका ज्ञान साकारपश्यत्ता से युक्त है। जो जीव चक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी तथा केवलदर्शनी हैं, वे अनाकारपश्यत्ता वाले हैं, क्योंकि उनका बोध अनाकारपश्यत्ता है। मनुष्यों में भी समुच्चय जीवों के समान साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता दोनों हैं। नारक भी साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता वाले हैं, किन्तु नारक मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान रूप साकारपश्यत्ता से युक्त नहीं होते, तथैव केवलदर्शन रूप अनाकारपश्यत्ता वाले भी वे नहीं होते। इसका कारण यह है नारक चारित्र अंगीकार नहीं कर सकते, अतएव उनमें ये तीनों सम्भव नहीं होते। पृथ्वीकायिक आदि पांचों एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीव साकारपश्यत्ता वाले होते हैं, अनाकारपश्यत्ता वाले नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों में श्रुताज्ञान रूप साकारपश्यत्ता होती है, अनाकारपश्यत्ता नहीं होती, क्योंकि उनमें विशिष्ट परिस्फुट बोध रूप पश्यत्ता नहीं होती। चतुरिन्द्रियों में दोनों ही पश्यत्ताएँ होती हैं, क्योंकि उनके चक्षुरिन्द्रिय होने से चक्षुदर्शनरूप अनाकारपश्यत्ता भी होती है। चतुरिन्द्रिय जीव श्रुतज्ञानी एवं श्रुताज्ञानी होने से वे साकारपश्यत्तायुक्त होते ही हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक जीव नारकों की तरह साकारपश्यत्ता और अनाकारपश्यत्ता से युक्त होते हैं।[1]

केवली में एक समय में दोनों उपयोगों के निषेध की प्ररूपणा

१९६३. केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं हेतूहिं उवमाहिं दिट्ठंतेहिं वण्णेहिं संठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं जं समयं जाणति तं समयं पासति जं समयं पासति तं समयं जाणति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं जाव जं समयं जाणति णो तं समयं पासति जं समयं पासति णो तं समयं जाणति ?

गोयमा ! सागारे से णाणे भवति अणागारे से दंसणे भवति, से तेणट्ठेणं जाव णो तं समयं

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ७३९ से ७४४ तक
(ख) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ४११-४१२

जाणति। एवं जाव अहेसत्तमं। एवं सोहम्मं कप्पं जाव अच्चुयं गेवेज्जगविमाणे अणुत्तरविमाणे ईसीपब्भारं पुढविं परमाणुपोग्गलं दुपएसियं खंधं अणंतपदेसियं खंधं।

[१९६३ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी इस रत्नप्रभापृथ्वी को आकारों से, हेतुओं से, उपमाओं से, दृष्टान्तों से, वर्णों से, संस्थानों से, प्रमाणों से और प्रत्यवतारों से जिस समय जानते हैं, उस समय देखते हैं तथा जिस समय देखते हैं, उस समय जानते हैं ?

[१९६३ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि केवली इस रत्नप्रभापृथ्वी को आकारों से यावत् प्रत्यवतारों से जिस समय जानते हैं, उस समय नहीं देखते और जिस समय देखते हैं, उस समय नहीं जानते ?

[उ.] गौतम ! जो साकार होता है, वह ज्ञान होता है और जो अनाकार होता है, वह दर्शन होता है, (इसलिए जिस समय साकारज्ञान होगा, उस समय अनाकारज्ञान (दर्शन) नहीं रहेगा, इसी प्रकार जिस समय अनाकारज्ञान (दर्शन) होगा, उस समय साकारज्ञान नहीं होगा। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि केवलज्ञानी जिस समय जानता है, उस समय देखता नहीं यावत् जानता नहीं। इसी प्रकार शर्कराप्रभापृथ्वी से यावत् अधःसप्तमनरकपृथ्वी तक के विषय में जानना चाहिए और इसी प्रकार (का कथन) सौधर्मकल्प (से लेकर) यावत् अच्युतकल्प, ग्रैवेयकविमान, अनुत्तरविमान, ईषत्प्राग्भारापृथ्वी, परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशिक स्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक (के जानने और देखने के विषय में समझना चाहिए। अर्थात् इन्हें जिस समय केवली जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं।)

१९६४. केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं अहेतूहिं अणुवमाहिं अदिट्ठंतेहिं अवण्णेहिं असंठाणेहिं अपमाणेहिं अपडोयारेहिं पासति, ण जाणति ?

हंता गोयमा ! केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं जाव पासति, ण जाणइ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं जाव पासति, ण जाणइ ?

गोयमा ! अणागारे से दंसणे भवति सागारे से णाणे भवति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं अणागारेहिं जाव पासति, ण जाणति। एवं जाव ईसीपब्भारं पुढविं परमाणुपोग्गलं अणंतपदेसियं खंधं पासइ, ण जाणइ।

॥ पण्णवणाए भगवतीए तीसइमं पासणयापयं समत्तं ॥

[१९६४ प्र.] भगवन् ! क्या केवलज्ञानी इस रत्नप्रभापृथ्वी को अनाकारों से, अहेतुओं से, अनुपमाओं से, अदृष्टान्तों से, अवर्णों से, असंस्थानों से, अप्रमाणों से और अप्रत्यवतारों से देखते हैं, जानते नहीं हैं ?

[१९६४ उ.] हाँ, गौतम ! केवली इस रत्नप्रभापृथ्वी को अनाकारों से यावत् देखते हैं, जानते नहीं हैं।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि केवली इस रत्नप्रभापृथ्वी को अनाकारों से यावत् देखते हैं, जानते नहीं हैं ?

[उ.] गौतम ! जो अनाकार होता है, वह दर्शन (देखना) होता है और साकार होता है, वह ज्ञान (जानना) होता है। इस अभिप्राय से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि केवली इस रत्नप्रभापृथ्वी को अनाकारों से···यावत् देखते हैं, जानते नहीं।

इसी प्रकार (अनाकारों से यावत् अप्रत्यवतारों से शेष छहों नरकपृथ्वियों, वैमानिक देवों के विमानों) यावत् ईषत्प्राग्भारापृथ्वी, परमाणुपुद्गल तथा अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक को केवली देखते हैं, किन्तु जानते नहीं, (यह कहना चाहिए।)

विवेचन—केवली के द्वारा ज्ञान और दर्शन के समकाल में न होने की चर्चा—(१) इस प्रश्न के उठने का कारण—छद्मस्थ जीव तो कर्मयुक्त होते हैं, अतः उनका साकारोपयोग और अनाकारोपयोग क्रम से ही प्रादुर्भूत हो सकता है, क्योंकि कर्मों से आवृत जीवों के एक उपयोग के समय, दूसरा उपयोग कर्म से आवृत हो जाता है। इस कारण दो उपयोगों का एक साथ होना विरुद्ध है। अतः जिस समय छद्मस्थ जानता है, उसी समय देखता नहीं है, किन्तु उसके बाद ही देख सकता है। मगर केवली के चार घातिक कर्मों का क्षय हो चुका है। अतः ज्ञानावरणीय कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण उनको ज्ञान और दर्शन दोनों एक साथ होने में कोई विरोध या बाधा नहीं है। ऐसी आशंका से गौतमस्वामी द्वारा यह प्रश्न उठाया गया कि क्या केवली रत्नप्रभा आदि को जिस समय जानते हैं, उसी समय देखते हैं अथवा जीव-स्वभाव के कारण क्रम से जानते-देखते हैं ?[१]

आगारेहिं आदि पदों का स्पष्टीकरण—(१) आगारेहिं—केवली भगवान् इस रत्नप्रभापृथ्वी आदि को अर्थात् आकार-प्रकारों से यथा यह रत्नप्रभापृथ्वी खरकाण्ड, पंककाण्ड और अप्काण्ड के भेद से तीन प्रकार की है। खरकाण्ड के भी सोलह भेद हैं। उनमें से एक सहस्रयोजन प्रमाण रत्नकाण्ड है, तदनन्तर एक सहस्रयोजन-परिमित वज्रकाण्ड है, फिर उसके नीचे सहस्रयोजन का वैडूर्यकाण्ड है, इत्यादि रूप के आकार-प्रकारों से समझना। (२) **हेऊहिं**—हेतुओं से अर्थात् उपपत्तियों से—युक्तियों से। यथा इस पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा क्यों है ? युक्ति आदि द्वारा इसका समाधान यह है कि रत्नमयकाण्ड होने से या रत्न की ही प्रभा या स्वरूप होने से अथवा रत्नमयकाण्ड होने से उसमें रत्नों की प्रभाकान्ति है, अतः इस पृथ्वी का रत्नप्रभा नाम सार्थक है। (३) **उवमाहिं**—उपमाओं से अर्थात् सदृशताओं से। जैसे कि—वर्ण से पद्मराग के सदृश रत्नप्रभा में रत्नप्रभ आदि काण्ड हैं, इत्यादि। (४) **दिट्ठंतेहिं**—दृष्टान्तों-उदाहरणों से या वादी-प्रतिवादी की बुद्धि समता-प्रतिपादक वाक्यों से। जैसे—घट, पट आदि से भिन्न होता है, वैसे ही यह रत्नप्रभापृथ्वी शर्कराप्रभा आदि अन्य नरकपृथ्वियों से भिन्न है, क्योंकि इसके धर्म उनसे भिन्न हैं। इसलिए रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि से भिन्न वस्तु है, इत्यादि। (५) **वण्णेहिं**—वर्ण-गन्धादि के भेद से। शुक्ल आदि वर्णों के उत्कर्ष-अपकर्षरूप संख्यातगुण, असंख्यातगुण और अनन्तगुण के विभाग से तथा गन्ध, रस और स्पर्श के विभाग से। (६) **संठाणेहिं**—संस्थानों-आकारों से अर्थात् रत्नप्रभापृथ्वी में बने भवनों और नरकावासों की रचना के आकारों से। जैसे—वे भवन बाहर से गोल और अन्दर से

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनीटीका) भा. ५, पृ. ७४७-७४८

चौकोर हैं, नीचे पुष्कर की कर्णिका की आकृति के हैं। इसी प्रकार नरक अन्दर से गोल और बाहर से चौकोर हैं और नीचे क्षुरप्र (खुरपा) के आकार के हैं, इत्यादि। (७) पमाणेहिं—प्रमाणों से अर्थात् उसकी लम्बाई, मोटाई, चौड़ाई आदिरूप परिमाणों से। जैसे—यह एक लाख अस्सी हजार योजन मोटाई वाली तथा रज्जु-प्रमाण लम्बाई-चौड़ाई वाली है, इत्यादि। (८) पडोयारेहिं—प्रत्यवतारों से अर्थात् पूर्णरूप से चारों ओर से व्याप्त करने वाले पदार्थों (प्रत्यवतारों) से। जैसे—घनोदधि आदि वलय सभी दिशाओं-विदिशाओं में व्याप्त करके रहे हुए हैं, अतः वे प्रत्यवतार कहलाते हैं। इस प्रकार के प्रत्यवतारों से जानना।[1]

प्रथम प्रश्न का तात्पर्य—क्या केवली भगवान् पूर्वोक्त आकारादि से रत्नप्रभादि को जिस समय केवलज्ञान से जानते हैं, उसी समय केवलदर्शन से देखते भी हैं तथा जिस समय वे केवल-दर्शन से देखते हैं, क्या उसी समय केवलज्ञान से जानते भी हैं?

उत्तर का स्पष्टीकरण—उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर 'ना' में है। क्योंकि केवली भगवान् का ज्ञान साकार अर्थात् विशेष का ग्राहक होता है, जबकि उनका दर्शन अनाकार अर्थात् सामान्य का ग्राहक होता है। अतएव केवली भगवान् जब ज्ञान के द्वारा विशेष का परिच्छेद करते हैं, तब जानते हैं, ऐसा कहा जाता है और जब दर्शन के द्वारा अनाकार यानी सामान्य को ग्रहण करते हैं, तब देखते हैं, ऐसा कहा जाता है। **सविशेषं पुनर्ज्ञानम्** इस लक्षण के अनुसार वस्तु का विशेषयुक्त बोध या विशेषग्राहक बोध ही ज्ञान होता है। अतः केवली का ज्ञान साकार यानी विशेष का ही ग्राहक होता है, अन्यथा उसे ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता और दर्शन अनाकार यानी सामान्य का ही ग्राहक होता है, क्योंकि दर्शन का लक्षण ही है—'पदार्थों को विशेषरहित ग्रहण करना।'

अतः सिद्धान्त यह है कि जब ज्ञान होता है, तब ज्ञान ही होता है और जब दर्शन होता है, तब दर्शन ही होता है। ज्ञान और दर्शन छाया और आतप (धूप) के समान साकाररूप एवं अनाकाररूप होने से परस्पर विरोधी हैं। ये दोनों एक साथ उपयुक्त नहीं रह सकते। अतएव केवली जिस समय जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं। जीव के कतिपय प्रदेशों में ज्ञान हो और कतिपय प्रदेशों में दर्शन हो, इस प्रकार एक ही साथ खण्डशः ज्ञान और दर्शन सम्भव नहीं है। सातों नरकपृथ्वियों, अनुत्तरविमान तक के विमानों, ईषत्प्राग्भारापृथ्वी, परमाणु, द्विप्रदेशी से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय में यही सिद्धान्त पूर्वोक्त युक्तिपूर्वक समझ लेना चाहिए।[2]

द्वितीय प्रश्न का तात्पर्य—केवली जिस समय इस रत्नप्रभापृथ्वी आदि को अनाकारों (आकार-प्रकाररहित रूप) इत्यादि से क्या केवल देखते ही हैं, जानते नहीं हैं?

उत्तर का स्पष्टीकरण—भगवान् इसे 'हाँ' रूप में स्वीकार करते हैं, क्योंकि अनाकार आदि रूप में वस्तु को ग्रहण करना दर्शन का कार्य है, ज्ञान का नहीं। ज्ञान का कार्य साकार आदि रूप में ग्रहण करना है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो—केवल अनाकार आदि रूप में जब रत्नप्रभादि को सामान्य-

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ७४८ से ७५१ तक

२. वही, भा. ५, पृ. ७५१ से ७५३ तक

रूप से ग्रहण करते हैं, तब दर्शन ही होता है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तभी होगा, जब वे साकार आदि रूप में वस्तु को ग्रहण करें।[1]

'अणागारेहिं' आदि पदों का विशेषार्थ—(१) **अणागारेहिं**—अनाकारों से पूर्वोक्त आकार-प्रकारों से रहित-रूप से। (२) **अहेतूहिं**—हेतु-युक्ति आदि से रहित रूप से। (३) **अणुवमाहिं**—अनुपमाओं से—सदृशतारहितरूप से। (४) **अदिट्ठंतेहिं**—अदृष्टान्तों से—दृष्टान्त, उदाहरण आदि के अभाव से। (५) **अवण्णेहिं**—अवर्णों से अर्थात् शुक्लादि वर्णों एवं गन्ध, रस और स्पर्श से रहित रूप से। (६) **असंठाणेहिं**—असंस्थानों से अर्थात् रचनाविशेष-रहित रूप में। (७) **अपमाणेहिं**—अप्रमाणों-पूर्वोक्त रूप से लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई आदि परिमाण-विशेष से रहित रूप से। (८) **अपडोयारेहिं**—अप्रत्यवतारों से अर्थात् घनोदधि आदि वलयों से व्याप्त होने की स्थिति से रहित रूप में, केवल देखते ही हैं।

निष्कर्ष यह है कि केवली जब केवलदर्शन से रत्नप्रभादि किसी भी वस्तु को देखते हैं तब जानते नहीं केवल देखते ही हैं और जब जानते हैं तब देखते नहीं। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—केवली....जाव अपडोयारेहिं पासति, ण जाणति।[2]

॥ प्रज्ञापना भगवती का तीसवाँ पश्यत्तापद समाप्त ॥

□□

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ७५४ से ७५६ तक

२. वही, भा. ५, पृ. ७५४-७५५

एगतीसइमं सण्णिपयं

इकतीसवाँ संज्ञिपद

प्राथमिक

※ *प्रज्ञापनासूत्र के इस इकतीसवें 'संज्ञिपद' में सिद्धसहित समस्त जीवों का संज्ञी, असंज्ञी तथा* नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी, इन तीन भेदों के आधार पर विचार किया गया है।

※ इस पद में बताया गया है कि सिद्ध संज्ञी भी नहीं हैं, असंज्ञी भी नहीं हैं, उनकी संज्ञा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी है, क्योंकि वे मन होते हुए भी उसके व्यापार से ज्ञान प्राप्त नहीं करते। मनुष्यों में भी जो केवली हो गए हों, वे सिद्ध के समान ही नोअसंज्ञी-नोसंज्ञी माने गए हैं, क्योंकि वे भी मन के व्यापार से ज्ञान प्राप्त नहीं करते। अन्य गर्भज और सम्मूर्च्छिम मनुष्य क्रमशः संज्ञी और असंज्ञी होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक सभी जीव असंज्ञी हैं। नारक, भवनपति, वाणव्यन्तर और पंचेन्द्रियतिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी दोनों ही प्रकार के हैं। ज्योतिष्क और वैमानिक दोनों संज्ञी हैं।

※ इस पद के उपसंहार में एक गाथा दी गई है, जिसमें मनुष्य को संज्ञी या असंज्ञी दो ही प्रकार का कहा है, परन्तु सूत्र १९७० में मनुष्य में तीनों प्रकार बताए हैं। इससे मालूम होता है कि गाथा का कथन छद्मस्थ मनुष्य की अपेक्षा से होना चाहिए।[1]

※ परन्तु संज्ञा का अर्थ यहाँ मूल में स्पष्ट नहीं है। मनुष्य, नारक, भवनपति एवं व्यन्तरदेव को असंज्ञी कहा गया है, इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है, कि जिसके मन हो, उसे संज्ञी कहते हैं,[2] यह अर्थ प्रस्तुत प्रकरण में घटित नहीं होता। यही कारण है कि वृत्तिकार को यहाँ संज्ञा शब्द के दो अर्थ करने पड़े। फिर भी पूरा समाधान नहीं होने से टीकाकार को यह स्पष्टीकरण करना पड़ा कि नारक आदि संज्ञी और असंज्ञी इसलिए हैं कि वे पूर्वभव में संज्ञी या असंज्ञी थे। अतः संज्ञा शब्द यहाँ किस अर्थ में अभिप्रेत है, यह अनुसंधान का विषय है।[3]

---

१. पण्णवणासुत्तं भाग २ (परिशिष्ट, प्रस्तावना), पृ. १४२

२. 'संज्ञिनः समनस्काः।' —तत्वार्थ. २।२५

३. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५३४

※ आचारांगसूत्र के प्रारम्भ में पूर्वभव के ज्ञान के प्रसंग में[१], अर्थात् विशेष प्रकार के मतिज्ञान के अर्थ में संज्ञा शब्द प्रयुक्त किया गया है। इसी प्रकार दशाश्रुतस्कन्ध में जहाँ दस चित्तसमाधि-स्थानों का वर्णन है, वहाँ अपने पूर्वजन्म के स्मरण करने के अर्थ में संज्ञा शब्द का प्रयोग किया गया है।[२] इससे प्रतीत होता है कि संज्ञा शब्द पहले मतिज्ञान-विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा, कालक्रम से यह पूर्व-अनुभव के स्मरण या जातिस्मरण ज्ञान के अर्थ में व्यवहृत होने लगा होगा। जो भी हो, संज्ञा शब्द है तो मतिज्ञान-विशेष ही, फिर वह संज्ञा—संकेत—शब्द रूप में हो या चिह्नरूप में हो। उससे ज्ञान होने में स्मरण आवश्यक है। स्थानांगसूत्र में भी 'एगा सन्ना' ऐसा पाठ मिलता है। इसलिए प्राचीनकाल में संज्ञा नाम का कोई विशिष्ट ज्ञान तो प्रसिद्ध था ही। आवश्यकनिर्युक्ति में भी संज्ञा को अभिनिबोध (मतिज्ञान) कहा है।[३]

※ 'षट्खण्डागम' मूल के मार्गणाद्वार में संज्ञीद्वार है। परन्तु वहाँ संज्ञा का वास्तविक अर्थ क्या है?, यह नहीं बताया गया है। वहाँ संज्ञी-असंज्ञी की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक के जीव संज्ञी हैं तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी हैं। फिर यह भी कहा है कि संज्ञी क्षायोपशमिक लब्धि से, असंज्ञी औदयिक भाव से और न-संज्ञी, न-असंज्ञी क्षायिकलब्धि से होता है। इसके स्पष्टीकरण में 'धवला' में संज्ञी शब्द की दो प्रकार की व्याख्या की गई है, वह विचारणीय है—सम्यग् जानातीति संज्ञं = मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। नैकेन्द्रियादिना अतिप्रसंगः, तस्य मनसो भावात्। अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही संज्ञी। उक्तं च—

'सिक्खा-किरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण'।
जो जीवो सो सण्णी, तव्विवरीदो असण्णी दु॥

इस दूसरी व्याख्या में भी मन का आलम्बन तो स्वीकृत है ही। तात्पर्य में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा।[३]

※ तत्त्वार्थसूत्र में 'संज्ञिनः समनस्काः' (संज्ञी जीव मन वाले होते हैं), ऐसा कह कर भाष्य में इसका स्पष्टीकरण किया है कि यहाँ संज्ञी शब्द से वे ही जीव विवक्षित हैं, जिनमें संप्रधारण संज्ञा हो। सम्प्रधारण संज्ञा का लक्षण किया है—**ईहापोहयुक्ता गुणदोषविचारणात्मिका सम्प्र-**

---

१. (क) 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता....इत्यनर्थान्तरम्।' —तत्त्वार्थ.
 (ख) विशेषावश्यक गा. १२, पत्र ३९४
 (ग) इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ, तं. पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि इत्यादि। —आचारांग श्रु. १ सू. १
२. 'सण्णिणाणं वा से असमुपन्नपुव्वे समुपज्जेज्जा, अप्पणो पोराणियं जाइं सुमरित्तए —दशाश्रुतस्कन्ध दशा ५
३. (क) पण्णवणासुत्तं भाग २ (परिशिष्ट प्रस्तावनात्मक), पृ. १४२
 (ख) स्थानांगसूत्र स्था. १, सू. २९-३२,
 (ग) आवश्यकनिर्युक्ति गा. १२, विशेषावश्यक गा. ३९४
४. (क) षट्खण्डागम, मूल पु. १, पृ. ४०८
 (ख) वही, पुस्तक ७, पृ. १११-११२,
 (ग) धवला, पु. १, पृ. १५२

धारणसंज्ञा—अर्थात्—ईहा और अपोह से युक्त गुण-दोष का विचार करने वाली संप्रधारण-संज्ञा है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि समनस्क (मन वाले) संज्ञी जीव वे ही होते हैं, जो सम्प्रधारणसंज्ञा के कारण संज्ञी कहलाते हों।[1]

※ संज्ञा के इस लक्षण पर से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान में प्रतिपादित आहारादि संज्ञा तथा आहार-भय-परिग्रह-मैथुन-क्रोध-मान-माया-लोभ-शोक-सुख-दुःख-मोह-विचिकित्सासंज्ञा के कारण कहलाने वाले 'संज्ञी' यहाँ विवक्षित नहीं हैं।[2]

※ कुल मिलाकर 'संज्ञीपद' से आत्मा के द्वारा होने वाले मतिज्ञानविशिष्ट तथा गुणदोषविचारणात्मक संज्ञा प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। □□

१. तत्त्वार्थ. भाष्य २।२५
२. स्थानांग. स्था. ४, स्था. १०

एगतीसइमं सण्णिपयं

इकतीसवाँ संज्ञिपद

जीव एवं चौबीस दण्डकों में संज्ञी आदि की प्ररूपणा

१९६५. जीवा णं भंते ! किं सण्णी असण्णी णोसण्णी-णोअसण्णी ?

गोयमा ! जीवा सण्णी वि असण्णी वि णोसण्णी-णोअसण्णी वि ।

[१९६५ प्र.] भगवन् ! जीव संज्ञी हैं, असंज्ञी हैं, अथवा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी हैं ?
[१९६५ उ.] गौतम ! जीव संज्ञी भी हैं, असंज्ञी भी हैं और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भी हैं ।

१९६६. णेरइया णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! णेरइया सण्णी वि असण्णी वि, णो णोसण्णी-णोअसण्णी ।

[२९६६ प्र.] भगवन् ! नैरयिक संज्ञी हैं, असंज्ञी हैं अथवा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी हैं ?
[१९६६ उ.] गौतम ! नैरयिक संज्ञी भी हैं, असंज्ञी भी हैं, किन्तु नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी नहीं हैं ।

१९६७. एवं असुरकुमारा जाव थणियकुमारा ।

[१९६७] इसी प्रकार असुरकुमारों (से लेकर) यावत् स्तनितकुमारों तक (कहना चाहिए ।)

१९६८. पुढविक्काइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णो सण्णी, असण्णी, णो णोसण्णी-णोअसण्णी ।

[१९६८ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव संज्ञी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[१९६८ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव न तो संज्ञी हैं और न नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी हैं, किन्तु असंज्ञी हैं । (इसी प्रकार सभी एकेन्द्रिय जीवों के विषय में समझना चाहिए ।)

१९६९. एवं बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिया वि ।

[१९६९] इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय भी संज्ञी या नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी नहीं होते, किन्तु असंज्ञी होते हैं ।

१९७०. मणूसा जहा जीवा (सु. १९६५) ।

[१९७०] मनुष्यों की वक्तव्यता समुच्चय जीवों के समान जानना चाहिए ।

१९७१. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया वाणमंतरा य जहा णेरइया (सु. १९६६) ।

[१९७१] पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और वाणव्यन्तर का कथन (सू. १९६६ में उक्त) नारकों के समान है ।

१९७२. जोइसिय-वेमाणिया सण्णी, णो असण्णी णो णोसण्णी-णोअसण्णी ।

[१९७२] ज्योतिष्क और वैमानिक संज्ञी होते हैं, किन्तु असंज्ञी नहीं होते, न ही नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी होते हैं ।

१९७३. सिद्धाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णो सण्णी णो असण्णी, णोसण्णि-णोअसण्णी ।

णेरइय-तिरिय-मणुया य वणयरसुरा य सण्णऽसण्णी य ।
विगलिंदिया असण्णी, जोतिस-वेमाणिया सण्णी ॥ २२० ॥

॥ पण्णवणाए भगवतीए एगतीसइमं सण्णिपयं समत्तं ॥

[१९७३ प्र.] भगवन् ! क्या सिद्ध संज्ञी होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१९७३ उ.] गौतम ! वे न तो संज्ञी हैं, न असंज्ञी हैं, किन्तु नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी हैं ।

संग्रहणीगाथार्थ—'नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, वाणव्यन्तर और असुरकुमारादि भवनपति संज्ञी होते हैं, असंज्ञी भी होते हैं । विकलेन्द्रिय (एवं एकेन्द्रिय) असंज्ञी होते हैं तथा ज्योतिष्क और वैमानिक देव संज्ञी ही होते हैं ॥ २२० ॥

विवेचन—संज्ञी, असंज्ञी और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी का स्वरूप—प्रस्तुत प्रकरण में संज्ञा का अर्थ है—अतीत, अनागत और वर्तमान भावों के स्वभाव का पर्यालोचन—विचारणा । इस प्रकार की संज्ञा वाले जीव संज्ञी कहलाते हैं । अर्थात् जिनमें विशिष्ट स्मरणादि रूप मनोविज्ञान पाया जाए । इस प्रकार के मनोविज्ञान (मस्तिष्क ज्ञान) से विकल जीव असंज्ञी कहलाते हैं । अथवा भूत; भविष्य और वर्तमान पदार्थ का जिससे सम्यक् ज्ञान हो, उसे संज्ञा अर्थात्—विशिष्ट मनोवृत्ति कहते हैं । इस प्रकार की संज्ञा जिनमें हो, वे संज्ञी कहलाते हैं । अर्थात्—समनस्क जीव संज्ञी तथा जिनके मनोव्यापार न हो, ऐसे अमनस्क जीव असंज्ञी कहलाते हैं । जो संज्ञी और असंज्ञी, दोनों कोटियों से अतीत हों, ऐसे केवली या सिद्ध नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहलाते हैं ।[1]

कौन संज्ञी, कौन असंज्ञी तथा कौन संज्ञी-असंज्ञी और क्यों ? एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीव असंज्ञी होते हैं, क्योंकि एकेन्द्रियों में मानसिक व्यापार का अभाव होता है और द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रियों एवं सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रियों में विशिष्ट मनोवृत्ति का अभाव होता है । केवली मनोद्रव्य से सम्बन्ध होने पर भी अतीत, अनागत और वर्तमानकालिक पदार्थों या भावों के स्वभाव की पर्यालोचनारूप संज्ञा से रहित हैं तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण केवलज्ञान-केवलदर्शन से साक्षात् समस्त पदार्थों को जानते देखते हैं । इस कारण केवली न तो संज्ञी हैं, और न असंज्ञी हैं, सिद्ध भी संज्ञी नहीं हैं, क्योंकि उनके द्रव्यमन नहीं होता तथा सर्वज्ञ होने के कारण असंज्ञी भी नहीं हैं । अतएव केवली और सिद्ध नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहलाते हैं ।

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ७१३

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अ. रा. कोष भा. ७, पृ. ३०५

समुच्चय जीव संज्ञी भी होते हैं, असंज्ञी भी होते हैं और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भी होते हैं। नैरयिक तथा दस प्रकार के भवनपति देव संज्ञी भी होते हैं, असंज्ञी भी। जो नैरयिक या भवनपति संज्ञी के भव से नरक में या भवनपति देव में उत्पन्न होते हैं, वे नारक या भवनपति देव संज्ञी कहलाते हैं। जो असंज्ञी के भव से नरक में या भवनपति देवों में उत्पन्न होते हैं, वे असंज्ञी कहलाते हैं। किन्तु नारक या भवनपति देव नोसंज्ञी नोअसंज्ञी नहीं हो सकते, क्योंकि वे केवली नहीं हो सकते। केवली न हो सकने का कारण यह है कि वे चारित्र को अंगीकार नहीं कर सकते। मनुष्यों की वक्तव्यता समुच्चय जीवों के समान समझनी चाहिए। अर्थात् मनुष्य भी समुच्चय जीवों के समान संज्ञी, असंज्ञी तथा नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी भी होते हैं। गर्भज मनुष्य संज्ञी होते हैं, सम्मूर्च्छिम मनुष्य असंज्ञी होते हैं तथा केवली नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी होते हैं।

पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और वाणव्यन्तर नारकों के समान संज्ञी भी होते हैं, असंज्ञी भी। जो पंचेन्द्रियतिर्यञ्च सर्मूच्छिम होते हैं, वे असंज्ञी और जो गर्भज होते हैं, वे संज्ञी होते हैं। जो वाणव्यन्तर असंज्ञियों से उत्पन्न होते हैं, वे असंज्ञी और संज्ञियों से उत्पन्न होते हैं, वे संज्ञी होते हैं। दोनों ही नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी नहीं होते, क्योंकि वे चारित्र अंगीकार नहीं कर सकते। ज्योतिष्क और वैमानिक संज्ञी ही होते हैं, असंज्ञी नहीं, क्योंकि संज्ञी से ही उत्पन्न होते हैं। ये नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी तो हो ही नहीं सकते, क्योंकि वे चारित्र अंगीकार नहीं कर सकते। सिद्ध भगवान् पूर्वोक्त युक्ति से नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी होते हैं।[1]

॥ प्रज्ञापना भगवती का इकतीसवाँ संज्ञिपद समाप्त ॥

□□

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ७, पृ. ३०५

बत्तीसइमं संजयपयं

बत्तीसवाँ संयतपद

प्राथमिक

※ प्रज्ञापनासूत्र का यह बत्तीसवाँ पद है, इसका नाम संयतपद है।

※ संयतपद मानवजीवन का सर्वोत्कृष्ट पद है। संयतपद प्राप्त करने के बाद ही मोक्ष की सीढ़ियाँ उत्तरोत्तर शीघ्रता से पार की जा सकती हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रय की सर्वोत्तम आराधना इसी पद पर आरूढ होने के बाद हो सकती है। इसीलिए प्रज्ञापना के बत्तीसवें पद में इसे स्थान दिया गया है।

※ प्रस्तुत पद में समुच्चय जीव तथा नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के संयत, असंयत, संयतासंयत और नोसंयत-नोअसंयत होने के विषय में प्ररूपणा की गई है।

संयत से सम्बन्धित चार भेदों का विचार समस्त जीवों के विषय में किया गया है।

※ संयत का अर्थ है, जो महाव्रती, संयमी हो, सर्वविरत हो। असंयत का अर्थ है—जो सर्वथा अविरत, असंयमी, अप्रत्याख्यानी हो। संयतासंयत का अर्थ है—जो देशविरत हो, श्रावकव्रती हो, विरताविरत हो तथा नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत का अर्थ—जो न तो संयत हो और न असंयत हो, न ही संयतासंयत हो, क्योंकि संयत भी साधक है, अभी सिद्धगतिप्राप्त नहीं है और संयतासंयत तो और भी नीची श्रेणी पर है। इसलिए नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत में सिद्ध भगवान् को लिया गया है।

※ इस पद का निष्कर्ष यह है कि नारक, एकेन्द्रिय, तीन विकलेन्द्रिय, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, ये सभी असंयत होते हैं, ये न तो संयत हो सकते हैं, न संयतासंयत। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च संयत नहीं हो सकता, वह संयतासंयत हो सकता है, अथवा प्रायः असंयत होता है। मनुष्य में संयत, असंयत और संयतासंयत तीनों प्रकार सम्भव हैं। नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत सिद्ध भगवान् ही हो सकते हैं।[1]

※ आचार्य मलयगिरि ने संयतपद का महत्त्व बताते हुए कहा है कि देवों, नारकों और तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों को सर्वविरतिरूप चारित्र या केवलज्ञान का परिणाम ही नहीं होता। वे श्रवण-मनन भी नहीं कर सकते और न जीवन में चारित्र धारण कर सकते हैं, इसके कारण वे पश्चात्ताप करते हैं, विषाद पाते हैं। अतः मनुष्यों को संयतपद की आराधना के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। षट्खण्डागम के संयमद्वार में सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनशुद्धिसंयत, परिहार-शुद्धिसंयत, सूक्ष्मसम्परायशुद्धिसंयत, यथाख्यातविहारशुद्धिसंयत, संयतासंयत और असंयत ऐसे भेद करके १४ गुणस्थानों के माध्यम से विचारणा की गई है।[2] □□

---

१. पण्णवणासुत्तं भा. २. (प्रस्तावना-परिशिष्ट) पृ. १४४

२. षट्खण्डागम पु. १, पृ. ३६८

बत्तीसइमं संजयपयं

बत्तीसवाँ संयतपद

जीवों एवं चौवीस दण्डकों में संयत आदि की प्ररूपणा

१९७४. जीवा णं भंते ! किं संजया असंजया संजतासंजता णोसंजत-णोअसंजतणोसंजया-संजया ?

गोयमा ! जीवा णं संजया वि असंजया वि संजयासंजया वि णोसंजयणोअसंजयणोसंजता-संजया वि ।

[१९७४ प्र.] भगवन् ! (समुच्चय) जीव क्या संयत होते हैं, असंयत होते हैं, संयतासंयत होते हैं, अथवा नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं ?

[१९७४ उ.] गौतम ! जीव संयत भी होते हैं, असंयत भी होते हैं, संयतासंयत भी होते हैं और नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत भी होते हैं ।

१९७५. णेरइया णं भंते ! किं संजया असंजया संजयासंजया णोसंजतणोअसंजतणोसंजया-संजया ?

गोयमा ! णेरइया णो संजया, असंजया, णो संजयासंजया णो णोसंजयणोअसंजयणोसंज-तासंजया ।

[१९७५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक संयत होते हैं, असंयत होते हैं, संयतासंयत होते हैं या नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं ?

[१९७५ उ.] गौतम ! नैरयिक संयत नहीं होते, न संयतासंयत होते हैं और न नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं; किन्तु असंयत होते हैं ।

१९७६. एवं जाव चउरिंदिया ।

[१९७६] इसी प्रकार (असुरकुमारादि भवनपति, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय तथा त्रीन्द्रिय) यावत् चतुरिन्द्रियों तक जानना चाहिए ।

१९७७. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?

गोयमा ! पंचेंदियतिरिक्खजोणिया णो संजया, असंजया वि संजतासंजता वि, णो णोसंजय-णोअसंजयणोसंजयासंजया ।

[१९७७ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिक क्या संयत होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१९७७ उ.] गौतम ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्च न तो संयत होते हैं और न ही नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं, किन्तु वे असंयत या संयतासंयत होते हैं ।

१९७८. मणूसा णं भंते !० पुच्छा ।

गोयमा ! मणूसा संजया वि असंजया वि संजतासंजया वि, णो णोसंजतणोअसंजय-णो-संजता-संजता ।

[१९७८ प्र.] भगवन् ! मनुष्य संयत होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[१९७८ उ.] गौतम ! मनुष्य संयत भी होते हैं, असंयत भी होते हैं, संयतासंयत भी होते हैं, किन्तु नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत नहीं होते हैं ।

१९७९. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा णेरइया (सु. १९७५) ।

[१९७९] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों का कथन नैरयिकों के समान समझना चाहिए ।

१९८०. सिद्धाणं पुच्छा ।

गोयमा ! सिद्धा नो संजया नो असंजया नो संजयासंजया, णोसंजयणोअसंजयणोसंजया-संजया ।

संजय अस्संजय मीसगा य जीवा तहेव मणुया य ।
संजतरहिया तिरिया, सेसा अस्संजता होंति ॥ २२१ ॥

॥ पण्णवणाए भगवतीए बत्तीसइमं संजयपयं समत्तं ॥

[१९८० प्र.] सिद्धों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न ?

[१९८० उ.] गौतम ! सिद्ध न तो संयत होते हैं, न असंयत और न ही संयतासंयत होते हैं, किन्तु नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत होते हैं ।

[संग्रहणी-गाथार्थ—] जीव और मनुष्य संयत, असंयत और संयतासंयत (मिश्र) होते हैं । तिर्यञ्च संयत नहीं होते, (किन्तु असंयत और संयतासंयत होते हैं) । शेष एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और देव (चारों जाति के) तथा नारक असंयत होते हैं ॥२२१॥

विवेचन—संयत एवं असंयत पद का लक्षण—जो सर्वसावद्ययोगों से सम्यक् प्रकार से विरत हो चुके हैं और चारित्रपरिणामों की वृद्धि के कारणभूत निरवद्य योगों में प्रवृत्त हुए हैं, वे संयत कहलाते हैं । अर्थात्—हिंसा आदि पापस्थानों से जो सर्वथा निवृत्त हो चुके हैं, वे संयत हैं । उनसे विपरीत असंयत हैं ।

संयतासंयत—जो हिंसादि से देश (आंशिकरूप) से विरत हैं ।

नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत—जो इन तीनों से भिन्न हैं ।

जीव में चारों का समावेश : कैसे ?—जीव संयत भी होते हैं, क्योंकि श्रमण संयत हैं । जीव असंयत भी होते हैं, क्योंकि नारकादि असंयत हैं । जीव संयतासंयत भी होते हैं, क्योंकि पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य स्थूल प्राणातिपात आदि का त्याग करके देशसंयम के आराधक होते हैं तथा जीव नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत भी होते हैं, क्योंकि सिद्धों में इन तीनों का निषेध पाया जाता है । सिद्ध भगवान् शरीर और मन से रहित होते हैं । अतएव उनमें निरवद्ययोग में प्रवृत्ति और सावद्ययोग

से निवृत्ति रूप संयतत्व घटित नहीं होता। सावद्ययोग में प्रवृत्ति न होने से असंयतत्व भी नहीं पाया जाता तथा दोनों का सम्मिलितरूप संयतासंयतत्व भी इसी कारण सिद्धों में नहीं पाया जाता। कौन संयत है, कौन असंयत है, कौन संयतासंयत है तथा कौन नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत है ?, इसकी प्ररूपणा मूलपाठ में कर ही दी गई है, अन्तिम संग्रहणी गाथा में निष्कर्ष दे दिया है। अतः स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।[1]

॥ प्रज्ञापना भगवती का बत्तीसवाँ संयतपद सम्पूर्ण ॥

□□

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ४१४

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ७६८ से ७७१ तक

तेत्तीसइमं ओहिपयं

तेतीसवाँ अवधिपद

* यह प्रज्ञापनासूत्र का तेतीसवाँ अवधिपद है। इसमें अवधिज्ञानसम्बन्धी विस्तृत चर्चा है। विभिन्न पहलुओं से अवधिज्ञान की प्ररूपणा की गई है।

* भारतीय दार्शनिकों और कहीं-कहीं पश्चात्य दार्शनिकों ने अतीन्द्रियज्ञान की चर्चा अपने-अपने धर्मग्रन्थों तथा स्वतन्त्ररचित साहित्य में की है। साधारण जनता किसी ज्योतिषी, मन्त्रविद्या-सिद्ध व्यक्ति अथवा किसी देवी-देवोपासक के द्वारा भूत, भविष्य एवं वर्तमान की चर्चा सुन कर आश्चर्यान्वित हो जाती है। उसी को चमत्कार मान कर गतानुगतिक रूप से उलटे-सीधे मार्ग को पकड़ कर चल पड़ती है। कभी-कभी लोग ऐसे चमत्कार के चक्कर में पड़ कर धन और धर्म को खो बैठते हैं। क्षणिक चमत्कार की चकाचौंध में पड़ कर कई व्यक्ति अपने शील का भी त्याग कर देते हैं और नैतिक पतन के चौराहे पर आकर खड़े हो जाते हैं। अत: ऐसा चमत्कार क्या है? वह अवधिज्ञान है या और कोई ज्ञान है? इस शंका के समाधानार्थ जैन तीर्थंकरों ने अवधिज्ञान का यथार्थ स्वरूप बताया है। वह कितने प्रकार का है? कैसे उत्पन्न होता है? क्या वह चला भी जाता है, न्यूनाधिक भी हो जाता है अथवा स्थायी रहता है? ऐसा ज्ञान किन-किन को होता है? जन्म से ही होता है या विशिष्ट क्षयोपशम से? इन सब पहलुओं पर साधकों को यथार्थ मार्गदर्शन देने तथा साधक कहीं इसके पीछे अपनी साधना न खो बैठें, आम जनता को चमत्कार के चक्कर में डालने के लिए रत्नत्रय की साधना को छोड़ कर अन्य मार्गों का अवलम्बन न ले बैठें तथा जनता की चमत्कार की भ्रान्ति दूर करने के लिए अवधि-ज्ञान की विभिन्न पहलुओं से व्याख्या की है।

* प्रस्तुत पद में अवधिज्ञान के विषय में ७ द्वारों के माध्यम से विश्लेषण किया गया है। जैसे कि—(१) प्रथम भेदद्वार, जिसमें अवधिज्ञान के भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है। (२) द्वितीय—विषयद्वार अवधिज्ञान से प्रकाशित क्षेत्र का विषय, (३) तीसरा—संस्थानद्वार—उस क्षेत्र के आकार का वर्णन है, (४) चतुर्थ—अवधिज्ञान के बाह्य आभ्यन्तर प्रकार, (५) पंचम देशावधिद्वार, जिसमें सर्वोत्कृष्ट अवधि के साथ सर्वजघन्य और मध्यम अवधि का निरूपण है, (६) छठाद्वार—जिसमें अवधिज्ञान के क्षय और वृद्धि का निरूपण है। अर्थात् हीयमान और वर्धमान अवधिज्ञान की चर्चा है। (७) सप्तमद्वार—प्रतिपाती और अप्रतिपाती—जिसमें स्थायी और प्रतिपाती अवधिज्ञान का निरूपण है।

* आम जनता आज जिस प्रकार के साधारण भूत-भविष्य-वर्तमानकालिक ज्ञान को चमत्कार मान कर प्रभावित हो जाती है, वह मतिज्ञान का ही विशेष प्रकार है। वह इन्द्रियातीत ज्ञान नहीं है। पूर्वजन्म की बीती बातों को याद करने वाले जातिस्मरण ज्ञान को भी कई लोग अवधि-ज्ञान की कोटि में मान बैठते हैं, किन्तु वह मतिज्ञान का ही विशेष भेद है। ज्योतिष या मंत्र-

तंत्रादि से अथवा देवोपासना से होने वाला विशिष्ट ज्ञान भी अवधिज्ञान नहीं है, वह मतिज्ञान का ही विशिष्ट प्रकार है।

* अवधिज्ञान का स्वरूप कर्मग्रन्थ आदि में बताया गया है कि इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को अवधि-मर्यादा में होने वाला रूपी पदार्थों का ज्ञान अवधिज्ञान है। वह भव-प्रत्यय और गुणप्रत्यय (क्षायोपशमिक) के भेद से दो प्रकार का है। देवों और नारकों को यह जन्म से होता है और मनुष्यों एवं पंचेन्द्रियतिर्यंचों को कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

* अवधिज्ञान के क्षेत्रगतविषय की चर्चा का सार यह है—नारक क्षेत्र की दृष्टि से कम से कम आधा गाऊ और अधिक से अधिक चार गाऊ तक जानता-देखता है। फिर एक-एक करके सातों ही नरकों के नारकों के अवधि क्षेत्र का निरूपण है, नीचे की नरक भूमियों में उत्तरोत्तर अवधि-ज्ञानक्षेत्र कम होता जाता है। भवनपति निकाय में असुरकुमार का अवधिक्षेत्र कम से कम २५ योजन और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप-समुद्र है। बाकी के नागकुमारादि का अवधिक्षेत्र उत्कृष्ट संख्यात द्वीप-समुद्र है। पंचेन्द्रियतिर्यंच का अवधिक्षेत्र जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप-समुद्र है। मनुष्य का उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र अलोक में भी लोकपरिमित असंख्यात लोक जितना है। वाणव्यन्तर का अवधिक्षेत्र नागकुमारवत् है। ज्योतिष्कदेवों का जघन्य असंख्यात द्वीपसमुद्र है। वैमानिक देवों के अवधिक्षेत्र की विचारणा में विमान से नीचे का, ऊपर का और तिरछे भाग का अवधिक्षेत्र बताया है। विमान पर उन-उन वैमानिक देवों का अवधिक्षेत्र विस्तृत है। अनुत्तरौपपातिक देवों का अवधिक्षेत्र समग्र लोकनाडी-प्रमाण है।

* अवधिज्ञान का क्षेत्र की अपेक्षा से तप्र (डोंगी), पल्लक, झालर, पटह आदि के समान विविध प्रकार का आकार बताया है।

आचार्य मलयगिरि ने उसका निष्कर्ष यह निकाला है कि भवनपति और व्यन्तर को ऊपर के भाग में, वैमानिकों को नीचे के भाग में तथा ज्योतिष्क और नारकों को तिर्यक्दिशा में अधिक विस्तृत होता है। मनुष्य और तिर्यञ्चों के अवधिज्ञान का आकार विचित्र होता है।

* बाह्य और आभ्यन्तर अवधि की चर्चा में बताया गया है कि नारक और देव अवधिक्षेत्र के अन्दर हैं, अर्थात्—उनका अवधिज्ञान अपने चारों ओर फैला हुआ है, तिर्यञ्च में वैसा नहीं है। मनुष्य अवधि-क्षेत्र में भी है और बाह्य भी है। इसका तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञान का प्रसार स्वयं जहाँ है, वहीं से हो, तो वह अवधि के अन्दर (अन्तः) माना जाता है, परन्तु अपने से विच्छिन्न प्रदेश में अवधि का प्रसार हो तो वह अवधि से बाह्य माना जाता है। सिर्फ मनुष्य को ही सर्वावधि सम्भव है, शेष सभी जीवों को देशावधि ही होता है।

* आगे के द्वारों में नारकादि जीवों में आनुगामिक-अनानुगामिक, हीयमान-वर्धमान, प्रतिपाती-अप्रतिपाती तथा अवस्थित और अनवस्थित आदि अवधिभेदों की प्ररूपणा की गई है।

* कुल मिलाकर अवधिज्ञान की सांगोपांग चर्चा प्रस्तुत पद में की गई है। भगवतीसूत्र एवं कर्म-ग्रन्थ में भी इतनी विस्तृत विचारणा नहीं की गई है।[1] □□

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा १ (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ४१५ से ४१८ तक
(ख) पण्णवणासुत्तं भा. २ (परिशिष्ट-प्रस्तावनादि) पृ. १४०-१४१

तेत्तीसइमं ओहिपयं

तेतीसवाँ अवधिपद

तेतीसवें पद के अर्थाधिकारों की प्ररूपणा

१९८१. भेद १ विसय २ संठाणे ३ अब्भितर-बाहिरे ४ य देसोही ५ ।
ओहिस्स य खय-वुड्ढी ६ पडिवाई चेवऽपडिवाई ७ ।। २२२ ।।

[१९८१ संग्रहणी-गाथार्थ—] तेतीसवें पद में इन सात विषयों का अधिकार है—(१) भेद, (२) विषय, (३) संस्थान, (४) आभ्यन्तर-बाह्य, (५) देशावधि, (६) अवधि का क्षय और वृद्धि, (७) प्रतिपाती और अप्रतिपाती ।

विवेचन—सात द्वार— तेतीसवें पद में प्रतिपाद्य विषय के सात द्वार इस प्रकार हैं । (१) **प्रथम द्वार**—अवधिज्ञान के भेद-प्रभेद, (२) **द्वितीय द्वार**—अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र का **विषय,** (३) **तृतीय द्वार**—अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र का संस्थान—आकार, (४) **चतुर्थ द्वार**—अवधिज्ञान के दो प्रकार—आभ्यन्तर और बाह्य, (५) **पंचम द्वार—देश-अवधि**—सर्वोत्कृष्ट अवधि में से सर्वजघन्य और मध्यम अवधि, (६) **छठा द्वार**—अवधिज्ञान के क्षय और वृद्धि का कथन, अर्थात् हीयमान और वर्द्धमान अवधिज्ञान तथा (७) **सप्तम द्वार—प्रतिपाती** (उत्पन्न होकर कुछ ही काल तक टिकने वाला) अवधिज्ञान एवं **अप्रतिपाती**—मृत्यु से या केवलज्ञान से पूर्व तक नष्ट न होने वाला अवधिज्ञान ।[1]

प्रथम : अवधि-भेद द्वार

१९८२. कतिविहा णं भंते ! ओही पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा ओही पण्णत्ता । तं जहा—भवपच्चइया य खओवसमिया य । दोण्हं भवपच्चइया, तं जहा—देवाण य णेरइयाण य । दोण्हं खओवसमिया, तं जहा—मणूसाणं पंचेंदिय-तिरिक्खजोणियाण य ।

[१९८२ प्र.] भगवन् ! अवधि (ज्ञान) कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९८२ उ.] गौतम ! अवधि (ज्ञान) दो प्रकार का कहा गया है । यथा—भव-प्रत्ययिक और क्षायोपशमिक । दो को भव-प्रत्ययिक अवधि (ज्ञान) होता है, यथा—देवों को और नारकों को । दो को क्षायोपशमिक होता है । यथा—मनुष्यों को और पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों को ।

विवेचन—अवधिज्ञान : स्वरूप और प्रकार—इन्द्रियों और मन की सहायता के विना आत्मा को अवधि-मर्यादा में होने वाला रूपी पदार्थों का ज्ञान **अवधिज्ञान** कहलाता है । जहाँ प्राणी कर्मों के वशीभूत होते हैं अर्थात् जन्म लेते हैं, वह है भव अर्थात् नारक आदि सम्बन्धी जन्म । भव जिसका कारण हो, वह **भवप्रत्ययिक** है । अवधिज्ञानावरणीय कर्म के उदयावलिका में प्रविष्ट अंश

---

१. (क) प्रज्ञापना० प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, पृ. ७७५-७७८

का वेदन होकर पृथक् हो जाना क्षय है और जो उदयावस्था को प्राप्त नहीं है, उसके विपाकोदय को दूर कर देना—स्थगित कर देना, उपशम कहलाता है। जिस अवधिज्ञान में क्षयोपशम ही मुख्य कारण हो, वह क्षयोपशम-प्रत्यय या क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है।[1]

किसे कौन-सा अवधिज्ञान और क्यों ?—भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान चारों जाति के देवों को तथा रत्नप्रभा आदि सातों नरकभूमियों के नारकों को होता है। प्रश्न होता है कि अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव में है और नारकादि भव औदयिक भाव में हैं, ऐसी स्थिति में देवों और नारकों को अवधिज्ञान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि वस्तुतः भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान भी क्षायोपशमिक ही है, किन्तु वह क्षयोपशम देव और नारक-भव का निमित्त मिलने पर अवश्यम्भावी होता है। जैसे—पक्षीभव में आकाशगमन की लब्धि अवश्य प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार देवभव और नारकभव का निमित्त मिलते ही देवों और नारकों को अवधिज्ञान की उपलब्धि अवश्यमेव हो जाती है।

दो प्रकार के प्राणियों का अवधिज्ञान क्षायोपशमिक अर्थात्—क्षयोपशम-निमित्तक है, वह है—मनुष्यों और पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों को। इन दोनों को अवधिज्ञान अवश्यम्भावी नहीं है, क्योंकि मनुष्य-भव और तिर्यञ्चभव के निमित्त से इन दोनों को अवधिज्ञान नहीं होता, बल्कि मनुष्यों या तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों में भी जिनके अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो जाए, उन्हें ही अवधिज्ञान प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। इसे कर्मग्रन्थ की भाषा में गुणप्रत्यय भी कहते हैं। यद्यपि पूर्वोक्त दोनों प्रकार के अवधिज्ञान क्षायोपशमिक ही हैं, तथापि पूर्वोक्त निमित्तभिन्नता के कारण दोनों में अन्तर है।[2]

द्वितीय : अवधि-विषय द्वार

१९८३. णेरइया णं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अद्धगाउयं, उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं ओहिणा जाणंति पासंति।

[१९८३ प्र.] भगवन् ! नैरयिक अवधि (ज्ञान) द्वारा कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९८३ उ.] गौतम ! वे जघन्यतः आधा गाऊ (गव्यूति) और उत्कृष्टतः चार गाऊ (क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१९८४. रयणप्पभापुढविणेरइया णं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अद्धुट्ठाइं गाउआइं, उक्कोसेणं चत्तारि गाउआइं ओहिणा जाणंति पासंति।

[१९८४ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक अवधि (ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते है ?

[१९८४ उ.] गौतम ! वे जघन्य साढ़े तीन गाऊ और उत्कृष्ट चार गाऊ (क्षेत्र) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ७८०
   (ख) पण्णवणासुत्तं भा. २ (प्रस्तावना) पृ. १४०-१४१

२. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ७८० से ७८४ तक

१९८५. सक्करप्पभापुढविणेरइया जहण्णेणं तिण्णि गाउआइं, उक्कोसेणं अद्धुट्ठाइं गाउआइं ओहिणा जाणंति पासंति।

[१९८५ प्र.] भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी के नारक अवधि (ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९८५ उ.] गौतम ! जघन्य तीन गाऊ और उत्कृष्ट साढ़े तीन गाऊ (क्षेत्र को) अवधि-(ज्ञान) से जानते देखते हैं।

१९८६. वालुयप्पभापुढविणेरइया जहण्णेणं अड्ढाइज्जाइं गाउयाइं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउआइं ओहिणा जाणंति पासंति।

[१९८६ प्र.] भगवन् ! वालुकाप्रभापृथ्वी के नारक अवधि(-ज्ञान)द्वारा कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९८६ उ.] गौतम ! वे जघन्य ढाई गाऊ और उत्कृष्ट तीन गाऊ (क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१९८७. पंकप्पभापुढविणेरइया जहण्णेणं दोण्णि गाउयाइं, उक्कोसेणं अड्ढाइज्जाइं गाउआइं ओहिणा जाणंति पासंति।

[१९८७ प्र.] भगवन् ! पंकप्रभापृथ्वी के नारक अवधि(ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९८७ उ.] गौतम ! वे जघन्य दो गाऊ और उत्कृष्ट ढाई गाऊ (प्रमाण क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१९८८. धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं दिवड्ढं गाउअं, उक्कोसेणं दो गाउआइं ओहिणा जाणंति पासंति।

[१९८८ प्र.] भगवन् ! धूमप्रभापृथ्वी के नारक अवधि (ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९८८ उ.] गौतम ! वे जघन्य डेढ़ गाऊ और उत्कृष्ट दो गाऊ (क्षेत्र को) अवधि(ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१९८९. तमापुढवि० ?

गोयमा ! जहण्णेणं गाउयं, उक्कोसेणं दिवड्ढं गाउयं ओहिणा जाणंति पासंति।

[१९८९ प्र.] भगवन् ! तमःप्रभापृथ्वी के नारक अवधि(ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९८९ उ.] गौतम ! वे जघन्य एक गाऊ और उत्कृष्ट डेढ़ गाऊ (क्षेत्र को) अवधि(ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१९९०. अहेसत्तमाए पुच्छा।

गोयमा ! जहण्णेणं अद्धगाउयं, उक्कोसेणं गाउयं ओहिणा जाणंति पासंति।

[१९९० प्र.] भगवन् ! अधःसप्तम (तमस्तमःप्रभा) पृथ्वी के नैरयिक कितने क्षेत्र को अवधि(ज्ञान) से जानते-देखते हैं ?

[१९९० उ.] गौतम ! वे जघन्य आधा गाऊ और उत्कृष्ट एक गाऊ (क्षेत्र को) अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१९९१. असुरकुमारा णं भंते ! ओहिणा केवतियं खेत्तं जाणंति पासंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं पणुवीसं जोयणाइं, उक्कोसेणं असंखेज्जे दीव-समुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति ।

[१९९१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारदेव अवधि(ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९९१ उ.] गौतम ! वे जघन्य पच्चीस योजन और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप-समुद्रों (पर्यन्त क्षेत्र को) अवधि(ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१९९२. णागकुमारा णं जहण्णेणं पणुवीसं जोयणाइं, उक्कोसेणं संखेज्जे दीव-समुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति ।

[१९९२ प्र.] भगवन् ! नागकुमारदेव अवधि(ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९९२ उ.] गौतम ! वे जघन्य पच्चीस योजन और उत्कृष्ट संख्यात द्वीप-समुद्रों (पर्यन्त क्षेत्र) को अवधि(ज्ञान) से जानते देखते हैं।

१९९३. एवं जाव थणियकुमारा ।

[१९९३] इसी प्रकार (सुपर्णकुमार से लेकर) यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त (अवधिज्ञान से जानने-देखने की जघन्य उत्कृष्ट सीमा का कथन करना चाहिए।)

१९९४. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं असंखेज्जे दीव-समुद्दे ।

[१९९४ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव अवधि(ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[१९९४ उ.] गौतम ! वे जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग को और उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप-समुद्रों (तक) को अवधि(ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

१९९५. मणूसा णं भंते ! ओहिणा केवतियं खेत्तं जाणंति पासंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोए लोयपमाणमेत्ताइं खंडाइं ओहिणा जाणंति पासंति ।

[१९९५ प्र.] भगवन् ! मनुष्य अवधि(ज्ञान) द्वारा कितने क्षेत्र को जानता-देखता है ?

[१९९५ उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र को और उत्कृष्ट अलोक में लोकप्रमाण असंख्यात खण्डों को अवधि(ज्ञान) द्वारा जानता-देखता है।

१९९६. वाणमंतरा जहा णागकुमारा (सु. १९९२) ।

[१९९६] वाणव्यन्तर देवों की जानने-देखने की क्षेत्र-सीमा (सू. १९९२ में उक्त) नागकुमार-देवों के समान जाननी चाहिए ।

१९९७. जोइसिया णं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ।

गोयमा ! जहण्णेणं संखेज्जे दीव-समुद्दे, उक्कोसेण वि संखिज्जे दीव-समुद्दे ।

[१९९७ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्कदेव कितने क्षेत्र को अवधि(ज्ञान) द्वारा जानते-देखते हैं ?

[१९९७ उ.] गौतम ! वे जघन्य संख्यात द्वीप-समुद्रों (तक) को तथा उत्कृष्ट भी संख्यात द्वीप-समुद्रों (पर्यन्त-क्षेत्र) को (अवधिज्ञान से जानते-देखते हैं ।)

१९९८. सोहम्मगदेवा णं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, तिरियं जाव असंखेज्जे दीव-समुद्दे, उड्ढं जाव सगाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति ।

[१९९८ प्र.] भगवन् ! सौधर्मदेव कितने क्षेत्र को अवधि(ज्ञान) द्वारा जानते-देखते हैं ?

[१९९८ उ.] गौतम ! वे जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भागक्षेत्र को और उत्कृष्टतः नीचे यावत् इस रत्नप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त तक, तिरछे यावत् असंख्यात द्वीप-समुद्रों (तक) और ऊपर अपने-अपने विमानों तक (के क्षेत्र) को अवधि(ज्ञान) द्वारा जानते-देखते हैं ।

१९९९. एवं ईसाणगदेवा वि ।

[१९९९] इसी प्रकार ईशानकदेवों के विषय में भी (कहना चाहिए ।)

२०००. सणंकुमारदेवा वि एवं चेव । णवरं अहे जाव दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते ।

[२०००] सनत्कुमार देवों की भी (अवधिज्ञानविषयक क्षेत्रमर्यादा) इसी प्रकार (पूर्ववत्) (समझना चाहिए ।) किन्तु विशेष यह है कि ये नीचे यावत् दूसरी शर्कराप्रभा (नरक-)पृथ्वी के निचले चरमान्त तक जानते-देखते हैं ।

२००१. एवं माहिंदगदेवा वि ।

[२००१] माहेन्द्रदेवों के विषय में भी इसी प्रकार (क्षेत्रमर्यादा समझनी चाहिए ।)

२००२. बंभलोग-लंतगदेवा तच्चाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते ।

[२००२] ब्रह्मलोक और लान्तकदेव (नीचे) तीसरी (वालुका-)पृथ्वी के निचले चरमान्त तक जानते-देखते हैं । शेष सब पूर्ववत् ।

२००३. महासुक्क-सहस्सारगदेवा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते ।

[२००३] महाशुक्र और सहस्रारदेव (नीचे) चौथी पंकप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त (तक जानते-देखते हैं ।)

२००४. आणय-पाणय-आरण-अच्चुयदेवा अहे जाव पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते।

[२००४] आनत, प्राणत, आरण और अच्युतदेव नीचे—यावत् पाँचवीं धूमप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त (पर्यन्त जानते-देखते हैं।)

२००५. हेट्ठिम-मज्झिमगेवेज्जगदेवा अहे छट्ठाए तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते।

[२००५] निचले और मध्यम ग्रैवेयकदेव यावत् नीचे छठी तमःप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त (पर्यन्त क्षेत्र को जानते-देखते हैं।)

२००६. उवरिमगेवेज्जगदेवा णं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं अहेसत्तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते, तिरियं जाव असंखेज्जे दीव-समुद्दे, उड्ढं जाव सगाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति।

[२००६ प्र.] भगवन् ! उपरिम ग्रैवेयकदेव अवधि(ज्ञान) से कितने क्षेत्र को जानते-देखते हैं ?

[२००६ उ.] गौतम ! वे जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग को और उत्कृष्ट नीचे अधःसप्तमपृथ्वी के निचले चरमान्त (पर्यन्त), तिरछे यावत् असंख्यात द्वीप-समुद्रों को तथा ऊपर यावत् अपने विमानों तक (के क्षेत्र को) अवधि(ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

२००७. अणुत्तरोववाइयदेवा णं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ?

गोयमा ! संभिन्नं लोगणालिं ओहिणा जाणंति पासंति।

[२००७ प्र.] भगवन् ! अनुत्तरौपपातिकदेव अवधि(ज्ञान) द्वारा कितने क्षेत्र को जानते देखते हैं ?

[२००७ उ.] गौतम ! वे सम्पूर्ण (सम्भिन्न) (चौदह रज्जू-प्रमाण) लोकनाडी को अवधि (ज्ञान) से जानते-देखते हैं।

विवेचन—विभिन्न जीवों की अवधिज्ञान से जानने-देखने की क्षेत्रमर्यादा—अवधिज्ञान के योग्य समस्त नारकों, देवों, मनुष्यों तथा पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों की अवधिज्ञान द्वारा जानने-देखने की क्षेत्रमर्यादा सू. १९८३ से २००७ तक में बताई गई है।

इसे सुगमता से समझने के लिए निम्नलिखित तालिका देखिए

क्रम	अवधिज्ञानयोग्य जीवों के नाम	जानने-देखने की जघन्य क्षेत्रसीमा	उत्कृष्ट क्षेत्रसीमा
१	समुच्चय नारक	आधा गाऊ	चार गाऊ
२	रत्नप्रभापृथ्वीनारक	साढ़े तीन गाऊ	चार गाऊ
३	शर्कराप्रभापृथ्वीनारक	तीन गाऊ	साढ़े तीन गाऊ
४	वालुकाप्रभापृथ्वीनारक	ढाई गाऊ	तीन गाऊ
५	पंकप्रभापृथ्वीनारक	दो गाऊ	ढाई गाऊ
६	धूमप्रभापृथ्वीनारक	डेढ़ गाऊ	दो गाऊ

क्रम	अवधिज्ञानयोग्य जीवों के नाम	जानने-देखने की जघन्य क्षेत्रसीमा	उत्कृष्ट क्षेत्रसीमा
७	तमःप्रभापृथ्वीनारक	एक गाऊ	डेढ़ गाऊ
८	तमस्तमःप्रभापृथ्वीनारक	आधा गाऊ	एक गाऊ
९	असुरकुमारदेव	पच्चीस योजन	असंख्यात द्वीप-समुद्र
१०	नागकुमारदेव	,, ,,	संख्यात द्वीप-समुद्र
११	सुपर्णकुमार से स्तनितकुमार तक के देव	,, ,,	,, ,,
१२	तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय	अंगुल के असंख्यातवें भाग	असंख्यात द्वीपसमुद्र
१३	मनुष्य	,, ,,	अलोक में लोकप्रमाण असंख्यात खण्ड (परमावधि की अपेक्षा से)
१४	वाणव्यन्तर	पच्चीस योजन	संख्यात द्वीपसमुद्र
१५	ज्योतिष्कदेव	संख्यात द्वीपसमुद्र	,, ,,
१६	सौधर्मदेव	अंगुल के असंख्यातवें भाग (उपपात के समय पूर्वभव सम्बन्धी सर्व जघन्य अवधि की अपेक्षा से)	नीचे रत्नप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त तक, तिरछे असंख्यात द्वीप-समुद्र तक, ऊपर अपने विमानों तक
१७	ईशानदेव	,, ,,	सौधर्मवत्
१८	सनत्कुमारदेव	,, ,,	नीचे शर्कराप्रभा के निचले चरमान्त तक, शेष सब सौधर्मवत्।
१९	माहेन्द्रदेव	,, ,,	सनत्कुमारवत्
२०	ब्रह्मलोक और लान्तकदेव	,, ,,	नीचे तीसरी पृथ्वी के निचले चरमान्त तक, शेष सब सौधर्मवत्
२१	महाशुक्र, सहस्रारदेव	,, ,,	नीचे चौथी पंकप्रभा के निचले चरमान्त तक, शेष सौधर्मवत्
२२	आनत, प्राणत, आरण, अच्युत	,, ,,	नीचे पंचमी धूमप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त तक, शेष पूर्ववत्
२३	अधस्तन, मध्यम ग्रैवेयकदेव	,, ,,	नीचे छठी तमःप्रभापृथ्वी के निचले चरमान्त तक, शेष सौधर्मवत्
२४	उपरिम ग्रैवेयकदेव	,, ,,	नीचे सातवीं नरक के निचले चरमान्त
२५	अनुत्तरौपपातिकदेव	सम्पूर्ण लोकनाडी	तक, तिरछे और ऊपर सौधर्मवत् जानते-देखते हैं।[1]

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ४१५ से ४१७ तक
(ख) प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ७९० से ८०१ तक

तृतीय : अवधिज्ञान का संस्थानद्वार

२००८. णेरइयाणं भंते ! ओही किंसंठिए पण्णत्ते ?

गोयमा ! तप्पागारसंठिए पण्णत्ते ।

[२००८ प्र.] भगवन् ! नारकों का अवधि(ज्ञान) किस आकार (संस्थान) वाला बताया गया है ?

[२००८ उ.] गौतम ! वह तप्र के आकार का कहा गया है ।

२००९. [१] असुरकुमाराणं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! पल्लगसंठिए ।

[२००९-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों का अवधि(ज्ञान) किस आकार का बताया गया है ?
[२००९-१ उ.] गौतम ! वह पल्लक के आकार का बताया गया है ।

[२] एवं जाव थणियकुमाराणं ।

[२००९-२] इसी प्रकार (नागकुमारों से लेकर) यावत् स्तनितकुमारों तक के अवधि-संस्थान के विषय में जानना चाहिए ।

२०१०. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[२०१० प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों का अवधि(ज्ञान) किस प्रकार का कहा गया है ?
[२०१० उ.] गौतम ! वह नाना आकारों वाला कहा गया है ।

२०११. एवं मणूसाण वि ।

[२०११] इसी प्रकार मनुष्यों के अवधि-संस्थान के विषय में जानना चाहिए ।

२११२. वाणमंतराणं पुच्छा ।

गोयमा ! पडहसंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[२०१२ प्र.] भगवन् ! वाणव्यन्तर देवों का अवधिज्ञान किस आकार का कहा गया है ?
[२०१२ उ.] गौतम ! वह पटह के आकार का कहा गया है ।

२०१३. जोतिसियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! झल्लरिसंठाणसंठिए पण्णत्ते ।

[२०१३ प्र.] ज्योतिष्कदेवों के अवधिसंस्थान के विषय में पूर्ववत् प्रश्न ?
[२०१३ उ.] गौतम ! वह झालर के आकार का कहा है ।

२०१४. [१] सोहम्मगदेवाणं पुच्छा ।

गोयमा ! उड्ढमुइंगागारसंठिए पण्णत्ते ।

[२०१४-१ प्र.] भगवन् ! सौधर्मदेवों के अवधि-संस्थान के विषय में पूर्ववत् पृच्छा ?
[२०१४-१ उ.] गौतम ! वह ऊर्ध्व मृदंग के आकार का कहा है ।

[२] एवं जाव अच्चुयदेवाणं पुच्छा।

[२०१४-२] इसी प्रकार यावत् अच्युतदेवों तक के अवधिज्ञान के आकार के विषय में समझना चाहिए।

२०१५. गेवेज्जगदेवाणं पुच्छा।

गोयमा ! पुप्फचंगेरिसंठिए पण्णत्ते।

[२०१५ प्र.] भगवन् ! ग्रैवेयकदेवों के अवधिज्ञान का आकार कैसा है ?

[२०१५ उ.] गौतम ! वह फूलों की चंगेरी (छबड़ी या टोकरी) के आकार का है।

२०१६. अणुत्तरोववाइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! जवणालियासंठिए ओही पण्णत्ते।

[२०१६ प्र.] भगवन् ! अनुत्तरौपपातिक देवों के अवधिज्ञान का आकार कैसा है ?

[२०१६ उ.] गौतम ! उनका अवधिज्ञान यवनालिका के आकार का कहा गया है।

विवेचन—जीवों के अवधिज्ञान के विविध आकार—नारकों का तप्राकार, भवनपतिदेवों का पल्लकाकार, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों का नाना आकार का, व्यन्तरदेवों का पटहाकार, ज्योतिष्कदेवों का झालर के आकार का, सौधर्मकल्प से अच्युतकल्प के देवों का ऊर्ध्वमृदंगाकार, ग्रैवेयक देवों का पुष्पचंगेरी के आकार का और अनुत्तरौपपातिक देवों का यवनालिका के आकार का अवधिज्ञान है। वस्तुतः अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र का आकार उपचार से अवधि का आकार कहा जाता है।

कठिन शब्दों का अर्थ—**तप्र**—नदी के वेग में बहता हुआ, दूर से लाया हुआ लम्बा और तिकोना काष्ठविशेष अथवा लम्बी और तिकोनी नौका। **पल्लक**—लाढ़देश में प्रसिद्ध धान भरने का एक पात्रविशेष, जो ऊपर और नीचे की ओर लम्बा, ऊपर कुछ सिकुड़ा हुआ, कोठी के आकार का होता है। **पटह**—ढोल (एक प्रकार का बाजा), **झल्लरी**—झालर, एक प्रकार का बाजा, जो गोलाकार होता है, इसे ढपली भी कहते हैं। **ऊर्ध्व-मृदंग**—ऊपर को उठा हुआ मृदंग जो नीचे विस्तीर्ण और ऊपर संक्षिप्त होता है। **पुष्पचंगेरी**—फूलों की चंगेरी, सूत से गूंथे हुए फूलों की शिखायुक्त चंगेरी। चंगेरी टोकरी या छबड़ी को भी कहते हैं। **यवनालिका**—कन्या की चोली।

अवधिज्ञान के आकार का फलितार्थ यह है कि भवनपतियों और वाणव्यन्तरदेवों का अवधिज्ञान ऊपर की ओर अधिक होता है और वैमानिकों का नीचे की ओर अधिक होता है। ज्योतिष्कों और नारकों का तिरछा तथा मनुष्यों और तिर्यञ्चों का विविध प्रकार का होता है।

पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों का अवधिज्ञान—जैसे स्वयम्भूरमणसमुद्र में मत्स्य नाना आकार के होते हैं, वैसे ही तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों एवं मनुष्यों में नाना आकार का होता है। वलयाकार भी होता है।[1]

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भाग १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ४१७-४१८

(ख) प्रज्ञापनासूत्र (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८०६ से ८१० तक

चतुर्थ : अवधि-आभ्यन्तर-बाह्यद्वार

२०१७. णेरइया णं भंते ! ओहिस्स किं अंतो बाहिं ?

गोयमा ! अंतो, नो बाहिं ।

[२०१७ प्र.] भगवन् ! क्या नारक अवधि(ज्ञान) के अन्दर होते हैं अथवा बाहर होते हैं ?

[२०१७ उ.] गौतम ! वे (अवधि के) अन्दर (मध्य में रहने वाले) होते हैं, बाहर नहीं ।

२०१८. एवं जाव थणियकुमारा ।

[२०१८ प्र.] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार तक जानना चाहिए ।

२०१९. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णो अंतो, बाहिं ।

[२०१९ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्च अवधि के अन्दर होते हैं अथवा बाहर ?

[२०१९ उ.] गौतम ! वे अन्दर नहीं होते, बाहर होते हैं ।

२०२०. मणूसाणं पुच्छा ।

गोयमा ! अंतो वि बाहिं पि ।

[२०२० प्र.] भगवन् ! मनुष्य अवधिज्ञान के अन्दर होते हैं या बाहर ?

[२०२० उ.] गौतम ! वे अन्दर भी होते हैं और बाहर भी होते हैं ।

२०२१. वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणियाणं जहा णेरइयाणं (सु. २०१७) ।

[२०२१] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकदेवों का कथन (सू. २०१७ में उक्त) नैरयिकों के समान है ।

विवेचन—आभ्यन्तरावधि और बाह्यावधि : स्वरूप और व्याख्या—जो अवधिज्ञान सभी दिशाओं में अपने प्रकाश्य क्षेत्र को प्रकाशित करता है तथा अवधिज्ञानी जिस अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के भीतर ही रहता है, वह आभ्यन्तरावधि कहलाता है । इससे जो विपरीत हो, वह बाह्यअवधि कहलाता है । बाह्यअवधि अन्तगत और मध्यगत के भेद से दो प्रकार है । जो अन्तगत हो अर्थात्—आत्मप्रदेशों के पर्यन्त भाग में स्थित (गत) हो वह **अन्तगत अवधि** कहलाता है । कोई अवधिज्ञान जब उत्पन्न होता है, तब वह स्पर्द्धक के रूप में उत्पन्न होता है । स्पर्द्धक उसे कहते हैं, जो गवाक्ष जाल आदि से बाहर निकलने वाली दीपक-प्रभा के समान नियत विच्छेद विशेषरूप है । वे स्पर्द्धक एक जीव के संख्यात और असंख्यात तथा नाना प्रकार के होते हैं । उनमें से पर्यन्तवर्ती आत्मप्रदेशों में सामने, पीछे, अधोभाग या ऊपरी भाग में उत्पन्न होता हुआ अवधिज्ञान आत्मा के पर्यन्त में स्थित हो जाता है, इस कारण वह **अन्तगत** कहलाता है । अथवा औदारिक शरीर के अन्त में जो गत—स्थित हो, वह अन्तगत कहलाता है, क्योंकि वह औदारिक शरीर को अपेक्षा से कदाचित् एक दिशा में जानता है । अथवा समस्त आत्मप्रदेशों में क्षयोपशम होने पर भी जो अवधिज्ञान औदारिक शरीर के अन्त में यानी किसी एक दिशा से जाना जाता है, वह अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है । अन्तगत अवधि तीन प्रकार का होता है—(१) पुरतः, (२) पृष्ठतः, (३) पार्श्वतः । मध्यगत अवधि उसे कहते हैं, जो आत्मप्रदेशों

के मध्य में गत—स्थित हो। अर्थात् जिसकी स्थिति आत्मप्रदेशों के मध्य में हो। अथवा समस्त आत्म-प्रदेशों में जानने का क्षयोपशम होने पर भी जिसके द्वारा औदारिक शरीर के मध्यभाग से जाना जाए वह भी मध्यगत कहलाता है। सारांश यह है कि जब अवधिज्ञान के द्वारा प्रकाशित क्षेत्र अवधिज्ञानी के साथ सम्बद्ध होता है, तब वह आभ्यन्तर-अवधि कहलाता है तथा जब अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र अवधिज्ञानी से सम्बद्ध नहीं रहता, तब वह बाह्यावधि कहलाता है।[1]

नारक और समस्त जाति के देव भवस्वभाव के कारण अवधिज्ञान के अन्तः—मध्य में ही रहने वाले होते हैं, बहिर्वर्ती नहीं होते। उनका अवधिज्ञान सभी ओर के क्षेत्र को प्रकाशित करता है, इसलिए वे अवधि के मध्य में ही होते हैं। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च तथाविध भवस्वभाव के कारण अवधि के अन्दर नहीं होते, बाहर होते हैं। उनका अवधिस्पर्द्धकरूप होता है जो बीच-बीच में छोड़कर प्रकाश करता है, मनुष्य अवधि के मध्यवर्ती भी होते हैं, बहिर्वर्ती भी।[2]

पंचम देशावधि-सर्वावधिद्वार

२०२२. णेरइया णं भंते ! किं देसोही सव्वोही ?

गोयमा ! देसोही, णो सव्वोही।

[२०२२ प्र.] भगवन् ! नारकों का अवधिज्ञान देशावधि होता है अथवा सर्वावधि ?
[२०२२ उ.] गौतम ! उनका अवधिज्ञान देशावधि होता है, सर्वावधि नहीं ?

२०२३. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[२०२३] इसी प्रकार (का कथन) *यावत् स्तनितकुमारों तक के विषय में (समझना चाहिए।)*

२०२४. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा।

गोयमा ! देसोही, णो सव्वोही।

[२०२४ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों का अवधि देशावधि होता है या सर्वावधि ?
[२०२४ उ.] गौतम ! वह देशावधि होता है, सर्वावधि नहीं।

२०२५. मणूसाणं पुच्छा।

गोयमा ! देसोही वि सव्वोही वि।

[२०२५ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों का अवधिज्ञान देशावधि होता है या सर्वावधि ?
[२०२५ उ.] गौतम ! उनका अवधिज्ञान देशावधि भी होता है, सर्वावधि भी होता है।

२०२६. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियाणं जहा णेरइयाणं (सु. २०२२)।

[२०२६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का (अवधि भी) (सू. २०२२ में उक्त) नारकों के समान (देशावधि होता है।)

विवेचन—देशावधि और सर्वावधि : स्वरूप एवं विश्लेषण—अवधिज्ञान तीन प्रकार का होता है—सर्वजघन्य, मध्यम और सर्वोत्कृष्ट। इनमें से सर्वजघन्य और मध्यम अवधि को देशावधि कहते हैं

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ७७३ से ७७५ तक

२. वही, भा. ५, पृ. ८१० से ८१२ तक

और सर्वोत्कृष्ट अवधि को परमावधि या **सर्वावधि** कहते हैं। सर्वजघन्य अवधिज्ञान द्रव्य की अपेक्षा तैजसवर्गणा और भाषावर्गणा के अपान्तरालवर्ती द्रव्यों को, क्षेत्र की अपेक्षा अंगुल के असंख्यातवें भाग को, काल की अपेक्षा आवलिका के असंख्यातवें भाग अतीत और अनागत काल को जानता है। यद्यपि अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है, इसलिए क्षेत्र और काल अमूर्त्त होने के कारण उनको साक्षात् ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि वे अरूपी हैं, तथापि उपचार से क्षेत्र और काल में जो रूपी द्रव्य होते हैं, उन्हें जानता है तथा भाव से अनन्त पर्यायों को जानता है। द्रव्य अनन्त होते हैं, अतः कम से कम प्रत्येक द्रव्य के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप चार पर्यायों को जानता है। यह हुआ **सर्वजघन्य** अवधिज्ञान। इससे आगे पुनः प्रदेशों की वृद्धि से, काल की वृद्धि से, पर्यायों की वृद्धि से बढ़ता हुआ अवधिज्ञान **मध्यम** कहलाता है। जब तक सर्वोत्कृष्ट अवधिज्ञान न हो जाए, तब तक मध्यम का ही रूप समझना चाहिए। **सर्वोत्कृष्ट** अवधिज्ञान द्रव्य की अपेक्षा समस्त रूपी द्रव्यों को जानता है, क्षेत्र की अपेक्षा सम्पूर्ण लोक को और अलोक में लोकप्रमाण असंख्यात खण्डों को जानता है, काल की अपेक्षा असंख्यात अतीत और अनागत उत्सर्पिणियों अवसर्पिणियों को जानता है तथा भाव की अपेक्षा अनन्त पर्यायों को जानता है, क्योंकि वह प्रत्येक द्रव्य की संख्यात-असंख्यात पर्यायों को जानता है।[1]

छठा-सातवाँ अवधि-क्षय-वृद्धि आदि द्वार

२०२७. णेरइयाणं भंते ! ओही किं आणुगामिए अणाणुगामिए वड्ढमाणए हायमाणए पडिवाई अपडिवाई अवट्ठिए अणवट्ठिए ?

गोयमा ! आणुगामिए, नो अणाणुगामिए नो वड्ढमाणए णो हायमाणए णो पडिवाई, अपडिवादी अवट्ठिए, णो अणवट्ठिए।

[२०२७ प्र.] भगवन् ! नारकों का अवधि (ज्ञान) क्या आनुगामिक होता है, अनानुगामिक होता है, वर्द्धमान होता है, हीयमान होता है, प्रतिपाती होता है, अप्रतिपाती होता है, अवस्थित होता है, अथवा अनवस्थित होता है ?

[२०२७ उ.] गौतम ! वह अनुगामिक है, किन्तु अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाती और अनवस्थित नहीं होता, अप्रतिपाती और अवस्थित होता है।

२०२८. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[२०२८] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) यावत् स्तनितकुमारों तक के विषय में जानना चाहिए।

२०२९. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा।

गोयमा ! आणुगामिए वि जाव अणवट्ठिए वि।

[२०२९ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों का अवधि(ज्ञान) आनुगामिक होता है ?, इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२०२९ उ.] गौतम ! वह आनुगामिक भी होता है, यावत् अनवस्थित भी होता है।

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ७७६ से ७७७ तक

२०३०. एवं मणूसाण वि ।

[२०३०] इसी प्रकार मनुष्यों के अवधिज्ञान के विषय में समझ लेना चाहिए ।

२०३१. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियाणं जहा णेरइयाणं (सु. २०२७) ।

।। पण्णवणाए भगवतीए तेत्तीसइमं ओहिपयं समत्तं ।।

[२०३१] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की वक्तव्यता (सू. २०२७ में उक्त) नारकों के समान जाननी चाहिए ।

विवेचन—आनुगामिक आदि पदों के लक्षण—(१) आनुगामिक (अनुगामी)—जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्र को छोड़ कर दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी अवधिज्ञानी के साथ विद्यमान रहता है, उसे आनुगामिक कहते हैं, अर्थात् जिस स्थान पर जिस जीव में यह अवधिज्ञान प्रकट होता है, वह जीव उस स्थान के चारों ओर सख्यात-असंख्यात योजन तक देखता है, इसी प्रकार उस जीव के दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी वह उतने क्षेत्र को जानता-देखता है, वह आनुगामिक कहलाता है । **(२) अनानुगामिक (अननुगामी)**—जो साथ न चले, किन्तु जिस स्थान पर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी स्थान में स्थित होकर पदार्थो को जाने, उत्पत्तिस्थान को छोड़ देने पर न जाने, उसे अनानुगामिक कहते हैं । तात्पर्य यह है कि अपने ही स्थान पर अवस्थित रहने वाला अवधिज्ञान अनानुगामी कहलाता है । **(३) वर्धमान**—जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अल्पविषय वाला हो और परिणामविशुद्धि के साथ प्रशस्त प्रशस्ततर अध्यवसाय के कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लिए बढ़े अर्थात् अधिकाधिक विषय वाला हो जाता है, वह **'वर्धमान'** कहलाता है । **(४) हीयमान**—जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषय वाला होने पर भी परिणामों की अशुद्धि के कारण क्रमशः अल्प, अल्पतर और अल्पतम विषय वाला हो जाए, उसे हीयमान कहते हैं । **(५) प्रतिपाती**—इसका अर्थ पतन होना, गिरना या समाप्त हो जाना है । जगमगाते दीपक के वायु के झोके से एकाएक बुझ जाने के समान जो अवधिज्ञान सहसा लुप्त हो जाता है उसे प्रतिपाती कहते हैं । यह अवधिज्ञान जीवन के किसी भी क्षण में उत्पन्न और लुप्त भी हो सकता है । **(६) अप्रतिपाती**—जिस अवधिज्ञान का स्वभाव पतनशील नहीं है, उसे अप्रतिपाती कहते हैं । केवलज्ञान होने पर भी अप्रतिपाती अवधिज्ञान नहीं जाता, क्योंकि वहाँ अवधिज्ञानावरण का उदय नहीं होता, जिससे जाए; अपितु वह केवलज्ञान में समाविष्ट हो जाता है । केवलज्ञान के समक्ष उसकी सत्ता अकिंचित्कर है । जैसे कि सूर्य के समक्ष दीपक का प्रकाश । यह अप्रतिपाती अवधिज्ञान बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के अन्तिम समय में होता है और उसके बाद तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होने के प्रथम समय के साथ केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है । इस अप्रतिपाती अवधिज्ञान को परमावधिज्ञान भी कहते हैं । हीयमान और प्रतिपाती में अन्तर यह है कि हीयमान का तो पूर्वापेक्षया धीरे-धीरे ह्रास हो जाता है, जबकि प्रतिपाती दीपक की तरह एक ही क्षण में नष्ट हो जाता है । **(७) अवस्थित**—जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में अवस्थित रहता है या केवलज्ञान की उत्पत्तिपर्यन्त ठहरता है, वह **अवस्थित** अवधिज्ञान कहलाता है । **(८) अनवस्थित**—जल की तरंग के समान जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत हो जाता है और कभी तिरोहित हो जाता

है, उसे **अनवस्थित** कहते हैं। ये दोनों भेद प्रायः प्रतिपाती और अप्रतिपाती के समान लक्षण वाले हैं, किन्तु नाममात्र का भेद होने से दोनों को अपेक्षाकृत पृथक्-पृथक् बताया है।[1]

निष्कर्ष—नारकों तथा चारों जाति के देवों का अवधिज्ञान आनुगामिक, अप्रतिपाती और अवस्थित होता है। तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों और मनुष्यों का अवधि पूर्वोक्त आठ ही प्रकार का होता है।[2]

॥ प्रज्ञापना भगवती का तेतीसवाँ अवधिपद समाप्त ॥

□□

१. कर्मग्रन्थ भाग १ (मरुधरकेसरी व्याख्या) भा. १, पृ. ४८ से ५१ तक
२. पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४१८

चउतीसइमं परियारणापयं

चौंतीसवाँ परिचारणापद

प्राथमिक

※ प्रज्ञापनासूत्र का यह चौंतीसवाँ परिचारणापद है। इसके बदले किसी-किसी प्रति में प्रविचारणा शब्द मिलता है, जो तत्त्वार्थसूत्र[1] के 'प्रवीचार' शब्द का मूल है। इसलिए परिचारणा अथवा प्रवीचार दोनों शब्द एकार्थक हैं।

※ कठोपनिषद् में भी 'परिचार' शब्द का प्रयोग मिलता है।

※ प्रवीचार या परिचारणा दोनों शब्दों का अर्थ मैथुनसेवन, इन्द्रियों का कामभोग, कामक्रीड़ा, रति, विषयभोग आदि किया गया है।

※ भारतीय साधकों ने विशेषत: जैनतीर्थंकरों ने देवों को मनुष्य जितना महत्त्व नहीं दिया है। देव मनुष्यों से भोगविलास में, वैषयिक सुखों में आगे बढ़े हुए अवश्य हैं तथा मनमाना रूप बनाने में दक्ष हैं, किन्तु मनुष्यजन्म को सबसे बढ़कर माना है, क्योंकि विषयों एवं कषायों से मुक्ति मनुष्यजन्म में ही, मनुष्ययोनि में ही सम्भव है। 'माणुसं खु दुल्लहं' कह कर भगवान् महावीर ने इसकी दुर्लभता का प्रतिपादन यत्र-तत्र किया है। यही कारण है कि मनुष्यजीवन की महत्ता बताने के लिए देवजीवन में विषयभोगों की उत्कृष्टता तथा नौ ग्रैवेयकों एवं पांच अनुत्तरविमानों के देवों के अतिरिक्त अन्य देवों में विषयभोगों की तीव्रता का स्पष्टत: प्रतिपादन किया गया है। देवजीवन में उच्चकोटि के देवों को छोड़कर अन्य देव इन्द्रिय-विषयभोगों का त्याग कर ही नहीं सकते। उच्चकोटि के वैमानिक देव भले ही परिचाररहित और देवीरहित हों, किन्तु वे ब्रह्मचारी नहीं कहला सकते, क्योंकि उनमें चारित्र के परिणाम नहीं होते। जबकि मनुष्यजीवन में महाव्रती—सर्वविरतिसाधक बनकर मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी अथवा अणुव्रती बन कर मर्यादित ब्रह्मचारी हो सकता है।

※ इस पद में देवों की परिचारणा का विविध पहलुओं से प्रतिपादन है।

※ यद्यपि प्रारम्भ में आहारसम्बन्धी वक्तव्यता होने से सहसा यह प्रतीत होता है कि आहारसम्बन्धी यह वक्तव्यता आहारपद में देनी चाहिए थी, परन्तु गहराई से समीक्षण करने पर यह प्रतीत होता है कि आहारसम्बन्धी वक्तव्यता यहाँ सकारण है। इसका कारण यह है कि परिचारणा या मैथुनसेवन का मूल आधार शरीर है, शरीर से सम्बन्धित स्पर्श, रूप, शब्द, मन, अंगोपांग, इन्द्रियाँ, शारीरिक लावण्य, सौष्ठव, चापल्य या वर्ण आदि हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने सर्वप्रथम

---

१. 'कायप्रवीचारा आ ऐशानात्, शेषा, स्पर्शरूपशब्दमन:प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः।' — तत्त्वार्थसूत्र ४।८, ९
प्रवीचारो-मैथुनोपसेवनम्। —सर्वार्थसिद्धि ४।७

शरीरनिर्माण की प्रक्रिया से इस पद को प्रारम्भ किया है। चौवीस दण्डकवर्ती जीव उत्पत्ति के प्रथम समय में आहार[1] लेने लगता है। तदनन्तर उसके शरीर की निष्पत्ति होती है। चारों ओर से पुद्गलों का ग्रहण होकर शरीर, इन्द्रियादि के रूप में परिणमन होता है। इन्द्रियाँ जब आहार से पुष्ट होती हैं तो उद्दीप्त होने पर जीव परिचारणा करता है, फिर विक्रिया करता है। देवों में पहले विक्रिया है फिर परिचारणा है। एकेन्द्रियों तथा विकलेन्द्रियों में परिचारणा है, विक्रिया नहीं होती है। परिचारणा में शब्दादि सभी विषयों का उपभोग होने लगता है।

* आहार की चर्चा के पश्चात् आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित आहार का उल्लेख किया है। प्रस्तुत में आभोगनिर्वर्तित का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—

  'मनःप्रणिधानपूर्वकमाहारं गृण्हन्ति' अर्थात् मनोयोगपूर्वक जो आहार ग्रहण किया जाए। अनाभोगनिर्वर्तित आहार का अर्थ है—इसके विपरीत जो आहार मनोयोगपूर्वक न किया गया हो। जैसे एकेन्द्रियों के मनोद्रव्यलब्धि पटु नहीं है, इसलिए उनके पटुतर आभोग (मनोयोग) नहीं होता।[2] परन्तु यहाँ रसनेन्द्रिय वाले प्राणी के मुख होने से उसे खाने की इच्छा होती है इसलिए एकेन्द्रिय में अनाभोगनिर्वर्तित आहार माना गया है। एकेन्द्रिय के सिवाय सभी जीव आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित दोनों प्रकार का आहार लेते हैं।

* इसके पश्चात् ग्रहण किये हुए आहार्यपुद्गलों को कौन जीव जानता-देखता है, कौन नहीं? इसकी चर्चा है।

* 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' इस सूक्ति के अनुसार आहार का अध्यवसाय के साथ सम्बन्ध होने से यहाँ आहार के बाद अध्यवसायस्थानों की चर्चा की गई है। चौवीस दण्डकों में प्रशस्त और अप्रशस्त अध्यवसायस्थान असंख्यात प्रकार के होते हैं। परिचारणा के साथ स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का निकट सम्बन्ध है। यही कारण है कि षट्खण्डागम में कर्म के स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के अध्यवसायस्थानों की विस्तृत चर्चा है।

* इसके पश्चात् चौवीस दण्डकों में सम्यक्त्वाभिगामी, मिथ्यात्वाभिगामी और सम्यग्-मिथ्यात्वाभिगामी की चर्चा है। परिचारणा के सन्दर्भ में यह प्रतिपादन किया गया है, इससे प्रतीत होता है कि सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी का परिचारणा के परिणामों पर पृथक्-पृथक् असर पड़ता है। सम्यक्त्वी द्वारा की गई परिचारणा और मिथ्यात्वी द्वारा की गई परिचारणा के भावों में रात-दिन का अन्तर होगा, तदनुसार कर्मबन्ध में भी अन्तर पड़ेगा।[3]

* यहाँ तक परिचारणा की पृष्ठभूमि के रूप में पांच द्वार शास्त्रकर ने प्रतिपादित किये हैं—

---

१. पण्णावणासुत्तं (प्रस्तावना) भा. २, पृ. १४५

२. (क) पण्णवणासुत्तं भा. २ (प्रस्तावना-परिशिष्ट) पृ. १४५
   (ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५४५
   (ग) पण्णवणासुत्तं भा. २ (मू. पा. टि.) पृ. १४६

३. (क) पण्णवणासुत्तं भा. २ (प्रस्तावना) पृ. १४६-१४७
   (ख) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मू. पा. टि.) पृ. १४६

(१) अनन्तराहारद्वार, (२) आहाराभोगद्वार, (३) पुद्‌गलज्ञानद्वार, (४) अध्यवसानद्वार और (५) सम्यक्त्वाभिगमद्वार।

※ इसके पश्चात् छठा परिचारणाद्वार प्रारम्भ होता है। परिचारणा को शास्त्रकार ने चार पहलुओं से प्रतिपादित किया है—(१) देवों के सम्बन्ध में परिचारणा की दृष्टि से निम्नलिखित तीन विकल्प सम्भव हैं, चौथा विकल्प सम्भव नहीं है। (I) सदेवीक सपरिचार देव (II) अदेवीक सपरिचार देव, (III) अदेवीक अपरिचार देव। कोई भी देव सदेवीक हो, साथ ही अपरिचार भी हो, ऐसा सम्भव नहीं। अतः उपर्युक्त तीन सम्भवित विकल्पों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—(१) भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशान वैमानिक में देवियाँ होती हैं। इसलिए इनमें कायिकपरिचारण (देव-देवियों का मैथुनसेवन) होती है। (२) सनत्कुमारकल्प से अच्युतकल्प के वैमानिक देवों में अकेले देव ही होते हैं, देवियाँ नहीं होतीं, इसके लिए द्वितीय विकल्प है—उन विमानों में देवियाँ नहीं होती, फिर भी परिचारणा होती है। (३) किन्तु नौ ग्रैवेयक और अनुत्तरविमानों में देवी भी नहीं होती और वहाँ के देवों द्वारा परिचारणा भी नहीं होती। यह तीसरा विकल्प है।

※ जिस देवलोक में देवी नहीं होती, वहाँ परिचारणा कैसे होती है? इसका समाधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—(१) सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प में स्पर्श-परिचारणा, (२) ब्रह्मलोक और लान्तककल्प में रूप-परिचारणा, (३) महाशुक्र और सहस्रारकल्प में शब्द-परिचारणा, (४) आनत-प्राणत तथा आरण-अच्युतकल्प में मनःपरिचारणा होती है।

※ कायपरिचारणा तब होती है, जब देवों में स्वतः इच्छा—मन की उत्पत्ति अर्थात् काय-परिचारणा की इच्छा होती है। और तब देवियाँ—अप्सराएँ मनोरम मनोज्ञ रूप तथा उत्तर-वैक्रिय शरीर धारण करके उपस्थित होती हैं।

※ देवों की कायिक-परिचारणा मनुष्य के कायिक मैथुनसेवन के समान देवियों के साथ होती है। शास्त्रकार ने आगे यह भी बताया है कि देवों में शुक्र-पुद्‌गल होते हैं, वे उन देवियों में संक्रमण करके पंचेन्द्रियरूप में परिणत होते हैं तथा अप्सरा के रूप-लावण्यवर्द्धक भी होते हैं। यहाँ एक विशेष वस्तु ध्यान देने योग्य है कि देव के उस शुक्र से अप्सरा में गर्भाधान नहीं होता, क्योंकि देवों के वैक्रियशरीर होता है। उनकी उत्पत्ति गर्भ से नहीं, किन्तु औपपातिक है।[1]

※ जहाँ स्पर्श, रूप एवं शब्द से परिचारणा होती है, उन देवलोकों में देवियाँ नहीं होतीं। किन्तु देवों को जब स्पर्शादि-परिचारणा की इच्छा होती है, तब अप्सराएँ (देवियाँ) विक्रिया करके स्वयं उपस्थित होती हैं। वे देवियाँ सहस्रारकल्प तक जाती हैं, यह खासतौर से ध्यान देने योग्य है। फिर वे देव क्रमशः (यथायोग्य) स्पर्शादि से ही सन्तुष्टि—तृप्ति अनुभव करते हैं। यही उनकी परिचारणा है। स्पर्शादि से परिचारणा करने वाले देवों के भी शुक्र-विसर्जन होता है।

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५४९
(ख) वही, केवलमेते वैक्रियशरीरान्तर्गता इति न गर्भाधानहेतवः। —पत्र ५५०-५५१

वृत्तिकार ने इस विषय में स्पष्टीकरण किया है कि देव-देवी का कायिक सम्पर्क न होने पर भी दिव्य-प्रभाव के कारण देवी में शुक्र-संक्रमण होता है और उसका परिणमन भी उन देवियों के रूप-लावण्य में वृद्धि करने में होता है।

※ आनत, प्राणत, आरण और अच्युतकल्प में केवल मन—(मन से) परिचारणा होती है। अतः उन-उन देवों की परिचारणा की इच्छा होने पर देवियाँ वहाँ उपस्थित नहीं होतीं, किन्तु वे अपने स्थान में रह कर ही मनोरम श्रृंगार करती हैं, मनोहर रूप बनाती हैं और वे देव अपने स्थान पर रहते हुए ही मनःसन्तुष्टि प्राप्त कर लेते हैं, साथ ही अपने स्थान में रही हुई वे देवियाँ भी दिव्य-प्रभाव से अधिकाधिक रूप-लावण्यवती बन जाती हैं।[1]

※ *प्रस्तुत पद के अन्तिम सप्तम द्वार में पूर्वोक्त सभी परिचारणाओं की दृष्टि से देवों के अल्प-*बहुत्व की विचारणा की गई है। उसमें उत्तरोत्तर वृद्धिगत क्रम इस प्रकार है,—(१) सबसे कम अपरिचारक देव हैं, (२) उनसे संख्यातगुणे अधिक मन से परिचारणा करने वाले देव हैं, (३) उनसे असंख्यातगुणा शब्द-परिचारक देव हैं, (४) उनकी अपेक्षा रूप-परिचारक देव असंख्यातगुणा हैं, (५) उनसे असंख्यातगुणा स्पर्श-परिचारक देव हैं और (६) इन सबसे कायपरिचारक देव असंख्यातगुणे हैं। इसमें उत्तरोत्तरवृद्धि का विपरीतक्रम परिचारणा में उत्तरोत्तर सुखवृद्धि की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ—सबसे कम सुख कायपरिचारणा में है और फिर उत्तरोत्तर सुखवृद्धि स्पर्श-रूप-शब्द और मन से परिचारणा में है। सबसे अधिक सुख अपरिचारणा वाले देवों में है। वृत्तिकार ने यह रहस्योद्घाटन किया है।[2]

---

१. (क) 'पुद्गल-संक्रमो दिव्यप्रभावादवसेयः।' —प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५५१
　(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५
　(ग) पण्णवणासुत्तं भा. २ (प्रस्तावना-परिशिष्ट) पृ. १४८

२. (क) पण्णवणासुत्तं, भा. २ (प्रस्तावना-परिशिष्ट) पृ. १४
　(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८७१

चउतीसइमं परियारणापयं

चौतीसवाँ परिचारणापद

चौतीसवें पद का अर्थाधिकार-प्ररूपण

२०३२. अणंतरागयआहारे १ आहाराभोगणाइ य २ ।
पोग्गला नेव जाणंति ३ अज्झवसाणा य आहिया ४ ।। २२३ ।।
सम्मत्तस्स अभिगमे ५ तत्तो परियारणा य बोद्धव्वा ६ ।
काए फासे रूवे सद्दे य मणे य अप्पबहुं ७ ।। २२४ ।।

[२०३२ अर्थाधिकारप्ररूपक-गाथार्थ] (१) अनन्तरागत आहार, (२) आहाराभोगता आदि, (३) पुद्‌गलों को नहीं जानते, (४) अध्यवसान, (५) सम्यक्त्व का अभिगम, (६) काय, स्पर्श, रूप, शब्द और मन से सम्बन्धित परिचारणा और (७) अन्त में काय आदि से परिचारणा करने वालों का अल्पबहुत्व, (इस प्रकार चौतीसवें पद का अर्थाधिकार) समझना चाहिए ।। २२३-२२४ ।।

विवेचन—चौतीसवें पद में प्रतिपाद्य विषय—प्रस्तुत पद में दो संग्रहणीगाथाओं द्वारा निम्नोक्त विषयों की प्ररूपणा की गई है—(१) सर्वप्रथम नारक आदि अनन्तरागत-आहारक हैं, इस विषय की प्ररूपणा है, (२) तत्पश्चात् उनका आहार आभोगजनित होता है या अनाभोगजनित ?, इत्यादि कथन है । (३) नारकादि जीव आहाररूप में गृहीत पुद्‌गलों को जानते-देखते हैं या नहीं ? इस विषय में प्रतिपादन है । (४) फिर नारकादि के अध्यवसाय के विषय में कथन है । (५) तत्पश्चात् नारकादि के सम्यक्त्वप्राप्ति का कथन है । (६) शब्दादि-विषयोपभोग की वक्तव्यता, तथा काय, स्पर्श, रूप, शब्द और मन सम्बन्धी परिचारणा का निरूपण है । (७) अन्त में, काय आदि से परिचारणा करने वालों के अल्प-बहुत्व की वक्तव्यता है ।[1]

प्रथम अनन्तराहारद्वार

२०३३. णेरइया णं भंते ! अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया ततो परियाइयणया ततो परिणामणया ततो परियारणया ततो पच्छा विउव्वणया ?

हंता गोयमा ! णेरइया णं अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया ततो परियादियणता तओ परिणामणया तओ परियारणया तओ पच्छा विउव्वणया ।

[२०३३ प्र.] भगवन् ! क्या नारक अनन्तराहारक होते हैं ?, उसके पश्चात् (उनके शरीर की) निष्पत्ति होती है ? फिर पर्यादानता, तदनन्तर परिणामना होती है ? तत्पश्चात् परिचारणा करते हैं ? और तब विकुर्वणा करते हैं ?

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ८१७.

[२०३३ उ.] हाँ, गौतम ! नैरयिक अनन्तराहारक होते हैं, फिर उनके शरीर की निष्पत्ति होती है, तत्पश्चात् पर्यादानता और परिणामना होती है, तत्पश्चात् वे परिचारणा करते हैं और तब वे विकुर्वणा करते हैं ।

२०३४. [१] असुरकुमारा णं भंते ! अणंतराहारा तओ णिव्वत्तणया तओ परियाइयणया तओ परिणामणया तओ विउव्वणया तओ पच्छा परियारणया ?

गोयमा ! असुरकुमारा अणंतराहारा तओ णिव्वत्तणया जाव तओ पच्छा परियारणया ।

[२०३४-१ प्र.] भगवन् ! क्या असुरकुमार भी अनन्तराहारक होते हैं ? फिर उनके शरीर की निष्पत्ति होती है ? फिर वे क्रमशः पर्यादान, परिणामना करते हैं ? और तत्पश्चात् विकुर्वणा और फिर परिचारणा करते हैं ?

[२०३४-१ उ.] हाँ, गौतम ! असुरकुमार अनन्तराहारी होते हैं, फिर उनके शरीर की निष्पत्ति होती है यावत् फिर वे परिचारणा करते हैं ।

[२] एवं जाव थणियकुमारा ।

[२०३४-२] इसी प्रकार की वक्तव्यता यावत् स्तनितकुमारपर्यन्त कहनी चाहिए ।

२०३५. पुढविक्काइया णं भंते ! अणंतराहारा तओ णिव्वत्तणया तओ परियाइयणया तओ परिणामणया य तओ परियारणया ततो विउव्वणया ?

हंता गोयमा ! तं चेव जाव परियारणया, णो चेव णं विउव्वणया ।

[२०३५ प्र.] भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक अनन्तराहारक होते हैं ? फिर उनके शरीर की निष्पत्ति होती है । तत्पश्चात् पर्यादानता, परिणामना, फिर परिचारणा और तब क्या विकुर्वणा होती है ?

[२०३५ उ.] हाँ गौतम ! पृथ्वीकायिक की वक्तव्यता यावत् परिचारणापर्यन्त पूर्ववत् कहनी चाहिए किन्तु वे विकुर्वणा नहीं करते ।

२०३६. एवं जाव चउरिंदिया । णवरं वाउक्काइया पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य जहा णेरइया (सु. २०३३) ।

[२०३६] इसी प्रकार कथन यावत् चतुरिन्द्रियपर्यन्त करना चाहिए । विशेष यह है कि वायुकायिक जीव, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्यों के विषय में (सू. २०३३ में उक्त) नैरयिकों के कथन के समान जानना चाहिए ।

२०३७. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा (सु. २०३४) ।

[२०३७] वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिकों की वक्तव्यता असुरकुमारों की वक्तव्यता के समान जाननी चाहिए ।

विवेचन—अनन्तराहार से विकुर्वणा तक के क्रम की चर्चा—नारक आदि चौबीसदण्डकवर्ती जीवों के विषय में प्रथम द्वार में अनन्तराहार, निष्पत्ति, पर्यादानता, परिणामना, परिचारणा और विकुर्वणा के क्रम की चर्चा की गई है।[1]

अनन्तराहारक आदि का विशेष अर्थ—अनन्तराहारक—उत्पत्ति क्षेत्र में आने के समय ही आहार करने वाले। **निर्वर्तना**—शरीर की निष्पत्ति, **पर्यादानता**—आहार्य पुद्‌गलों को ग्रहण करना। **परिणामना**—गृहीत पुद्‌गलों को शरीर, इन्द्रिय आदि के रूप में परिणत करना। **परिचारणा**—यथायोग्य शब्दादि विषयों का उपभोग करना। **विकुर्वणा**—वैक्रियलब्धि के सामर्थ्य से विक्रिया करना।

प्रश्न का आशय—यह है कि नारक आदि अनन्तराहारक होते हैं ? अर्थात्—क्या उत्पत्तिक्षेत्र में पहुँचते ही समय के व्यवधान के बिना ही वे आहार करते हैं ? तत्पश्चात् क्या उनके शरीर की निर्वर्तना-निष्पत्ति (रचना) होती है ? शरीरनिष्पत्ति के पश्चात् क्या अंग-प्रत्यंगों द्वारा लोमाहार आदि से पुद्‌गलों का पर्यादान—ग्रहण होता है ? फिर उन गृहीत पुद्‌गलों का शरीर, इन्द्रिय आदि के रूप में परिणमन होता है ? परिणमन के बाद इन्द्रियाँ पुष्ट होने पर क्या वे परिचारणा करते हैं ? अर्थात्—यथायोग्य शब्दादि विषयों का उपभोग होता है ? और फिर क्या वे अपनी वैक्रियलब्धि के सामर्थ्य से विक्रिया करते हैं ?[2]

उत्तर का सारांश—भगवान् द्वारा इस क्रमबद्ध प्रक्रिया का 'हाँ' में उत्तर दिया गया है। किन्तु वायुकायिक को छोड़कर शेष एकेन्द्रियों एवं विकलेन्द्रियों में विकुर्वणा नहीं होती, क्योंकि ये वैक्रियलब्धि नहीं प्राप्त कर सकते। दूसरी विशेष बात यह है कि भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों, इन चारों प्रकार के देवों में विकुर्वणा पहले होती है, परिचारणा बाद में, जबकि नारकों आदि शेष जीवों में परिचारणा के पश्चात् विकुर्वणा का क्रम है। देवगणों का स्वभाव ही ऐसा है कि विशिष्ट शब्दादि के उपभोग की अभिलाषा होने पर पहले वे अभीष्ट वैक्रिय रूप बनाते हैं, तत्पश्चात् शब्दादि का उपभोग करते हैं, किन्तु नैरयिक आदि जीव शब्दादि-उपभोग प्राप्त होने पर हर्षातिरेक से विशिष्टतम शब्दादि के उपभोग की अभिलाषा के कारण विक्रिया करते हैं। इस कारण देवों की वक्तव्यता में पहले विक्रिया और बाद में परिचारणा का कथन किया गया है।[3]

द्वितीय आहाराभोगताद्वार

२०३८. णेरइयाणं भंते ! आहारे किं आभोगणिव्वत्तिए अणाभोगणिव्वत्तिए ?

गोयमा ! आभोगणिव्वत्तिए वि अणाभोगणिव्वत्तिए वि।

[२०३८ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों का आहार आभोग-निर्वर्तित होता है या अनाभोग-निर्वर्तित ?

---

१. पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ४१९

२. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५ पृ. ८२१

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५४४

३. वही, मलयवृत्ति, पत्र ५४४

[२०३८ उ.] गौतम ! उनका आहार आभोग-निर्वर्तित भी होता है और अनाभोग-निर्वर्तित भी होता है।

२०३९. एवं असुरकुमाराणं जाव वेमाणियाणं। णवरं एगिंदियाणं णो आभोगणिव्वत्तिए, अणाभोगणिव्वत्तिए।

[२०३९] इसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर यावत् वैमानिकों तक (कहना चाहिए।) विशेष यह है कि एकेन्द्रिय जीवों का आहार आभोगनिर्वर्तित नहीं होता, किन्तु अनाभोगनिर्वर्तित होता है।

विवेचन—आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित का स्वरूप—यद्यपि आहारपद (२८ वाँ पद) में इन दोनो प्रकार के आहारों की चर्चा की गई है और आहार-सम्बन्धी यह चर्चा भी उसी पद में होनी चाहिए थी, परन्तु परिचारणा के पूर्व की प्रक्रिया बताने हेतु आभोग-अनाभोगनिर्वर्तितता की चर्चा की गई है। वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने मन:प्रणिधानपूर्वक ग्रहण किये जाने वाले आहार को आभोगनिर्वर्तित कहा है। इसलिए नारक आदि जब मनोयोगपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं, तब वह आभोगनिर्वर्तित होता है, और जब वे मनोयोग के बिना ही आहार ग्रहण करते हैं, तब अनाभोगनिर्वर्तित आहार यानी लोमाहार करते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में अत्यन्त अल्प और अपटु मनोद्रव्यलब्धि होती है, इसलिए पटुतम मनोयोग न होने के कारण उनके आभोगनिर्वर्तित आहार नहीं होता।[1]

तृतीय पुद्गलज्ञानद्वार

२०४०. णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते किं जाणंति पासंति आहारेंति ? उयाहु ण जाणंति ण पासंति आहारेंति ?

गोयमा ! ण जाणंति ण पासंति, आहारेंति।

[२०४० प्र.] भगवन् ! नैरयिक जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या वे उन्हें जानते हैं, देखते हैं और उनका आहार करते हैं, अथवा नहीं जानते, नहीं देखते हैं किन्तु आहार करते हैं ?

[२०४० उ.] गौतम ! वे न तो जानते हैं और न देखते हैं, किन्तु उनका आहार करते हैं।

२०४१. एवं जाव तेइंदिया।

[२०४१] इसी प्रकार (असुरकुमारादि से लेकर) यावत्—त्रीन्द्रिय तक (कहना चाहिए।)

२०४२. चउरिंदियाणं पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगइया ण जाणंति पासंति आहारेंति, अत्थेगइया ण जाणंति ण पासंति आहारेंति।

[२०४२ प्र.] चतुरिन्द्रियजीव क्या आहार के रूप में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों को जानते-देखते हैं, और आहार करते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५ पृ. ८३१-८३२

[२०४२ उ.] गौतम ! कई चतुरिन्द्रिय आहार्यमाण पुद्गलों को नहीं जानते, किन्तु देखते हैं और कई चतुरिन्द्रिय न तो जानते हैं, न देखते हैं, किन्तु आहार करते हैं।

२०४३. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारेंति १ अत्थेगइया जाणंति न पासंति आहारेंति २ अत्थेगइया ण जाणंति पासंति आहारेंति ३ अत्थेगइया ण जाणंति ण पासंति आहारेंति ४।

[२०४३ प्र.] पंचेन्द्रियतिर्यंचों के विषय में पूर्ववत् प्रश्न।

[२०४३ उ.] गौतम ! कतिपय पंचेन्द्रियतिर्यञ्च (आहार्यमाण पुद्गलों को) जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं १, कतिपय जानते हैं, देखते नहीं और आहार करते हैं, २, कतिपय जानते नहीं देखते हैं और आहार करते हैं ३, कई पंचेन्द्रियतिर्यञ्च न तो जानते हैं और न ही देखते हैं, किन्तु आहार करते हैं ४।

२०४४. एवं मणूसाण वि।

[२०४४] इसी प्रकार मनुष्यों के विषय में (जानना चाहिए।)

२०४५. वाणमंतर-जोतिसिया जहा णेरइया (सु. २०४०)।

[२०४५] वाणव्यन्तरों और ज्योतिष्कों का कथन नैरयिकों के समान (समझना चाहिए।)

२०४६. वेमाणियाणं पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारेंति १ अत्थेगइया ण जाणंति ण पासंति आहारेंति २।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारेंति अत्थेगइया ण जाणंति ण पासंति आहारेंति ?

गोयमा ! वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—माइमिच्छद्दिट्ठिउववण्णगा य अमाइसम्मद्दिट्ठिउववण्णगा य, एवं जहा इंदियउद्देसए पढमे भणियं (सु. ९९८) तहा भाणियव्वं जाव से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति०।

[२०४६ प्र.] भगवन् ! वैमानिक देव जिन पुद्गलों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, क्या वे उनको जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं ? अथवा वे न जानते हैं, न देखते हैं और आहार करते हैं ?

[२०४६ उ.] गौतम ! (१) कई वैमानिक जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं और (२) कई न तो जानते हैं, न देखते हैं, किन्तु आहार करते हैं।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि (१) कई वैमानिक (आहार्यमाण पुद्गलों को) जानते-देखते हैं और आहार करते हैं और (२) कई वैमानिक उन्हें न तो जानते हैं, न देखते हैं किन्तु आहार करते हैं ?

[उ.] गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—मायीमिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायीसम्यग्दृष्टि-उपपन्नक। इस प्रकार जैसे (सू. ९९८ में उक्त) प्रथम इन्द्रिय-उद्देशक में कहा है, वैसे ही यहाँ सब यावत्—'इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा गया है', यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—चौवीसदण्डकवर्ती जीवों द्वारा आहार्यमाण पुद्गलों के जानने-देखने पर—यहाँ विचार किया गया है। नीचे एक तालिका दी जा रही है, जिससे आसानी से जाना जा सके—

१. नैरयिक	जानते हैं, देखते हैं, आहार करते हैं	नहीं जानते, न देखते, आहार करते हैं
भवनपति	— —	,, ,,
वाणव्यन्तर	— —	,, ,,
ज्योतिष्क	— —	,, ,,
एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय	— —	,, ,,
२. चतुरिन्द्रिय जीव	(१) कई जानते, देखते, आहार करते हैं। (२) कई जानते हैं, देखते नहीं, आहार करते हैं।	— —
३. पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, मनुष्य	(१) कई जानते, देखते व आहार करते हैं। (२) कई जानते हैं, देखते नहीं, आहार करते हैं।	(३) कई जानते नहीं, देखते हैं और आहार करते हैं। (४) न देखते, न जानते, और आहार करते हैं।
४. वैमानिक देव	(१) कई जानते, देखते और आहार करते हैं।	(२) कई नहीं जानते, नहीं देखते, आहार करते हैं।[1]

स्पष्टीकरण—नैरयिक और भवनपतिदेव एवं एकेन्द्रिय आदि जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, उन्हें नहीं जानते, क्योंकि उनका लोमाहार होने से अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण उनके ज्ञान का विषय नहीं होता। वे देखते भी नहीं। क्योंकि वह दर्शन का विषय नहीं होता। अज्ञानी होने के कारण द्वीन्द्रिय सम्यग्ज्ञान से रहित होते हैं, अतएव उन पुद्गलों को भी वे नहीं जानते-देखते। उनका मति-अज्ञान भी इतना अस्पष्ट होता है कि स्वयं जो प्रक्षेपाहार वे ग्रहण करते हैं, उसे भी नहीं जानते। चक्षुरिन्द्रिय का अभाव होने से वे उन पुद्गलों को देख भी नहीं सकते।[2]

चतुरिन्द्रिय के दो भंग—कोई चतुरिन्द्रिय आहार्यमाण पुद्गलों को जानते नहीं, किन्तु देखते हैं, क्योंकि उनके चक्षुरिन्द्रिय होती है और आहार करते हैं। किन्हीं चतुरिन्द्रिय के आँख होते हुए भी अन्धकार के कारण उनके चक्षु काम नहीं करते, अतः वे देख नहीं पाते, किन्तु आहार करते हैं। पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों के विषय में आहार्य पुद्गलों को जानने-देखने के सम्बन्ध में चार भंग पाए जाते हैं।[3]

---

१. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. ४२०

२. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५४५
   (ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका सहित) भा. ५, पृ. ८३३-८३४

३. (क) वही, भा. ५, पृ. ८३५ से ८३९
   (ख) प्रज्ञापना. मलयगिरिवृत्ति, पत्र ५४५

प्रक्षेपाहार की दृष्टि से चार भंग—(१) कोई जानते हैं, देखते हैं और आहार करते हैं। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य प्रक्षेपाहारी होते हैं, इसलिए इनमें जो सम्यग्ज्ञानी होते हैं, वे वस्तु-स्वरूप के ज्ञाता होने के कारण प्रक्षेपाहार को जानते हैं तथा चक्षुरिन्द्रिय होने से देखते भी हैं और आहार करते हैं। यह प्रथम भंग हुआ। (२) कोई जानते हैं, देखते नहीं और आहार करते हैं। सम्यग्ज्ञानी होने से कोई-कोई जानते तो हैं, किन्तु अन्धकार आदि के कारण नेत्र के काम न करने से देख नहीं पाते। यह द्वितीय भंग हुआ। (३) कोई जानते नहीं हैं, किन्तु देखते हैं और आहार करते हैं। कोई-कोई मिथ्याज्ञानी होने से जानते नहीं हैं, क्योंकि उनमें सम्यग्ज्ञान नहीं होता, किन्तु वे चक्षुरिन्द्रिय के उपयोग से देखते हैं। यह तृतीय भंग हुआ। (४) कोई जानते भी नहीं, देखते भी नहीं, किन्तु आहार करते हैं। कोई मिथ्याज्ञानी होने से जानते नहीं तथा अन्धकार के कारण नेत्रों का व्याघात हो जाने के कारण देखते भी नहीं पर आहार करते हैं। यह चतुर्थ भंग हुआ।

लोमाहार की अपेक्षा से चार भंग—(१) कोई कोई तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय एवं मनुष्य विशिष्ट अवधिज्ञान के कारण लोमाहार को भी जानते हैं और विशिष्ट क्षयोपशम होने से इन्द्रियपटुता अति विशुद्ध होने के कारण देखते भी हैं और आहार करते हैं। (२) कोई कोई जानते तो हैं, किन्तु इन्द्रिय-पाटव का अभाव होने से देखते नहीं है। (३) कोई जानते नहीं, किन्तु इन्द्रियपाटवयुक्त होने के कारण देखते हैं। (४) कोई मिथ्याज्ञानी होने से अवधिज्ञान के अभाव में जानते नहीं और इन्द्रियपाटव का अभाव होने से देखते भी नहीं पर आहार करते हैं।

वैमानिकों में दो भंग- (१) कोई जानते नहीं, देखते भी नहीं, किन्तु आहार करते हैं। जो मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक होते हैं, वे नौ ग्रैवेयक देवों तक पाये जाते हैं, वे अवधिज्ञान से मनोमय आहार के योग्य पुद्‌गलों को जानते नहीं हैं, क्योंकि उनका विभंगज्ञान उन पुद्‌गलों को जानने में समर्थ नहीं होता और इन्द्रियपटुता के अभाव के कारण चक्षुरिन्द्रिय से वे देख भी नहीं पाते। (२) जो वैमानिक देव अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक होते हैं, वे भी दो प्रकार के होते हैं—अनन्तरोप-पपन्नक और परम्परोपपन्नक। इन्हें क्रमशः प्रथमसमयोत्पन्न और अप्रथमसमयोत्पन्न भी कह सकते हैं। अनन्तरोपपन्नक नहीं जानते और नहीं देखते हैं, क्योंकि प्रथम समय में उत्पन्न होने के कारण उनके अवधिज्ञान का तथा चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग नहीं होता। परम्परोपपन्नकों में भी जो अपर्याप्त होते हैं, वे नहीं जानते और न ही देखते हैं, क्योंकि पर्याप्तियों की अपूर्णता के कारण उनके अवधिज्ञाना-नादि का उपयोग नहीं लग सकता। पर्याप्तकों में भी जो अनुपयोगवान् होते हैं, वे नहीं जानते, न ही देखते हैं। जो उपयोग लगाते हैं, वे ही वैमानिक आहार के योग्य पुद्‌गलों को जानते-देखते हैं और आहार करते हैं। पांच अनुत्तरविमानवासी देव अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक ही होते हैं और उनके क्रोधादि कषाय बहुत ही मन्दतर होते हैं, या वे उपशान्तकषायी होते हैं, इसलिए अमायी भी होते हैं।[1]

चतुर्थ अध्यवसायद्वार

२०४७. णेरइयाणं भंते ! केवतिया अज्झवसाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पण्णत्ता।

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४६

(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८४१

ते णं भंते ! किं पसत्था अप्पसत्था ?

गोयमा ! पसत्था वि अप्पसत्था वि ।

[२०४७ प्र.] भगवन् ! नारकों के कितने अध्यवसान (अध्यवसाय) कहे गए हैं ?

[२०४७ उ.] गौतम ! उनके असंख्येय अध्यवसान कहे हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (नारकों के) वे अध्यवसान प्रशस्त होते हैं या अप्रशस्त ?

[उ.] गौतम ! वे प्रशस्त भी होते हैं, अप्रशस्त भी होते हैं ।

२०४८. एवं जाव वेमाणियाणं ।

[२०४८] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक का कथन जानना चाहिए ।

विवेचन—अध्यवसायद्वार के सम्बन्ध में यत्किंचित्—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के अध्यवसाय असंख्यात बताए हैं । वे अध्यवसाय प्रशस्त, अप्रशस्त दोनों प्रकार के असंख्यात होते रहते हैं । प्रत्येक समय में पृथक्-पृथक् संख्यातीत अध्यवसाय लगातार होते हैं ।[1]

पंचम सम्यक्त्वाभिगमद्वार

२०४९. णेरइया णं भंते ! किं सम्मत्ताभिगमी मिच्छत्ताभिगमी सम्मामिच्छत्ताभिगमी ?

गोयमा ! सम्मत्ताभिगमी वि मिच्छत्ताभिगमी वि सम्मामिच्छत्ताभिगमी वि ।

[२०४९] भगवन् ! नारक सम्यक्त्वाभिगमी होते हैं, अथवा मिथ्यात्वाभिगमी होते हैं, या सम्यग्मिथ्यात्वाभिगमी होते है ?

[२०४९ उ.] गौतम ! वे सम्यक्त्वाभिगमी भी हैं, मिथ्यात्वाभिगमी भी हैं और सम्यग्-मिथ्यात्वाभिगमी भी होते हैं ।

२०५०. एवं जाव वेमाणिया । णवरं एगिंदिय-विगलिंदिया णो सम्मत्ताभिगमी, मिच्छत्ता-भिगमी, णो सम्मामिच्छत्ताभिगमी ।

[२०५०] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए । विशेष यह है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय केवल मिथ्यात्वाभिगमी होते हैं, वे न तो सम्यक्त्वाभिगमी होते हैं और न ही सम्यग्-मिथ्यात्वाभिगमी होते हैं ।

विवेचन—पंचमद्वार का आशय—प्रस्तुत द्वार में नारक आदि चौवीस दण्डकों के विषय में सम्यक्त्वाभिगमी (अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति वाले), मिथ्यात्वाभिगमी (अर्थात् मिथ्यादृष्टि की प्राप्ति वाले) अथवा सम्यग्मिथ्यात्वाभिगमी (अर्थात् मिश्रदृष्टि वाले) हैं, ये प्रश्न हैं ।

एकेन्द्रिय मिथ्याभिगामी ही क्यों ?—एकेन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते, इसलिए वे केवल मिथ्यादृष्टि ही होते हैं । किसी-किसी विकलेन्द्रिय में सास्वादन सम्यक्त्व पाया जाता है, तथापि अल्पकालिक होने से यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की गई है, क्योंकि वे मिथ्यात्व की ओर ही अभिमुख होते हैं ।[2]

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ४४६
   (ख) प्रज्ञापना (प्रमेयोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ८४१

२. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५ पृ. ८४२
   (ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति पत्र ५४६

छठा परिचारणाद्वार

२०५१. देवा णं भंते ! किं सदेवीया सपरियारा सदेवीया अपरियारा अदेवीया सपरियारा अदेवीया अपरियारा ?

गोयमा ! अत्थेगइया देवा सदेवीया सपरियारा १ अत्थेगइया देवा अदेवीया सपरियारा २ अत्थेगइया देवा अदेवीया अपरियारा ३ णो चेव णं देवा सदेवीया अपरियारा ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति अत्थेगइया देवा सदेवीया सपरियारा तं चेव जाव णो चेव णं देवा सदेवीया अपरियारा ?

गोयमा ! भवणवति-वाणमंतर-जोतिस-सोहम्मीसाणेसु कप्पेसु देवा सदेवीया सपरियारा, सणंकुमार-माहिंद-बंभलोग-लंतग-महासुक्क-सहस्सार-आणय-पाणय-आरण-अच्चुएसु कप्पेसु देवा अदेवीया सपरियारा, गेवेज्जऽणुत्तरोववाइयदेवा अदेवीया अपरियारा, णो चेव णं देवा सदेवीया अपरियारा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति अत्थेगइया देवा सदेवीया सपरियारा तं चेव जाव णो चेव णं देवा सदेवीया अपरियारा ।

[२०५१ प्र.] भगवन् ! (१) क्या देव देवियों सहित और सपरिचार (परिचारयुक्त) होते हैं ?, (२) अथवा वे देवियोंसहित एवं अपरिचार (परिचाररहित) होते हैं ?, (३) अथवा वे देवीरहित एवं परिचारयुक्त होते हैं ? या (४) देवीरहित एवं परिचाररहित होते हैं ?

[२०५१ उ.] गौतम ! (१) कई देव देवियोंसहित सपरिचार होते हैं, (२) कई देव देवियों के बिना सपरिचार होते हैं और (३) कई देव देवीरहित और परिचाररहित होते हैं, किन्तु कोई भी देव देवियों सहित अपरिचार (परिचाररहित) नहीं होते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि कई देव देवीसहित सपरिचार होते हैं, इत्यादि यावत् देवियों सहित परन्तु अपरिचार नहीं होते ।

[उ.] गौतम ! भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म तथा ईशानकल्प के देव देवियों सहित और परिचारसहित होते हैं । सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युतकल्पों में देव, देवीरहित किन्तु परिचारसहित होते हैं । नौ ग्रैवेयक और पंच अनुत्तरौपपातिक देव देवीरहित और परिचाररहित होते हैं । किन्तु ऐसा कदापि नहीं होता कि देव देवीसहित हों, साथ ही परिचार-रहित हों ।

२०५२. [१] कतिविहा णं भंते ! परियारणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा—कायपरियारणा १ फासपरियारणा २ रूवपरियारणा ३ सद्दपरियारणा ४ मणपरियारणा ५ ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति पंचविहा परियारणा पण्णत्ता तं जहा-कायपरियारणा जाव मणपरियारणा ?

गोयमा ! भवणवति-वाणमंतर-जोइससोहम्मीसाणेसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा, सणंकुमार-माहिंदेसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा, बंभलोय-लंतगेसु कप्पेसु देवा रूवपरियारगा, महासुक्क-सहस्सारेसु देवा सद्दपरियारगा, आणय-पाणय-आरण-अच्चुएसु कप्पेसु देवा मणपरियारगा, गेवेज्जअणुत्तरोववाइया देवा अपरियारगा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! तं चेव जाव मणपरियारगा।

[२०५२-१ प्र.] भगवन् ! परिचारणा कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०५२-१ उ.] गौतम ! परिचारणा पांच प्रकार की कही गई है। यथा—(१) कायपरिचारणा, (२) स्पर्शपरिचारणा, (३) रूपपरिचारणा, (४) शब्दपरिचारणा और (५) मनःपरिचारणा।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा गया कि परिचारणा पांच प्रकार की है, यथा—कायपरिचारणा यावत् मनःपरिचारणा ?

[उ.] गौतम ! भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशानकल्प के देव कायपरिचारक होते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प में देव स्पर्शपरिचारक होते हैं। ब्रह्मलोक और लान्तककल्प में देव रूपपरिचारक होते हैं।[1] महाशुक्र और सहस्रारकल्प में देव शब्द-परिचारक होते हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युतकल्पों में देव मनःपरिचारक होते हैं। नौ ग्रैवेयकों के और पांच अनुत्तरौपपातिक देव अपरिचारक होते हैं। हे गौतम ! इसी कारण से कहा गया है कि यावत् आनत आदि कल्पों के देव मनःपरिचारक होते हैं।

[२] तत्थ णं जे ते कायपरियारगा देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ—इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं कायपरियारणं करेत्तए, तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसीकए समाणे खिप्पामेव ताओ अच्छराओ ओरालाइं सिंगाराइं मणुण्णाइं मणोहराइं मणोरमाइं उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता तेसिं देवाणं अंतियं पादुब्भवंति, तए णं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं कायपरियारणं करेंति, से जहाणामए सीया पोग्गला सीयं पप्प सीयं चेव अतिवतित्ता णं चिट्ठंति, उसिणा वा पोग्गला उसिणं पप्प उसिणं चेव अइवइत्ता णं चिट्ठंति एवामेव तेहिं देवेहिं ताहिं अच्छराहिं सद्धिं कायपरियारणे कते समाणे से इच्छामणे खिप्पमेवावेति।

अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं सुक्कपोग्गला ?

हंता अत्थि।

ते णं भंते ! तासिं अच्छराणं कीसत्ताए भुज्जो २ परिणमंति ?

गोयमा ! सोइंदियत्ताए चक्खिंदियत्ताए घाणिंदियत्ताए रसिंदियत्ताए फासिंदियत्ताए इट्ठत्ताए कंतत्ताए मणुण्णत्ताए मणामत्ताए सुभगत्ताए सोहग्ग-रूव-जोव्वण-गुणलायण्णत्ताए ते तासिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

---

१. 'काय-प्रवीचारा आ ऐशानात्।'
'शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः।' —तत्त्वार्थ. अ. ४, सू. ८-९

[२०५२-२] उनमें से कायपरिचारक (शरीर से विषयभोग सेवन करने वाले) जो देव हैं, उनके मन में (ऐसी) इच्छा समुत्पन्न होती है कि हम अप्सराओं के शरीर से परिचार (मैथुन) करना चाहते हैं। उन देवों द्वारा इस प्रकार मन से सोचने पर वे अप्सराएँ उदार आभूषणादियुक्त (शृंगार-युक्त), मनोज्ञ, मनोहर एवं मनोरम उत्तरवैक्रिय रूप विक्रिया से बनाती हैं। इस प्रकार विक्रिया करके वे उन देवों के पास आती हैं। तब वे देव उन अप्सराओं के साथ कायपरिचारणा (शरीर से मैथुन-सेवन) करते हैं। जैसे शीत पुद्गल शीतयोनि वाले प्राणी को प्राप्त होकर अत्यन्त शीत-अवस्था को प्राप्त करके रहते हैं, अथवा उष्ण पुद्गल जैसे उष्णयोनि वाले प्राणी को पाकर अत्यन्त उष्ण-अवस्था को प्राप्त करके रहते हैं, उसी प्रकार उन देवों द्वारा अप्सराओं के साथ काया से परिचारणा करने पर उनका इच्छामन (इच्छाप्रधान मन) शीघ्र ही हट जाता—तृप्त हो जाता है।

[प्र.] भगवन्! क्या उन देवों के शुक्र-पुद्गल होते हैं?

[उ.] हाँ (गौतम!) होते हैं।

[प्र.] भगवन्! उन अप्सराओं के लिए वे किस रूप में बार-बार परिणत होते हैं?

[उ.] गौतम! श्रोत्रेन्द्रियरूप से, चक्षुरिन्द्रियरूप से, घ्राणेन्द्रियरूप से, रसेन्द्रियरूप से, स्पर्शेन्द्रियरूप से, इष्टरूप से, कमनीयरूप से, मनोज्ञरूप से. अतिशय मनोज्ञ (मनाम) रूप से, सुभगरूप से, सौभाग्य-रूप-यौवन-गुण-लावण्यरूप से वे उनके लिए बार-बार परिणत होते हैं।

[३] तत्थ णं जे ते फासपरियारगा देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ, एवं जहेव कायपरियारगा तहेव निरवसेसं भाणियव्वं।

[२०५२-३] उनमें जो स्पर्शपरिचारकदेव हैं, उनके मन में इच्छा उत्पन्न होती है, जिस प्रकार काया से परिचारणा करने वाले देवों की वक्तव्यता कही गई है, उसी प्रकार (यहाँ भी) समग्र वक्तव्यता कहनी चाहिए।

[४] तत्थ णं जे ते रूवपरियारगा देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ—इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं रूवपरियारणं करेत्तए, तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसीकए समाणे तहेव जाव उत्तर-वेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता जेणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छंति, तेणामेव उवागच्छित्ता तेसिं देवाणं अदूरसामंते ठिच्चा ताइं ओरालाइं जाव मणोरमाइं उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं उवदंसेमाणीओ उवदंसेमाणीओ चिट्ठंति, तए णं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं रूवपरियारणं करेंति, सेसं तं चेव जाव भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

[२०५२-४] उनमें जो रूपपरिचारक देव हैं, उनके मन में इच्छा समुत्पन्न होती है कि हम अप्सराओं के साथ रूपपरिचारणा करना चाहते हैं। उन देवों द्वारा मन से ऐसा विचार किये जाने पर (वे देवियाँ) उसी प्रकार (पूर्ववत्) यावत् उत्तरवैक्रिय रूप की विक्रिया करती हैं। विक्रिया करके जहाँ वे देव होते हैं, वहाँ जा पहुँचती हैं और फिर उन देवों के न बहुत दूर और न बहुत पास स्थित होकर उन उदार यावत् मनोरम उत्तरवैक्रिय-कृत रूपों को दिखलाती-दिखलाती खड़ी रहती हैं। तत्पश्चात् वे देव उन अप्सराओं के साथ रूपपरिचारणा करते हैं। शेष सारा कथन उसी प्रकार (पूर्व व) यावत् वे बार-बार परिणत होते हैं, (यहाँ तक कहना चाहिए।)

[५] तत्थ णं जे ते सद्दपरियारगा देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जति—इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं सद्दपरियारणं करेत्तए, तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसीकए समाणे तहेव जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता जेणामेव ते देवा तेणामेव उवागच्छंति, तेणामेव उवागच्छित्ता तेसिं देवाणं अदूरसामंते ठिच्चा अणुत्तराइं उच्चावयाइं सद्दाइं समुदीरेमाणीओ समुदीरेमाणीओ चिट्ठंति, तए णं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं सद्दपरियारणं करेंति, सेसं तं चेव जाव भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

[२०५२-५] उनमें जो शब्दपरिचारक देव होते हैं, उनके मन में इच्छा उत्पन्न होती है कि हम अप्सराओं के साथ शब्दपरिचारणा करना चाहते हैं। उन देवों के द्वारा इस प्रकार मन में विचार करने पर उसी प्रकार (पूर्ववत्) यावत् उत्तरवैक्रिय रूपों की विक्रिया करके जहाँ वे देव होते हैं, वहाँ देवियां जा पहुँचती हैं। फिर वे उन देवों के न अति दूर और न अति निकट रुककर सर्वोत्कृष्ट उच्च-नीच शब्दों का बार-बार उच्चारण करती रहती हैं। इस प्रकार वे देव उन अप्सराओं के साथ शब्दपरिचारणा करते हैं। शेष कथन उसी प्रकार (पूर्ववत्) यावत् बार-बार परिणत होते हैं।

[६] तत्थ णं जे ते मणपरियारगा देवा तेसिं इच्छामणे समुप्पज्जइ—इच्छामो णं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियारणं करेत्तए, तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसीकए समाणे खिप्पामेव ताओ अच्छराओ तत्थगताओ चेव समाणीओ अणुत्तराइं उच्चावयाइं मणाइं संपहारेमाणीओ संपहारेमाणीओ चिट्ठंति, तए णं ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियारणं करेंति, सेसं णिरवसेसं तं चेव जाव भुज्जो २ परिणमंति।

[२०५२-६] उनमें जो मन:परिचारक देव होते हैं, उनके मन में इच्छा उत्पन्न होती है—हम अप्सराओं के साथ मन से परिचारणा करना चाहते हैं। तत्पश्चात् उन देवों के द्वारा मन में इस प्रकार अभिलाषा करने पर वे अप्सराएँ शीघ्र ही, वहीं (अपने स्थान पर) रही हुई उत्कृष्ट उच्च-नीच मन को धारण करती हुई रहती हैं। तत्पश्चात् वे देव उन अप्सराओं के साथ मन से परिचारणा करते हैं। शेष सब कथन पूर्ववत् यावत् बार-बार परिणत होते हैं, (यहाँ तक कहना चाहिए।)

सप्तम अल्पबहुत्वद्वार

२०५३. एतेसि णं भंते ! देवाणं कायपरियारगाणं जाव मणपरियारगाणं अपरियारगाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा देवा अपरियारगा, मणपरियारगा संखेज्जगुणा, सद्दपरियारगा असंखेज्जगुणा, रूवपरियारगा असंखेज्जगुणा, फासपरियारगा असंखेज्जगुणा, कायपरियारगा असंखेज्जगुणा।

॥ पण्णवणाए भगवतीए चउतीसइमं पवियारणापयं समत्तं ॥

[२०५३ प्र.] भगवन् ! इन कायपरिचारक यावत् मन:परिचारक और अपरिचारक देवों में से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[२०५३ उ.] गौतम ! सबसे कम अपरिचारक देव हैं, उनसे संख्यातगुणे मन:परिचारक देव

हैं, उनसे असंख्यातगुणे शब्दपरिचारक देव हैं, उनसे रूपपरिचारक देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे स्पर्श-परिचारक देव असंख्यातगुणे हैं और उनसे कायपरिचारक देव असंख्यातगुणे है।

विवेचन—विविध पहलुओं से देव-परिचारणा पर विचार—प्रस्तुत 'परिचारणा' नामक छठे द्वार में मुख्यतया चार पहलुओं से देवों की परिचारणा पर विचार किया गया है—(१) देव देवियों सहित ही परिचार करते हैं या देवियों के विना भी? तथा क्या देव अपरिचारक भी होते हैं? (२) परिचारणा के पाँच प्रकार, कौन देव किस प्रकार की परिचारणा करते है और कौन देव अपरिचारक हैं? (३) कायपरिचारणा से लेकर मन:परिचारणा तक का स्वरूप, तरीका और परिणाम। और अन्त में (४) परिचारक-अपरिचारक देवों का अल्पबहुत्व।[1]

निष्कर्ष—(१) कोई भी देव ऐसा नही होता, जो देवियों के साथ रहते हुए परिचाररहित हो, अपितु कतिपय देव देवियों सहित परिचार वाले होते हैं, कई देव देवियों के विना भी परिचारवाले होते हैं। कुछ देव ऐसे भी होते हैं, जो देवियों और परिचार, दोनों से रहित होते हैं। (२) भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म-ईशानकल्प के वैमानिक देव सदेवीक भी होते हैं और परिचारणा से युक्त भी। अर्थात् देवियां वहां जन्म लेती हैं। अत: वे देव उन देवियों के साथ रहते हैं और परिचार भी करते हैं। किन्तु सनत्कुमार से लेकर अच्युतकल्प तक के वैमानिक देव देवियों के साथ नहीं रहते, क्योंकि इन देवलोकों में देवियों का जन्म नहीं होता। फिर भी वे परिचारणासहित होते हैं। ये देव सौधर्म और ईशानकल्प में उत्पन्न देवियों के साथ स्पर्श, रूप, शब्द और मन से परिचार करते हैं।

भवनपति से लेकर ईशानकल्प तक के देव शरीर से परिचारणा करते हैं, सनत्कुमार और माहेन्द्रकल्प के देव स्पर्श से, ब्रह्मलोक और लान्तककल्प के देव रूप से, महाशुक्र और सहस्रारकल्प के देव शब्द से और आनत, प्राणत, आरण और अच्युतकल्प के देव मन से परिचारणा करते हैं। नौ ग्रैवेयक और पांच अनुत्तरविमानवासी देव देवियों और परिचारणा दोनों से रहित होते हैं।[2]

उनका पुरुषवेद अतीव मन्द होता है। अत: वे मन से भी परिचारणा नहीं करते।

इस पाठ से यह स्पष्ट है कि मैथुनसेवन केवल कायिक ही नहीं होता, वह स्पर्श, रूप, शब्द और मन से भी होता है।

कायपरिचारक देव काय से परिचारणा मनुष्य नर-नारी की तरह करते हैं, असुरकुमारों से लेकर ईशानकल्प तक के देव संक्लिष्ट उदयवाले पुरुषवेद के वशीभूत होकर मनुष्यों के समान वैषयिक सुख में निमग्न होते हैं और उसी से उन्हें तृप्ति का अनुभव होता है अन्यथा तृप्ति-सन्तुष्टि नहीं होती। **स्पर्शपरिचारक देव** भोग की अभिलाषा से अपनी समीपवर्तिनी देवियों के स्तन, मुख, नितम्ब आदि का स्पर्श करते हैं और इसी स्पर्शमात्र से उन्हें कायपरिचारणा की अपेक्षा अनन्तगुणित सुख एवं वेदोपशान्ति का अनुभव होता है। **रूपपरिचारक देव** देवियों के सौन्दर्य, कमनीय एवं काम के आधारभूत दिव्य-मादकरूप को देखने मात्र से कायपरिचारणा की अपेक्षा अनन्तगुणित वैषयिक

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८४५ से ८५३

(ख) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ टिप्पण), पृ. ४२१ से ४२३ तक

२. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५४९

सुखानुभव करते हैं। इतने से ही उनका वेद (काम) उपशान्त हो जाता है। **शब्दपरिचारक** देवों का विषयभोग शब्द से ही होता है। वे अपनी प्रिय देवांगनाओं के गीत, हास्य, भावभंगीयुक्त मधुर स्वर, आलाप एवं नूपुरों आदि की ध्वनि के श्रवणमात्र से कायिकपरिचारणा की अपेक्षा अनन्तगुणित सुखानुभव करते हैं, उसी से उनका वेद उपशान्त हो जाता है। **मनःपरिचारक देवों** का विषयभोग मन से ही हो जाता है। वे कामविकार उत्पन्न होने पर मन से अपनी मनोनीत देवांगनाओं की अभिलाषा करते हैं और उसी से उनकी तृप्ति हो जाती है। कायिकविषयभोग की अपेक्षा उन्हें मानसिकविषय-भोग से अनन्तगुणा सुख प्राप्त होता है, वेद भी उपशान्त हो जाता है। **अप्रवीचारक** नौ ग्रैवेयकों तथा पांच अनुत्तरविमानों के देव अपरिचारक होते हैं। उनका मोहोदय या वेदोदय अत्यन्त मन्द होता है। अतः वे अपने प्रशमसुख में निमग्न रहते हैं। परन्तु चारित्र-परिणाम का अभाव होने से वे ब्रह्मचारी नहीं कहे जा सकते।

दो प्रश्न : (१) किस प्रकार की तृप्ति ?—देवों को अपने-अपने तथाकथित विषयभोग से उसी प्रकार की तृप्ति एवं भोगाभिलाषा निवृत्ति हो जाती है, जिस प्रकार शीतपुद्गल अपने सम्पर्क से शान्तस्वभाव वाले प्राणी के लिए अत्यन्त सुखदायक होते हैं अथवा उष्णपुद्गल उष्णस्वभाव वाले प्राणी को अत्यन्त सुखशान्ति के कारण होते हैं। इसी प्रकार की तृप्ति, सुखानुभूति अथवा विषयाभि-लाषानिवृत्ति हो जाती है। आशय यह है कि उन-उन देवों को देवियों के शरीर, स्पर्श, रूप, शब्द और मनोनीत कल्पना का सम्पर्क पाकर आनन्ददायक होते हैं।

(२) **कायिक मैथुनसेवन** से मनुष्यों की तरह शुक्रपुद्गलों का क्षरण होता है, परन्तु वह वैक्रियशरीरवर्ती होने से गर्भाधान का कारण नहीं होता, किन्तु देवियों के शरीर में उन शुक्रपुद्गलों के संक्रमण से सुख उत्पन्न होता है तथा वे शुक्रपुद्गल देवियों के लिए पांचों इन्द्रियों के रूप में तथा इष्ट, कान्त, मनोज्ञ, मनोहर रूप में तथा सौभाग्य, रूप, यौवन, लावण्य के रूप में बारबार परिणत होते हैं।[1]

कठिन शब्दार्थ—इच्छामणे—दो अर्थ—(१) इच्छाप्रधान मन, (२) मन में इच्छा या अभिलाषा। **मणसीकए समाणे**—मन करने पर। **उच्चावयाइं :** दो अर्थ—(१) उच्च तथा नीच—ऊबड़-खाबड़,(२) न्यूनाधिक—विविध। **उवदंसेमाणीओ**—दिखलाती हुई। **समुदीरेमाणीओ**—उच्चारण करती हुई। **सिंगाराइं**—शृंगारयुक्त। **तत्थगताओ चेव समाणीओ**—अपने-अपने विमानों में रही हुई। **अणुत्तराइं उच्चावयाइं मणाइं संपहारेमाणीओ चिट्ठंति**—उत्कट सन्तोष उत्पन्न करनेवाले एवं विषय में आसक्त, अश्लील कामोद्दीपक मन करती हुई।[2]

॥ प्रज्ञापना भगवती का चौतीसवाँ पद सम्पूर्ण ॥

१. प्रज्ञापन. (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग ५, पृ. ८५२-८५४

२. वही भा. ५, पृ. ८५४ से ८६८ तक

पंचतीसइमं वेयणापयं

पैंतीसवाँ वेदनापद

प्राथमिक

※ प्रज्ञापनासूत्र के वेदनापद में संसारी जीवों को अनुभूत होने वाली सात प्रकार की वेदनाओं की चौवीस दण्डक के माध्यम से प्ररूपणा की गई है।

※ इस संसार में जब तक जीव छद्मस्थ है, तब तक विविध प्रकार की अनुभूतियाँ होती रहती हैं। इन अनुभूतियों का मुख्य केन्द्र मन है। मन पर विविध प्रकार की वेदनाएँ अंकित होती रहती हैं। वह जिस रूप में जिस वेदना को ग्रहण करता है, उसी रूप में उसकी प्रतिध्वनि अनुभूति के रूप में व्यक्त होती है। यही कारण है कि शास्त्रकार ने इस पद में विविध निमित्तों से मन पर अंकित होने वाली विविध वेदनाओं का दिग्दर्शन कराया है।

※ वेदना के विभिन्न अर्थ मिलते हैं। यथा—ज्ञान, सुख-दुःखादि का अनुभव, पीड़ा, दुःख, संताप, रोगादिजनित वेदना, कर्मफल-भोग, साता-असातारूप अनुभव, उदयावलिकाप्रविष्ट कर्म का अनुभव आदि।[1]

※ इन सभी अर्थों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत पद में वेदना-सम्बन्धी सात द्वार प्रस्तुत किये गए हैं, जिनमें विविध वेदनाओं का निरूपण है।

※ वे सात द्वार इस प्रकार हैं—(१) प्रथम शीतवेदनाद्वार है, जिसमें शीत, उष्ण और शीतोष्ण वेदना का निरूपण है, (२) द्वितीय द्रव्यद्वार है, जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से होने वाली वेदना का निरूपण है, (३) तृतीय शरीरवेदनाद्वार है, जिसमें शारीरिक, मानसिक और शारीरिक-मानसिक वेदना का वर्णन है, (४) चतुर्थ सातावेदनाद्वार है, जिसमें साता, असाता और साता-असाता वेदना का निरूपण है, (५) पंचम दुःखवेदनाद्वार है, इसमें दुःखरूप, सुखरूप तथा दुःख-सुखरूप वेदना का प्रतिपादन है, (६) छठा आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकीवेदनाद्वार है, जिसमें इन दोनों प्रकार की वेदनाओं का निरूपण है तथा (७) सातवाँ निदा-अनिदावेदना-द्वार है, जिसमें इन दोनों प्रकार की वेदनाओं की प्ररूपणा है।[2]

※ इसके पश्चात् यह बताया गया है कि कौनसी वेदना किस-किस जीव को होती है और किसको नहीं? यथा—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव मानसवेदना से रहित होते हैं। शेष सभी द्वारों में वेदना का अनुभव सभी संसारी जीवों को होता है।

---

१. (क) पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. ७७६

(ख) अभि. रा. कोष, भा. ६, पृ. १४३८

२. पण्णवणासुत्तं भा. १ (मू. पा. टिप्पण), पृ. ४२४

❋ इन सात द्वारों में से छठे और सातवें द्वार को वेदनाएँ जानने योग्य हैं। जो वेदनाएँ सुखपूर्वक स्वेच्छा से स्वीकार की जाती हैं, यथा—केशलोचादि, वे आभ्युपगमिकी होती हैं, किन्तु जो वेदनाएँ कर्मों की उदीरणा द्वारा वेदनीयकर्म का उदय होने से होती हैं, वे औपक्रमिकी हैं। ये दोनों वेदनाएँ कर्मों से सम्बन्धित हैं। सातवें द्वार में निदा और अनिदा दो प्रकार की वेदना का निरूपण है। जिसमें चित्त पूर्णरूप से लग जाए या जिसका ध्यान भलीभांति रखा जाए, उसे निदा और इससे विपरीत जिसकी ओर चित्त बिलकुल न हो, उसे अनिदा वेदना कहते हैं। अथवा चित्तवती—सम्यक् विवेकवती वेदना निदा है, इसके विपरीत वेदना अनिदा है। वस्तुतः इन दोनों वेदनाओं का सम्बन्ध आगे चलकर क्रमशः संज्ञी और असंज्ञी से जोड़ा गया है। निदावेदना का फलितार्थ वृत्तिकार ने यह बताया है कि पूर्वभव-सम्बन्धी शुभाशुभ कर्म, वैरविरोध या विषयों का स्मरण करने में असंज्ञी जीव का चित्त कुशल नहीं होता। जबकि संज्ञीभूत जीव का चित्त कुशल होता है। इसलिए असंज्ञी जीवों के अनिदा और संज्ञी जीवों के निदावेदना अनुभव के आधार पर होती है। इसी तरह एक रहस्य यह भी बताया गया है कि जो जीव मायीमिथ्यादृष्टि हैं, वे अनिदा और अमायीसम्यग्दृष्टि निदा वेदना भोगते हैं।

❋ कुछ स्पष्टीकरण—(१) शीतोष्ण वेदना का उपयोग (अनुभव) क्रमिक होता है अथवा युगपत्? इसका समाधान वृत्तिकार ने किया है कि वस्तुतः उपयोग क्रमिक ही हैं, परन्तु शीघ्र संचार के कारण अनुभव करने में क्रम प्रतीत नहीं होता है। (२) इसी प्रकार शीतोष्ण आदि वेदना समझनी चाहिए। इसी प्रकार अदुःखा-असुखा वेदना को सुखसंज्ञा अथवा दुःखसंज्ञा नहीं दी जा सकती। इसी तरह शारीरिक-मानसिक संज्ञा, साता-असाता, सुख-दुःख, इत्यादि के विषय में समझ लेना चाहिए। (३) साता-असाता और सुख-दुःख इन दोनों में क्या अन्तर है? इसका उत्तर वृत्तिकार ने यह दिया है कि वेदनीयकर्म के पुद्गलों का क्रमप्राप्त उदय होने से जो वेदना हो, वह साता-असाता है। परन्तु जब दूसरा कोई उदीरणा करे तथा उससे साता-असाता का अनुभव हो, उसे सुख-दुःख कहते हैं।[१]

❋ षट्खण्डागम में 'बज्झमाणिया वेयणा, उदिण्णा वेयणा, उवसंता वेयणा', इन तीनों का उल्लेख है।

□□

१. (क) पण्णवणासुत्तं, भा. २ (प्रस्तावना), पृ. १५०
(ख) प्रज्ञापना. म. वृत्ति, पत्र ५५७

पंचतीसइमं वेयणापयं

पैंतीसवाँ वेदनापद

पैंतीसवें पद का अर्थाधिकार प्ररूपण

२०५४. सीता १ य दव्व २ सारीर ३ सात ४ तह वेदणा हवति दुक्खा ५ ।
अब्भुवगमोवक्कमिया ६ णिदा य अणिदा य ७ णायव्वा ॥ २२५ ॥
सातमसातं सव्वे सुहं च दुक्खं अदुक्खमसुहं च ।
माणसरहियं विगलिंदिया उ सेसा दुविहमेव ॥ २२६ ॥

[**२०५४ संग्रहणी-गाथार्थ**] (पैंतीसवें वेदनापद के) सात द्वार (इस प्रकार) समझने चाहिए—(१) शीत, (२) द्रव्य, (३) शरीर, (४) साता, (५) दुःखरूप वेदना, (६) आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी वेदना तथा (७) निदा और अनिदा वेदना ॥ २२५ ॥

साता और असाता वेदना सभी जीव (वेदते हैं ।) इसी प्रकार सुख, दुःख और अदुःख-असुख वेदना भी (सभी जीव वेदते हैं ।) विकलेन्द्रिय मानस वेदना से रहित हैं । शेष सभी जीव दोनों प्रकार की वेदना वेदते हैं ॥ २२६ ॥

विवेचन—सात द्वारों का स्पष्टीकरण—(१) सर्वप्रथम शीतवेदनाद्वार है, च शब्द से उष्णवेदना और शीतोष्णवेदना भी कही जाएगी, (२) द्वितीय द्रव्यद्वार है, जिसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से वेदना का निरूपण है । (३) तृतीय शरीरवेदनाद्वार है, जिसमें शारीरिक, मानसिक और शारीर-मानसिक वेदना का वर्णन है, (४) चतुर्थ सातावेदनाद्वार है, जिसमें साता, असाता और सातासाता उभयरूप वेदना का निरूपण है, (५) पंचम दुःखवेदनाद्वार है, जिसमें दुःखरूप, सुखरूप और अदुःख-असुखरूप वेदना का प्रतिपादन है, (६) छठा आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकीवेदनाद्वार है, जिसमें इन दोनों वेदनाओं का वर्णन है और (७) सप्तम निदा-अनिदावेदनाद्वार है, जिसमें इन दोनों प्रकार की वेदनाओं के सम्बन्ध में प्ररूपणा है ।[1]

कौन-सा जीव किस-किस वेदना से युक्त ?—द्वितीय गाथा में बताया है कि सभी जीव साता-असाता एवं सातासाता वेदना से युक्त हैं । इसी प्रकार सभी जीव सुखरूप, दुःखरूप या अदुःख-असुखरूप वेदना वेदते हैं । विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव मानसवेदना से रहित (मनोहीन) वेदना वेदते हैं । शेष जीव दोनों प्रकार की अर्थात्—शारीरिक और मानसिक वेदना वेदते (भोगते) हैं ।[2]

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ८७४-८७५
(ख) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४२४.

२. (क) वही, पृ. २२४
(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग ५, पृ. ८७३-७४

प्रथम : शीतादि-वेदनाद्वार

२०५५. कतिविहा णं भंते ! वेदणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा वेदणा पण्णत्ता । तं जहा—सीता १ उसिणा २ सीतोसिणा ३ ।

[२०५५ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०५५ उ.] गौतम ! वेदना तीन प्रकार की कही है । यथा—(१) शीतवेदना, (२) उष्णवेदना और (३) शीतोष्णवेदना ।

२०५६. णेरइया णं भंते ! किं सीतं वेदणं वेदेंति, उसिणं वेदणं वेदेंति, सीतोसिणं वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! सीयं पि वेदणं वेदेंति उसिणं पि वेदणं वेदेंति, णो सीतोसिणं वेदणं वेदेंति ।

[२०५६ प्र.] भगवन् ! नैरयिक शीतवेदना वेदते हैं, उष्णवेदना वेदते हैं या शीतोष्णवेदना वेदते हैं ?

[२०५६ उ.] गौतम ! (नैरयिक) शीतवेदना भी वेदते हैं और उष्णवेदना भी वेदते हैं, शीतोष्णवेदना नहीं वेदते ।

२०५७. [१] केई एक्केक्कीए पुढवीए वेदणाओ भणंति—

[२०५७-१] कोई-कोई प्रत्येक (नरक-)पृथ्वी में वेदनाओं के विषय में कहते हैं—

[२] रयणप्पभापुढविणेरइया णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! णो सीयं वेदणं वेदेंति, उसिणं वेदणं वेदेंति, णो सीतोसिणं वेदणं वेदेंति । एवं जाव वालुयप्पभापुढविणेरइया ।

[२०५७-२ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक शीतवेदना वेदते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[२०५७-२ उ.] गौतम ! वे शीतवेदना नहीं वेदते और न शीतोष्णवेदना वेदते हैं, किन्तु उष्णवेदना वेदते हैं । इसी प्रकार यावत् वालुकाप्रभा (तृतीय नरकपृथ्वी) के नैरयिकों तक कहना चाहिए ।

[३] पंकप्पभापुढविणेरइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! सीयं पि वेदणं वेदेंति, उसिणं पि वेदणं वेदेंति, णो सीओसिणं वेदणं वेदेंति । ते बहुयतरागा जे उसिणं वेदणं वेदेंति, ते थोवतरागा जे सीयं वेदणं वेदेंति ।

[२०५७-३ प्र.] भगवन् ! पंकप्रभापृथ्वी के नैरयिक शीतवेदना वेदते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[२०५७-३ उ.] गौतम ! वे शीतवेदना भी वेदते हैं और उष्णवेदना भी वेदते हैं, किन्तु शीतोष्णवेदना नहीं वेदते । वे नारक बहुत हैं, जो उष्णवेदना वेदते हैं और वे नारक थोड़े-से हैं, जो शीतवेदना वेदते हैं ।

[४] धूमप्पभाए एवं चेव दुविहा। नवरं ते बहुयतरागा जे सीयं वेदणं वेदेंति, ते थोवतरागा जे उसिणं वेयणं वेदेंति।

[२०५७-४] धूमप्रभा पृथ्वी के (नैरयिकों) में भी दोनों प्रकार की वेदना कहनी चाहिए। विशेष यह है कि इनमें वे नारक बहुत हैं, जो शीतवेदना वेदते हैं तथा वे नारक अल्प हैं, जो उष्णवेदना वेदते हैं।

[५] तमाए तमतमाए य सीयं वेदणं वेदेंति, णो उसिणं वेदणं वेदेंति, णो सीओसिणं वेदणं वेदेंति।

[२०५७-५] तमा और तमस्तमा पृथ्वी के नारक शीतवेदना वेदते हैं, किन्तु उष्णवेदना तथा शीतोष्णवेदना नहीं वेदते।

२०५८. असुरकुमाराणं पुच्छा।

गोयमा! सीयं पि वेदणं वेदेंति, उसिणं पि वेदणं वेदेंति, सीतोसिणं पि वेदणं वेदेंति।

[२०५८ प्र.] भगवन्! असुरकुमारों के विषय में (पूर्ववत्) प्रश्न?

[२०५८ उ.] गौतम! वे शीतवेदना वेदते हैं, उष्णवेदना भी वेदते हैं और शीतोष्णवेदना भी वेदते हैं।

२०५९. एवं जाव वेमाणिया।

[२०५९] इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक (कहना चाहिए)।

विवेचन—शीतादि त्रिविध वेदना और उनका अनुभव—वेदना एक प्रकार की अनुभूति है, वह तीन प्रकार की हैं—शीत, उष्ण और शीतोष्ण। शीतल पुद्‌गलों के सम्पर्क से होने वाली वेदना शीतवेदना, उष्ण पुद्‌गलों के संयोग से होने वाली वेदना उष्णवेदना और शीतोष्ण पुद्‌गलों के संयोग से उत्पन्न होने वाली वेदना शीतोष्णवेदना कहलाती है।[1] सामान्यतया नारक शीत या उष्ण वेदना का अनुभव करते हैं. किन्तु शीतोष्णवेदना का अनुभव नहीं करते। प्रारम्भ की तीन नरकपृथ्वियों के नारक उष्णवेदना वेदते हैं, क्योंकि उनके आधारभूत नारकावास खैर के अंगारों के समान अत्यन्त लाल, अतिसंतप्त एवं अत्यन्त उष्ण पुद्‌गलों के बने हुए हैं। चौथी पंकप्रभापृथ्वी में कोई नारक उष्णवेदना और कोई शीतवेदना का अनुभव करते हैं, क्योंकि वहाँ के कोई नारकवास शीत और कोई उष्ण होते हैं। इसलिए वहाँ उष्णवेदना अनुभव करने वाले नारक अत्यधिक हैं, क्योंकि उष्णवेदना बहुत अधिक नारकावासों में होती है, जबकि शीतवेदना वाले नारक अत्यल्प हैं, क्योंकि थोड़े-से नारकावासों में ही शीतवेदना होती है। धूमप्रभापृथ्वी में कोई नारक शीतवेदना और कोई उष्णवेदना का अनुभव करते हैं, किन्तु वहाँ शीतवेदना वाले नारक अत्यधिक हैं और उष्णवेदना वाले नारक स्वल्प हैं, क्योंकि वहाँ अत्यधिक नारकावासों में शीतवेदना ही होती है, उष्णवेदना वाले नारकावास बहुत ही कम हैं। छठी और सातवीं नरकपृथ्वियों में नारक शीतवेदना का ही अनुभव करते हैं, क्योंकि वहाँ के सभी नारक उष्ण स्वभाव वाले हैं और नारकावास हैं अत्यधिक शीतल।

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ८८५-८८६
(ख) प्रज्ञापना. म. वृत्ति, अ. रा. कोष, भाग ६, पृ. १४३८-३९

असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक शीत आदि तीनों ही प्रकार की वेदना वेदते हैं। तात्पर्य यह है कि असुरकुमार आदि भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क अथवा वैमानिक देव शीतल जल से पूर्ण महाह्रद आदि में जब जलक्रीडा आदि करते हैं, तब शीतवेदना वेदते हैं। जब कोई महर्द्धिक देव क्रोध के वशीभूत होकर अत्यन्त विकराल भ्रुकुटि चढ़ा लेता है या मानो प्रज्वलित करता हुआ देख कर मन ही मन संतप्त होता है, तब उष्णवेदना वेदता है। जैसे ईशानेन्द्र ने बलिचंचा राजधानी के निवासी असुरकुमारों को संतप्त कर दिया था अथवा उष्ण पुद्गलों के सम्पर्क से भी वे उष्णवेदना वेदते हैं। जब शरीर के विभिन्न अवयवों में एक साथ शीत और उष्ण पुद्गलों का सम्पर्क होता है, तब वे शीतोष्ण वेदना वेदते हैं। पृथ्वीकायिकों से लेकर मनुष्य पर्यन्त बर्फ आदि पड़ने पर शीतवेदना वेदते हैं, अग्नि आदि का सम्पर्क होने पर उष्णवेदना वेदते हैं तथा विभिन्न अवयवों में दोनों प्रकार के पुद्गलों का संयोग होने पर शीतोष्णवेदना वेदते हैं।[1]

द्वितीय द्रव्यादि-वेदनाद्वार

२०६०. कतिविहा णं भंते ! वेदणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा वेदणा पण्णत्ता। तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावतो।

[२०६० प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०६० उ.] गौतम ! वेदना चार प्रकार की कही गई है। यथा—(१) द्रव्यतः, (२) क्षेत्रतः, (३) कालतः और (४) भावतः (वेदना)।

२०६१. णेरइया णं भंते ! किं दव्वओ वेदणं वेदेंति जाव किं भावओ वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! दव्वओ वि वेदणं वेदेंति जाव भावओ वि वेदणं वेदेंति।

[२०६१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक क्या द्रव्यतः वेदना वेदते हैं यावत् भावतः वेदना वेदते हैं ?

[२०६१ उ.] गौतम ! वे द्रव्य से भी वेदना वेदते हैं, क्षेत्र से भी वेदते हैं यावत् भाव से भी वेदते हैं।

२०६२. एवं जाव वेमाणिया।

[२०६२] इसी प्रकार का कथन यावत् वैमानिक पर्यन्त करना चाहिए।

विवेचन—चतुर्विध वेदना का तात्पर्य—वेदना की उत्पत्ति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप सामग्री के निमित्त से होती है, इसलिए द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से चार प्रकार से वेदना कही है। किसी पुद्गल आदि द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होने वाली वेदना द्रव्यवेदना कहलाती है। नारक आदि उपपातक्षेत्र आदि से होने वाली वेदना क्षेत्रवेदना कही जाती है। ऋतु, दिन-रात आदि काल के संयोग से होने वाली वेदना कालवेदना कहलाती है और वेदनीयकर्म के उदयरूप प्रधान कारण से उत्पन्न होने वाली वेदना भाववेदना कहलाती है। चौवीस ही दण्डकों के जीव पूर्वोक्त चारों प्रकार से वेदना का अनुभव करते हैं।[2]

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग ५, पृ. ८८६-८८७

२. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ८८८

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रो. कोष. भाग ६, पृ. १४३९

तृतीय शारीरादि-वेदनाद्वार

२०६३. कतिविहा णं भंते ! वेयणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा वेदणा पण्णत्ता । तं जहा—सारीरा १ माणसा २ सारीरमाणसा ३ ।

[२०६३ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०६३ उ.] गौतम ! वेदना तीन प्रकार की कही गई है । यथा—१. शारीरिक, २. मानसिक और ३. शारीरिक-मानसिक ।

२०६४. णेरइया णं भंते ! किं सारीरं वेदणं वेदेंति माणसं वेदणं वेदेंति सारीरमाणसं वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! सारीरं पि वेयणं वेदेंति, माणसं पि वेदणं वेदेंति, सारीरमाणसं पि वेदणं वेदेंति ।

[२०६४ प्र.] भगवन् ! नैरयिक शारीरिक वेदना वेदते हैं, मानसिक वेदना वेदते हैं अथवा शारीरिक-मानसिक वेदना वेदते हैं ?

[२०६४ उ.] गौतम ! वे शारीरिक वेदना भी वेदते हैं, मानसिक वेदना भी वेदते हैं और शारीरिक-मानसिक वेदना भी वेदते हैं ।

२०६५. एवं जाव वेमाणिया । णवरं एगिंदिय-विगलिंदिया सारीरं वेदणं वेदेंति, णो माणसं वेदणं वेदेंति णो सारीरमाणसं वेयणं वेदेंति ।

[२०६५] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए । एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय केवल शारीरिक वेदना ही वेदते हैं, किन्तु मानसिक वेदना या शारीरिक-मानसिक वेदना नहीं वेदते ।

विवेचन—प्रकारान्तर से त्रिविध वेदना का स्वरूप—शरीर में होने वाली वेदना शारीरिक वेदना, मन में होने वाली वेदना मानसिक तथा शरीर और मन दोनों में होने वाली वेदना शारीरिक-मानसिक वेदना कहलाती है । एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को छोड़कर शेष समस्त दण्डकवर्ती जीवों में तीनों ही प्रकार की वेदना पाई जाती है । एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में मानसिक और शारीर-मानसवेदना नहीं होती ।[1]

चतुर्थ सातादि-वेदनाद्वार

२०६६. कतिविहा णं भंते ! वेयणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा वेयणा पण्णत्ता । तं जहा—साता १ असाया २ सायासाया ३ ।

[२०६६ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०६६ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार की बताई गई है । यथा—(१) साता, (२) असाता और (३) साताअसाता ।

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ८८९
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ६, पृ. १४४०

२०६७. णेरइया णं भंते ! किं सायं वेदणं वेदेंति असायं वेदणं वेदेंति सातासायं वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! तिविहं पि वेयणं वेदेंति ।

[२०६७ प्र.] भगवन् ! नैरयिक सातावेदना वेदते हैं, असातावेदना वेदते हैं, अथवा साता-असातावेदना वेदते हैं ?

[२०६७ उ.] गौतम ! तीनों प्रकार की वेदना वेदते हैं ।

२०६८. एवं सव्वजीवा जाव वेमाणिया ।

[२०६८] इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक सभी जीवों की वेदना के विषय में (जानना चाहिए ।)

विवेचन—सातादि त्रिविध वेदना—सुखरूप वेदना को सातावेदना, दुःखरूप वेदना को असातावेदना और सुख-दुःखरूप वेदना को उभयरूप वेदना कहते हैं । नारक से लेकर वैमानिकदेव पर्यन्त तीनों प्रकार की वेदना वेदते हैं । नारकजीव तीर्थंकर के जन्मदिवस आदि के अवसर पर साता और अन्य समयों में असाता वेदते हैं । पूर्वसांगतिक देवों या असुरों के मधुर-मधुर आलापरूपी अमृत की वर्षा होने पर मन में सातावेदना और क्षेत्र के प्रभाव से, असुर के कठोर व्यवहार से असातावेदना होती है । इन दोनों की अपेक्षा से साता-असातारूप वेदना होती है । सभी जीवों को त्रिविध वेदना होती है । पृथ्वीकायिक आदि को जब कोई उपद्रव नहीं होता, तब वे सातावेदना का अनुभव करते हैं । उपद्रव होने पर असाता का तथा जब एकदेश से उपद्रव होता है, तब साता-असाता—उभयरूप वेदना का अनुभव होता है । देवों को सुखानुभव के समय सातावेदना, च्यवनादि के समय असातावेदना तथा दूसरे देव के वैभव को देखकर मात्सर्य होने से असातावेदना, साथ ही अपनी प्रिय देवी के साथ मधुरालापादि करते समय सातावेदना; यों दोनों प्रकार की वेदना होती है ।[1]

पंचम दुःखादि-वेदनाद्वार

२०६९. कतिविहा णं भंते ! वेयणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिविहा वेयणा पण्णत्ता । तं जहा—दुक्खा सुहा अदुक्खसुहा ।

[२०६९ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०६९ उ.] गौतम ! वह तीन प्रकार की कही गई है । यथा—(१) सुखा, (२) दुःखा और (३) अदुःख-सुखा ।

२०७०. णेरइया णं भंते ! किं दुक्खं वेदणं वेदेंति० पुच्छा ।

गोयमा ! दुक्खं पि वेदणं वेदेंति, सुहं पि वेदणं वेदेंति, अदुक्खसुहं पि वेदणं वेदेंति ।

[२०७० प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव दुःखवेदना वेदते हैं, सुखवेदना वेदते हैं अथवा अदुःख-असुखावेदना वेदते हैं ?

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग. ५, पृ. ८९३-८९४
 (ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५५६

[२०७० उ.] गौतम ! वे दुःखवेदना भी वेदते हैं, सुखवेदना भी वेदते हैं और अदुःख-असुखा-वेदना भी वेदते हैं।

२०७१. एवं जाव वेमाणिया।

[२०७१] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए।

विवेचन—दुःखादि त्रिविध वेदना का स्वरूप—जिसमें दुःख का वेदन हो वह दुःखा, जिसमें सुख का वेदन हो वह सुखा और जिसमें सुख भी विद्यमान हो और जिसे दुःखरूप भी न कहा जा सके, ऐसी वेदना अदुःख-असुखरूपा कहलाती है।

साता, असाता और सुख, दुःख में अन्तर—स्वयं उदय में आए हुए वेदनीयकर्म के कारण जो अनुकूल और प्रतिकूल वेदन होता है, उसे क्रमशः साता और असाता कहते हैं तथा दूसरे के द्वारा उदीरित (उत्पादित) साता और असाता को सुख और दुःख कहते हैं, यही इन दोनों में अन्तर है। सभी जीव इन तीनों प्रकार की वेदना को वेदते हैं।[1]

छठा आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी वेदनाद्वार

२०७२. कतिविहा णं भंते ! वेदणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा वेदणा पण्णत्ता। तं जहा—अब्भोवगमिया य ओवक्कमिया य।

[२०७२ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?

[२०७२ उ.] गौतम ! वेदना दो प्रकार की कही गई है। यथा—आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी।

२०७३. णेरइया णं भंते ! किं अब्भोवगमियं वेदणं वेदेंति ओवक्कमियं वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! णो अब्भोवगमियं वेदणं वेदेंति, ओवक्कमियं वेदणं वेदेंति।

[२०७३ प्र.] भगवन् ! नैरयिक आभ्युपगमिकी वेदना वेदते हैं या औपक्रमिकी वेदना वेदते हैं ?

[२०७३ उ.] गौतम ! वे आभ्युपगमिकी वेदना नहीं वेदते, औपक्रमिकी वेदना वेदते हैं।

२०७४. एवं जाव चउरिंदिया।

[२०७४] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रियों तक कहना चाहिए।

२०७५. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा य दुविहं पि वेदणं वेदेंति।

[२०७५] पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य दोनों प्रकार की वेदना का अनुभव करते हैं।

२०७६. वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा णेरइया (सु. २०७३)।

[२०७६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के विषय में (सू. २०७३ में उक्त) नैरयिकों के समान कहना चाहिए।

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ८९३-८९४

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५५७

विवेचन—दो प्रकार की विशिष्ट वेदना : स्वरूप और अधिकारी—स्वेच्छापूर्वक अंगीकार की जाने वाली वेदना आभ्युपगमिकी कहलाती है। जैसे—साधुगण केशलोच, तप, आतापना आदि से होने वाली शारीरिक पीड़ा स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं। जो वेदना स्वयमेव उदय को प्राप्त अथवा उदीरित वेदनीयकर्म से उत्पन्न होती है, वह औपक्रमिकी कहलाती है, जैसे नारक आदि की वेदना।

नारकों से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक की वेदना औपक्रमिकी होती है, इसी तरह वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक की वेदना भी औपक्रमिकी होती है। पंचेन्द्रियतिर्यंचों और मनुष्यों की वेदना दोनों ही प्रकार की होती है।[1]

सप्तम निदा-अनिदा-वेदना-द्वार

२०७७. कतिविहा णं भंते ! वेदणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा वेयणा पण्णत्ता। तं जहा—णिदा य अणिदा य।

[२०७७ प्र.] भगवन् ! वेदना कितने प्रकार की कही गई है ?
[२०७७ उ.] गौतम ! वेदना दो प्रकार की कही गई है। यथा—निदा और अनिदा।

२०७८. णेरइया णं भंते ! किं णिदायं वेदणं वेदेंति अणिदायं वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! णिदायं पि वेदणं वेदेंति अणिदायं पि वेदणं वेदेंति।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति णेरइया णिदायं पि वेदणं वेदेंति अणिदायं पि वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सण्णिभूया य असण्णिभूयाय। तत्थ णं जे ते सण्णिभूया ते णं निदायं वेदणं वेदेंति, तत्थ णं जे ते असण्णिभूया ते णं अणिदायं वेदणं वेदेंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति णेरइया निदायं पि वेदणं वेदेंति अणिदायं पि वेदणं वेदेंति।

[२०७८ प्र.] भगवन् ! नारक निदावेदना वेदते हैं, या अनिदावेदना ?
[२०७८ उ] गौतम ! नारक निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदावेदना भी।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि नारक निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदा-वेदना भी वेदते हैं ?

[उ.] गौतम ! नारक दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—संज्ञीभूत और असंज्ञीभूत। उनमें जो संज्ञीभूत नारक होते हैं, वे निदावेदना को वेदते हैं और जो असंज्ञीभूत नारक होते हैं, वे अनिदावेदना वेदते हैं। हे गौतम ! इसी कारण ऐसा कहा जाता है कि नारक निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदा-वेदना भी।

२०७९. एवं जाव थणियकुमारा।

[२०७९] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त कहना चाहिए।

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग ५, पृ. ९०१-९०२
   (ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५५७

२०८०. पुढविक्काइयाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णो निदायं वेदणं वेदेंति, अणिदायं वेदणं वेदेंति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति पुढविक्काइया णो णिदायं वेदणं वेदेंति अणिदायं वेयणं वेदेंति ?

गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे असण्णी असण्णिभूतं अणिदायं वेदणं वेदेंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति पुढविक्काइया णो णिदायं वेयणं वेदेंति, अणिदायं वेदणं वेदेंति ।

[२०८० प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव निदावेदना वेदते हैं या अनिदावेदना वेदते हैं ?

[२०८० उ.] गौतम ! वे निदावेदना नहीं वेदते, किन्तु अनिदावेदना वेदते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से यह कहा जाता है कि पृथ्वीकायिक जीव निदावेदना नहीं वेदते, किन्तु अनिदावेदना वेदते हैं ?

[उ.] गौतम ! सभी पृथ्वीकायिक असंज्ञी और असंज्ञीभूत होते हैं, इसलिए अनिदावेदना वेदते हैं, (निदा नहीं); इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि पृथ्वीकायिक जीव निदावेदना नहीं वेदते, किन्तु अनिदावेदना वेदते हैं ।

२०८१. एवं जाव चउरिंदिया ।

[२०८१] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय पर्यन्त (कहना चाहिए ।)

२०८२. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा वाणमंतरा जहा णेरइया (सु. २०७८) ।

[२०८२] पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, मनुष्य और वाणव्यन्तर देवों का कथन (सू. २०७८ में उक्त) नैरयिकों के कथन के समान जानना चाहिए ।

२०८३. जोइसियाणं पुच्छा ।

गोयमा ! णिदायं पि वेदणं वेदेंति अणिदायं पि वेदणं वेदेंति ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वच्चति जोइसिया णिदायं पि वेदणं वेदेंति अणिदायं पि वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! जोतिसिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—माइमिच्छद्दिट्ठिउववण्णगा य अमाइसम्मद्दिट्ठिउववण्णगा य, तत्थ णं जे ते माइमिच्छद्दिट्ठिउववण्णगा ते णं अणिदायं वेदणं वेदेंति, तत्थ णं जे ते अमाइसम्मद्दिट्ठिउववण्णगा ते णं णिदायं वेदणं वेदेंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति जोतिसिया दुविहं पि वेदणं वेदेंति ।

[२०८३ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्क देव निदावेदना वेदते हैं या अनिदावेदना वेदते हैं ?

[२०८३ उ.] गौतम ! वे निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदावेदना भी वेदते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि ज्योतिष्क देव निदावेदना भी वेदते हैं और अनिदावेदना भी वेदते हैं ?

[उ.] गौतम ! ज्योतिष्क देव दो प्रकार के कहे हैं। यथा—मायिमिथ्यादृष्टिउपपन्नक और अमायिसम्यग्दृष्टिउपपन्नक। उनमें से जो मायिमिथ्यादृष्टिउपपन्नक हैं, वे अनिदावेदना वेदते हैं और जो अमायिसम्यग्दृष्टिउपपन्नक हैं, वे निदावेदना वेदते हैं। इस कारण से हे गौतम ! यह कहा जाता है कि ज्योतिष्क देव दो प्रकार हैं, की वेदना वेदते इत्यादि।

२०८४. एवं वेमाणिया वि।

।। पण्णवणाए भगवतीए पंचतीसइमं वेयणापयं समत्तं ।।

[२०८४] वैमानिक देवों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

विवेचन—निदा और अनिदा : स्वरूप और अधिकारी—जिसमें पूर्ण रूप से चित्त लगा हो, जिसका भलीभांति ध्यान हो, उसे निदा कहते हैं, जो इससे बिलकुल भिन्न हो, अर्थात—जिसकी ओर चित्त बिलकुल न हों, वह अनिदावेदना कहलाती है।

जो संज्ञीजीव मर कर नारक हुए हों, वे संज्ञीभूत नारक और जो असंज्ञी जीव मरकर नारक हुए हों, वे असंज्ञी नारक कहलाते हैं। इनमें से संज्ञीभूत नारक निदावेदना और असंज्ञीभूत नारक अनिदावेदना वेदते हैं। इसी प्रकार पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, मनुष्य और वाणव्यन्तर देवों का कथन है। ज्योतिष्क देवों में जो मायिमिथ्यादृष्टि हैं, वे अनिदावेदना वेदते हैं और जो अमायिसम्यग्दृष्टि हैं, वे निदावेदना वेदते हैं। पृथ्वीकायिक से लेकर चतुरिन्द्रियपर्यन्त सभी अनिदावेदना वेदते हैं, निदावेदना नहीं, क्योंकि असंज्ञी होने से इनके मन नहीं होता, इस कारण से ये अनिदावेदना ही वेदते हैं। असंज्ञी जीवों को जन्मान्तर में किये हुए शुभाशुभ कर्मों का अथवा वैर आदि का स्मरण नहीं होता। तथ्य यह है कि केवल तीव्र अध्यवसाय से किये गए कर्मों का ही स्मरण होता है, किन्तु पहले के असंज्ञीभव में पृथ्वीकायिकादि का अध्यवसाय तीव्र नहीं था, क्योंकि वे द्रव्यमन से रहित थे। इस कारण असंज्ञी नारक पूर्वभवसम्बन्धी विषयों का स्मरण करने में कुशलचित्त नहीं होता, जबकि संज्ञी नारक पूर्वभवसम्बन्धी कर्म या वैर-विरोध का स्मरण करते हैं। इस कारण वे निदावेदना वेदते हैं। सभी पृथ्वीकायिक आदि जीव असंज्ञी होने से विवेकहीन अनिदावेदना वेदते हैं।[1]

।। प्रज्ञापना भगवती का पैंतीसवाँ वेदनापद समाप्त ।।

□□

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भाग ५, पृ. ९०३ से ९०५ तक
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५५७

छत्तीसइमं समुग्घायपयं

छत्तीसवाँ समुद्‌घातपद

प्राथमिक

※ प्रज्ञापनासूत्र का यह छत्तीसवाँ समुद्‌घातपद है ।

※ इसमें समुद्‌घात, उसके प्रकार तथा चौवीस दण्डकों में से किसमें कौन-सा समुद्‌घात होता है, इसकी विचारणा की गई है ।

※ 'समुद्‌घात' जैनधर्मशास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ शब्दशास्त्रानुसार होता है—एकीभावपूर्वक प्रबलता से वेदनादि पर घात—चोट करना । इसकी व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—वेदना आदि के अनुभवरूप परिणामों के साथ आत्मा का उत्कृष्ट एकीभाव । इसका फलितार्थ यह है कि तदितरपरिणामों से विरत होकर वेदनीयादि उन-उन कर्मों के बहुत-से प्रदेशों को उदीरणा के द्वारा शीघ्र उदय में लाकर, भोग कर उसकी निर्जरा करना—यानी आत्मप्रदेशों से उनको पृथक् करना, झाड़ डालना ।[1]

※ वस्तुतः देखा जाए तो समुद्‌घात का कर्मों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । आत्मा पर लगे हुए ऐसे कर्म, जो चिरकाल बाद भोगे जाकर क्षीण होने वाले हों, उन्हें उदीरणा करके उदयावलिका में लाकर वेदनादि के साथ एकीभूत होकर निर्जीर्ण कर देना—प्रबलता से उन कर्मों पर चोट करना समुद्‌घात है । जैनदर्शन आत्मा पर लगे हुए कर्मों को क्षय किये बिना आत्मा का विकास नहीं मानता । आत्मा की शुद्धि एवं विकासशीलता समुद्‌घात के द्वारा कर्मनिर्जरा करने से शीघ्र हो सकती है । इसलिए समुद्‌घात एक ऐसा आध्यात्मिक शस्त्र है, जिसके द्वारा साधक जाग्रत रह कर कर्मफल का समभावपूर्वक वेदन कर सकता है, कर्मों को शीघ्र ही क्षय कर सकता है । इसी कारण समुद्‌घात सात प्रकार का बताया गया है—(१) वेदनासमुद्‌घात, (२) कषायसमुद्‌घात, (३) मारणान्तिकसमुद्‌घात, (४) वैक्रियसमुद्‌घात, (५) तैजससमुद्‌घात, (६) आहारकसमुद्‌घात और (७) केवलिसमुद्‌घात ।

※ वृत्तिकार ने बताया है कि कौन-सा समुद्‌घात किस कर्म के आश्रित है ? यथा—वेदनासमुद्‌घात असातावेदनीय-कर्माश्रित है, कषायसमुद्‌घात चारित्रमोहनीय-कर्माश्रित है, मारणान्तिक-समुद्‌घात आयुष्य-कर्माश्रित है, वैक्रियसमुद्‌घात वैक्रियशरीरनाम-कर्माश्रित है, तैजस समुद्‌घात तैजसशरीरनाम-कर्माश्रित है, आहारकसमुद्‌घात आहारकशरीरनाम-कर्माश्रित है और केवलिसमुद्‌घात शुभ-अशुभनामकर्म, साता-असातावेदनीय तथा उच्च-नीचगोत्र-कर्माश्रित है ।[2]

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५५९

२. (क) पण्णवणासुत्त भा. १, पृ. ४२८
   (ख) प्रज्ञापना म. वृत्ति, पत्र ५५९

※ इसके पश्चात् इन सातों समुद्घातों में से कौन-से समुद्घात की प्रक्रिया क्या है और उसके परिणामस्वरूप उस समुद्घात से सम्बन्धित कर्म की निर्जरा आदि कैसे होती है? इसका संक्षेप में निरूपण है।

※ तदनन्तर वेदनासमुद्घात आदि सातों में से कौन-सा समुद्घात कितने समय का है, इसकी चर्चा है। इनमें केवलिसमुद्घात ८ समय का है, शेष समुद्घात असंख्यात समय के अन्तर्मुहूर्त-काल के हैं।

※ इसके पश्चात् यह स्पष्टीकरण किया गया है कि सात समुद्घातों में से किस जीव में कितने समुद्घात पाये जाते हैं?

※ तदनन्तर यह चर्चा विस्तार से की गई है कि एक-एक जीव में, उन-उन दण्डकों के विभिन्न जीवों में अतीतकाल में कितनी संख्या में कौन-कौन से समुद्घात होते हैं तथा भविष्य में कितनी संख्या में सम्भवित हैं?

※ उसके बाद यह बताया गया है कि एक-एक दण्डक के जीव को तथा उन-उन दण्डकों के जीवों को (स्वस्थान में) उस-उस रूप में और अन्य दण्डक के जीवरूप (परस्थान) में अतीत-अनागत-काल में कितने समुद्घात संभव हैं?

※ इसके पश्चात् समुद्घात की अपेक्षा से जीवों के अल्पबहुत्व का विचार किया गया है।

※ तत्पश्चात् कषायसमुद्घात चार प्रकार के बता कर उनकी अपेक्षा से भूत-भविष्यकाल के समुद्घातों की विचारणा की गई है। इसमें भी स्वस्थान-परस्थान की अपेक्षा से अतीत-अनागत कषायसमुद्घातों की एवं अल्पबहुत्व की विचारणा की गई है।

※ इसके पश्चात् वेदना आदि समुद्घातों का अवगाहन और स्पर्श की दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि उस-उस जीव की अवगाहना (क्षेत्र) तथा (काल) स्पर्शना कितनी, कितने काल की होती है तथा किस समुद्घात के समय उस जीव को कितनी क्रियाएँ लगती हैं?[1]

※ अन्त में केवलिसमुद्घात सम्बन्धी चर्चा विभिन्न पहलुओं से की गई है। सयोगी केवली जब तक मन-वचन-काय-योग का निरोध करके अयोगिदशा प्राप्त नहीं करता तब तक सिद्ध नहीं होता। साथ ही सिद्धत्व-प्राप्ति की प्रक्रिया का सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया गया है। अन्त में सिद्धों के स्वरूप का निरूपण किया गया है।[2]

□□

---

१ (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, पत्र ५९०
　(ख) पण्णवणासुत्तं, भा. २, पृ. १५१-१५२

२. पण्णवणासुत्तं, भा. १, पृ. ४४६

छत्तीसइमं समुग्घायपयं

छत्तीसवाँ समुद्घातपद

समुद्घात-भेद-प्ररूपणा

२०८५. वेयण १ कसाय २ मरणे ३ वेउव्विय ४ तेयए य ५ आहारे ६ ।
केवलिए चेव भवे ७ जीव-मणुस्साण सत्तेव ।। २२७ ।।

[२०८५ संग्रहणी गाथार्थ] जीवों और मनुष्यों के ये सात ही समुद्घात होते हैं—(१) वेदना, (२) कषाय, (३) मरण (मारणान्तिक), (४) वैक्रिय, (५) तैजस, (६) आहार (आहारक) और (७) कैवलिक ।

२०८६. कति णं भंते ! समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्त समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४ तेयासमुग्घाए ५ आहारगसमुग्घाए ६ केवलिसमुग्घाए ७ ।

[२०८६ प्र.] भगवन् ! समुद्घात कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[२०८६ उ.] गौतम ! समुद्घात सात कहे हैं । यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजससमुद्घात, (६) आहारकसमुद्घात और (७) केवलिसमुद्घात ।

विवेचन—समुद्घात : स्वरूप और प्रकार—समुद्घात में सम+उद्+घात, ये तीन शब्द हैं । इनका व्याकरणानुसार अर्थ होता है—सम्—एकीभावपूर्वक, उत्—प्रबलता से, घात—घात करना । तात्पर्य यह हुआ कि एकाग्रतापूर्वक प्रबलता के साथ घात करना । भावार्थ यह है कि वेदना आदि के साथ उत्कृष्टरूप से एकीभूत हो जाना । फलितार्थ यह हुआ कि वेदना आदि समुद्घात के समय आत्मा वेदनादिज्ञानरूप में परिणत हो जाता है, उसे अन्य कोई भान नहीं रहता । जब जीव वेदनादि समुद्घातों में परिणत होता है, तब कालान्तर में अनुभव करने योग्य वेदनीयादि कर्मों के प्रदेशों को उदीरणाकरण के द्वारा खींचकर, उदयावलिका में डालकर, उनका अनुभव करके निर्जीर्ण कर डालता है, अर्थात्—आत्मप्रदेशों से पृथक् कर देता है । यही घात की प्रबलता है । पूर्वकृत कर्मों का झड़ जाना, आत्मा से पृथक् हो जाना ही निर्जरा है ।

समुद्घात सात प्रकार के हैं—(१) वेदना, (२) कषाय, (३) मारणांतिक, (४) वैक्रिय, (५) तैजस, (६) आहारक और (७) केवली ।

कौन समुद्घात किस कर्म के आश्रित है ?—इनमें से वेदनासमुद्घात असातावेदनीय-कर्माश्रय है, कषायसमुद्घात चारित्रमोहनीय-कर्माश्रय है, मारणान्तिकसमुद्घात अन्तर्मुहूर्त्त शेष आयुष्य-कर्माश्रय है, वैक्रियसमुदघात वैक्रियशरीरनाम-कर्माश्रय है, तैजससमुद्घात तैजसशरीरनाम-कर्माश्रय है,

आहारकसमुद्घात आहारकशरीरनाम-कर्माश्रय है और केवलिसमुद्घात साता-असातावेदनीय, शुभ-अशुभनामकर्म और उच्चनीचगोत्र-कर्माश्रय है।

१. वेदनासमुद्घात की प्रक्रिया और परिणाम—वेदनासमुद्घात करने वाला जीव असातावेदनीय कर्म के पुद्गलों की परिशाटना (निर्जरा) करता है। आशय यह है कि वेदना से पीड़ित जीव अनन्तानन्त कर्मपुद्गलों से व्याप्त अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालता है और मुख एवं उदर आदि छिद्रों को तथा कान, स्कन्ध आदि के अपान्तरालों (बीच के रिक्त स्थानों) को परिपूरित करके, लम्बाई और विस्तार में शरीरमात्र क्षेत्र को व्याप्त करके अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है। उस अन्तर्मुहूर्त्त में वह बहुत-से असातावेदनीयकर्म के पुद्गलों को निर्जीर्ण कर डालता है।

२. कषायसमुद्घात की प्रक्रिया और परिणाम—कषायसमुद्घात करने वाला जीव कषाय-चारित्रमोहनीयकर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है—कषाय के उदय से युक्त जीव अपने प्रदेशों को बाहर निकालता है। उन प्रदेशों से मुख, उदर आदि छिद्रों को तथा कान, स्कन्ध आदि अन्तरालों को पूरित करता है। लम्बाई तथा विस्तार से शरीरमात्र क्षेत्र को व्याप्त करके रहता है। ऐसा करके वह बहुत-से कषायकर्मपुद्गलों का परिशाटन करता है—झाड़ देता है।

३. मारणान्तिकसमुद्घात की प्रक्रिया और परिणाम—मारणान्तिकसमुद्घात करने वाला जीव आयुकर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है। इस समुद्घात में यह विशेषता है कि मारणान्तिक-समुद्घात करने वाला जीव अपने प्रदेशों को बाहर निकाल कर मुख तथा उदर आदि के छिद्रों को तथा कान, स्कन्ध आदि अन्तरालों को पूरित करके विस्तार और मोटाई में अपने शरीरप्रमाण होकर किन्तु लम्बाई में अपने शरीर के अतिरिक्त जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग तक और उत्कृष्ट असंख्यात योजन तक एक दिशा के क्षेत्र को व्याप्त करके रहता है।

४. वैक्रियसमुद्घात की प्रक्रिया और परिणाम—वैक्रियसमुद्घात करने वाला जीव अपने प्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर शरीर के विस्तार और मोटाई के बराबर तथा लम्बाई में संख्यातयोजनप्रमाण दण्ड निकालता है। फिर यथासम्भव वैक्रियशरीरनामकर्म के स्थूल पुद्गलों का परिशाटन करता है।

५. तैजससमुद्घात की प्रक्रिया और परिणाम—तैजससमुद्घात करने वाला जीव तेजोलेश्या के निकालने के समय तैजसशरीरनामकर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है।

६. आहारकसमुद्घात की प्रक्रिया और परिणाम—आहारकसमुद्घात करने वाला आहारक-शरीरनामकर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है।

७. केवलिसमुद्घात की प्रक्रिया और परिणाम—केवलिसमुद्घात करने वाला जीव साता-असातावेदनीय आदि कर्मों के पुद्गलों का परिशाटन करता है। केवली ही केवलिसमुद्घात करता है। इसमें आठ समय लगते हैं। केवलिसमुद्घात करने वाला केवली प्रथम समय में मोटाई में अपने शरीर प्रमाण आत्मप्रदेशों का दण्ड ऊपर और नीचे लोकान्त तक रचता है। दूसरे समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में कपाट की रचना करता है। तीसरे समय में मन्थान (मथानी) की रचना करता है। चौथे समय में अवकाशान्तरों को पूरित करता (भरता) है। पांचवें समय में उन अवका-

शान्तरों को सिकोड़ता है, छठे समय में मन्थान को सिकोड़ता है, सातवें समय में कपाट को संकुचित करता है और आठवें समय में दण्ड का संकोच करके आत्मस्थ हो जाता है।[1]

समुद्घात-काल-प्ररूपणा

२०८७. [१] वेदणासमुग्घाए णं भंते ! कतिसमइए पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पण्णत्ते।

[२०८७-१ प्र.] भगवन् ! वेदनासमुद्घात कितने समय का कहा गया है ?
[२०८७-१ उ.] गौतम ! वह असंख्यात समयों वाले अन्तर्मुहूर्त्त का कहा है।

[२] एवं जाव आहारगसमुग्घाए।

[२०८७-२] इसी प्रकार यावत् आहारकसमुद्घात पर्यन्त कथन करना चाहिए।

२०८८. केवलिसमुग्घाए णं भंते ! कतिसमइए पण्णत्ते ?

गोयमा ! अट्ठसमइए पण्णत्ते।

(२०८८ प्र.] भगवन् ! केवलिसमुद्घात कितने समय का कहा है ?
[२०८८ उ.] गौतम ! वह आठ समय का कहा है।

विवेचन—निष्कर्ष—वेदनासमुद्घात से लेकर आहारकसमुद्घात तक समुद्घातकाल अन्तर्मुहूर्त्त का है, किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त्त असंख्यात समयों का समझना चाहिए। केवलिसमुद्घात का काल आठ समय का है।[2]

चौवीस दण्डकों में समुद्घात-संख्या-प्ररूपणा

२०८९. णेरइयाणं भंते ! कति समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा— वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४।

[२०८९ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२०८९ उ.] गौतम ! उनके चार समुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२)कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात एवं (४) वैक्रियसमुद्घात।

२०९०. [१] असुरकुमाराणं भंते ! कति समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा— वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४ तेयासमुग्घाए ५।

[२०९० प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के कितने समुद्घात कहे हैं ?

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९१३-९१४
२. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९१९-९२०

[२०९०-१ उ.] गौतम ! उनके पांच समुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात और (५) तैजससमुद्घात।

[२] एवं जाव थणियकुमाराणं।

[२०९०-२] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त कहना चाहिए।

२०९१. [१] पुढविक्काइयाणं भंते ! कति समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! तिण्णि समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३।

[२०९१-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२०९१-१ उ.] गौतम ! उनके तीन समुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात और (३) मारणान्तिकसमुद्घात।

[२] एवं जाव चउरिंदियाणं। णवरं वाउक्काइयाणं चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४।

[२०९१-२] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जानना चाहिए। विशेष यह है कि वायुकायिक जीवों के चार समुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात और (४) वैक्रियसमुद्घात।

२०९२. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव वेमाणियाणं भंते ! कति समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४ तेयासमुग्घाए ५। णवरं मणूसाणं सत्तविहे समुग्घाए पण्णत्ते, तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४ तेयासमुग्घाए ५ आहारणसमुग्घाए ६ केवलिसमुग्घाए ७।

[२०९२ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्च से लेकर यावत् वैमानिक पर्यन्त कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२०९२ उ.] गौतम ! उनके पांच समुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात और (५) तैजससमुद्घात। विशेष यह है कि मनुष्यों के सात समुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजससमुद्घात, (६) आहारकसमुद्घात और (७) केवलिसमुद्घात।

विवेचन—समुद्घात : किसमें कितने और क्यों ?—नारकों में आदि के ४ समुद्घात होते हैं, क्योंकि नारकों में तेजोलब्धि, आहारकलब्धि और केवलित्व का अभाव होने से तैजस, आहारक और केवलिसमुद्घात नहीं होते। असुरकुमारादि दस भवनपति देवों में प्रारम्भ के चार और पांचवाँ तैजससमुद्घात भी हो सकता है। पृथ्वीकायिकादि पांच स्थावरों में प्रारम्भ के तीन समुद्घात होते हैं, किन्तु वायुकायिक जीवों में पहले के तीन और एक वैक्रियसमुद्घात, यों चार समुद्घात होते हैं। पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों से लेकर वैमानिकों तक प्रारम्भ के पांच समुद्घात पाये जाते हैं। किन्तु मनुष्यों में सातों

ही समुद्घात पाये जाते हैं। तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों से लेकर वैमानिकों तक पांच समुद्घात इसलिए पाये जाते हैं कि तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों आदि में आहारकलब्धि और केवलित्व नहीं होते। अतः अन्तिम दो समुद्घात उनमें नहीं पाये जाते।[1]

चौवीस दण्डकों में एकत्वरूप से अतीतादि-समुद्घात-प्ररूपणा

२०६३. [१] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स केवतिया वेदणासमुग्घाया अतीता ?

गोयमा ! अणंता।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

[२०६३-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के कितने वेदनासमुद्घात अतीत—व्यतीत हुए हैं ?

[२०६३-१ उ.] हे गौतम ! वे अनन्त हुए हैं।

[प्र.] भगवन् ! वे भविष्य में (आगे) कितने होने वाले हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं।

[२] एवं असुरकुमारस्स वि, णिरंतरं जाव वेमाणियस्स।

[२०६३-२] इसी प्रकार असुरकुमार के विषय में भी जानना चाहिए। यहाँ से लगातार वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार कहना चाहिए।

२०६४. [१] एवं जाव तेयगसमुग्घाए।

[२०६४-१] इसी प्रकार यावत् तैजससमुद्घात तक (जानना चाहिए।)

[२] एवं एते पंच चउवीसा दंडगा।

[२०६४-२] इसी प्रकार ये पांचों समुद्घात (वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय और तैजस) भी चौवीस दण्डकों के क्रम से समझ लेने चाहिए।

२०६५. [१] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स केवतिया आहारगसमुग्घाया अतीता ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा, उक्कोसेणं तिण्णि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं चत्तारि।

[२०६५-१ प्र] भगवन् ! एक-एक नारक के अतीत आहारकसमुद्घात कितने हैं ?

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ७, पृ. ४३६

[२०९५-१ उ.] गौतम ! वे किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते। जिसके (अतीत आहारकसमुद्घात) होते हैं, उसके भी जघन्य एक या दो होते हैं और उत्कृष्ट तीन होते हैं।

[प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के भावी समुद्घात कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार समुद्घात होते हैं।

[२] एवं णिरंतरं जाव वेमाणियस्स। नवरं मणूसस्स अतीता वि पुरेक्खडा वि जहा णेरइयस्स पुरेक्खडा।

[२०९५-२] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) यावत् लगातार वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए। विशेष यह है कि मनुष्य के अतीत और अनागत नारक के (अतीत और अनागत आहारक-समुद्घात के) समान हैं।

२०९६. [१] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स केवतिया केवलिसमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि एक्को।

[२०९६-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के अतीत केवलिसमुद्घात कितने हुए हैं ?

[२०९६-१ उ.] गौतम ! (एक भी नारक के एक भी अतीत केवलिसमुद्घात) नहीं हैं।

[प्र.] भगवन् ! (एक-एक नारक के) भावी (केवलिसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी (नारक) के (भावी केवलिसमुद्घात) होता है, किसी के नहीं होता। जिसके होता है, उसके एक ही होता है।

[२] एवं जाव वेमाणियस्स। णवरं मणूसस्स अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि एक्को। एवं पुरेक्खडा वि।

[२०९६-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त (अतीत और अनागत केवलिसमुद्घात-विषयक कथन करना चाहिए।) विशेष यह है कि किसी मनुष्य के अतीत केवलिसमुद्घात होता है, किसी के नहीं होता। जिसके होता है, उसके एक ही होता है। इसी प्रकार (अतीत केवलि-समुद्घात के समान मनुष्य के) भावी (केवलिसमुद्घात) का भी (कथन जान लेना चाहिए)।

विवेचन—एक-एक जीव के अतीत-अनागत समुद्घात कितने ?—प्रस्तुत प्रकरण में एक-एक जीव के कितने वेदनादि समुद्घात अतीत हो चुके हैं और कितने भविष्य में होने वाले हैं ?, इसका चौवीस दण्डकों के क्रम से निरूपण किया गया है।

(१) वेदनासमुद्घात—एक-एक नारक के अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं, क्योंकि नारकादि स्थान अनन्त हैं। एक-एक नारक-स्थान को अनन्तवार प्राप्त किया है और एक वार नारक-स्थान की प्राप्ति के समय एक नारक के अनेक वार वेदनासमुद्घात हुए हैं। यह कथन वाहुल्य की अपेक्षा से समझना चाहिए। वहुत-से जीवों को अव्यवहार-राशि से निकले अनन्तकाल

व्यतीत हो चुका है। उनको अपेक्षा से एक-एक नारक के अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत कहे गए हैं। जिन जीवों को व्यवहारराशि से निकले अल्पसमय व्यतीत हुआ है, उनकी अपेक्षा से यथासम्भव संख्यात या असंख्यात वेदनासमुद्घात व्यतीत हुए समझने चाहिए।

एक-एक नारक के भावी समुद्घात के विषय में कहा गया है कि किसी नारक के भावी-समुद्घात होते हैं, किसी के नहीं होते। तात्पर्य यह है कि जो जीव पृच्छा के समय के पश्चात् वेदनासमुद्घात के बिना ही नरक से निकल कर अनन्तर मनुष्यभव प्राप्त करके वेदनासमुद्घात किये विना ही सिद्धि प्राप्त करेगा, उसकी अपेक्षा से एक भी वेदनासमुद्घात नहीं है। जो इस पृच्छा के समय के पश्चात् आयु शेष होने के कारण कुछ काल तक नरक में स्थित रह कर फिर मनुष्यभव प्राप्त करके सिद्ध होगा, उसके एक, दो या तीन वेदनासमुद्घात सम्भव हैं। संख्यातकाल तक संसार में रहने वाले नारक के संख्यात तथा असंख्यातकाल तक संसार में रहने वाले के असंख्यात और अनन्तकाल तक संसार में रहने वाले के अनन्त भावी समुद्घात होते हैं। नारकों के समान ही असुरकुमारादि भवनपतियों, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों, मनुष्यों, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिकों के भी अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं तथा भावी-वेदनासमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, वे जघन्य एक, दो या तीन होते हैं, उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं।[1]

[१-३-४-५] वेदनासमुद्घात की तरह कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय एवं तैजस-समुद्घात-विषयक कथन चौवोस दण्डकों के क्रम से समझ लेना चाहिए।[2]

(६) **आहारकसमुद्घात**—एक-एक नारक के अतीत आहारक-समुद्घात के प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि आहारकसमुद्घात किसी-किसी का होता है, किसी का नहीं होता। जिस नारक के अतीत आहारकसमुद्घात होता है, उसके भी जघन्य एक या दो होते हैं और उत्कृष्ट तीन होते हैं। जिस नारक ने पहले मनुष्यभव प्राप्त कर के अनुकूल सामग्री के अभाव में चौदह पूर्वो का अध्ययन नहीं किया अथवा चौदह पूर्वों का अध्ययन होने पर भी आहारकलब्धि के अभाव में या वैसा कोई विशिष्ट प्रयोजन न होने से आहारशरीर का निर्माण नहीं किया, उसके अतीत आहारक-समुद्घात नहीं होते। उससे भिन्न प्रकार के नारक के जघन्य एक या दो और उत्कृष्ट तीन आहारक-समुद्घात होते हैं। चार नहीं हो सकते, क्योंकि चार बार आहारकशरीर का निर्माण करने वाला जीव नरक में नहीं जा सकता।

भावी आहारकसमुद्घात भी किसी के होते हैं, किसी के नहीं। जिनके होते हैं, उनके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट चार होते हैं। जो नारक मनुष्यभव को प्राप्त करके अनुकूल सामग्री न मिलने से चौदह पूर्वों का अध्ययन नहीं करेगा या अध्ययन करके भी आहारक-समुद्घात नहीं करेगा और सिद्ध हो जाएगा, उसके भावी आहारकसमुद्घात नहीं होते। इससे

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९२७ से ९२९ तक
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभिधान रा. कोष भा. ७, पृ. ४३७

२. (क) वही, अ. रा. कोष भा. ७, पृ. ४३७
(ख) प्रज्ञापना, (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९३०

भिन्न नारक के जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार भावी आहारकसमुद्घात होते हैं। इससे अधिक भावी आहारकसमुद्घात नहीं हो सकते, क्योंकि तदनन्तर वह जीव नियम से किसी दूसरी गति में नहीं जाता और आहारक-समुद्घात किये बिना ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार असुरकुमारादि भवनपतियों से लेकर वैमानिकों तक के अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात के विषय में समझ लेना चाहिए। परन्तु मनुष्य के अतीत और अनागत आहारक-समुद्घात नारक के अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात के समान हैं। नारक के अतीत और अनागत जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार हैं, इसी प्रकार मनुष्य के हैं।[1]

(७) **केवलिसमुद्घात**—एक-एक नारक के अतीतकेवलिसमुद्घात एक भी नहीं है, क्योंकि केवलिसमुद्घात के पश्चात् नियम से अन्तर्मुहूर्त्त में ही जीव को मोक्ष-प्राप्ति हो जाती है। फिर उसका नरक में जाना और नारक होना सम्भव नहीं है। अतएव किसी भी नारक के अतीतकेवलिसमुद्घात सम्भव नहीं है। अब रहा नारक के भावीकेवलिसमुद्घात का प्रश्न—यह किसी के होता है, किसी के नहीं होता। जिस नारक के होता है, उसके एक ही केवलिसमुद्घात होता है। एक से अधिक नहीं हो सकता, क्योंकि एक केवलिसमुद्घात के द्वारा ही चारों अघातिक कर्मों की स्थिति समान करके केवली अन्तर्मुहूर्त्त में ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। फिर दूसरी बार किसी को भी केवलि-समुद्घात की आवश्यकता नहीं होती। जो नारक भवभ्रमण करके मुक्तिपद प्राप्त करने का अवसर पायेगा, उस समय उसके अघातीकर्मों की स्थिति विषम होगी तो उसे सम करने के लिए वह केवलिसमुद्घात करेगा। यह उसका भावीकेवलिसमुद्घात होगा। जो नारक केवलिसमुद्घात के बिना ही मुक्ति प्राप्त करेगा अथवा जो (अभव्य) कभी मुक्ति प्राप्त कर ही नहीं सकेगा, उसकी अपेक्षा से भावीकेवलिसमुद्घात नहीं होता।

मनुष्य के अतिरिक्त भवनपति, पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव के भी अतीत केवलिसमुद्घात नहीं होता। भावी केवलि-समुद्घात किसी के होता है, किसी के नहीं होता। जिसके होता है, एक ही होता है। युक्ति पूर्ववत् समझना। किसी मनुष्य के अतीत केवलिसमुद्घात होता है, किसी के नहीं। केवलिसमुद्घात जिसके होता है, एक ही होता है। जो मनुष्य केवलिसमुद्घात कर चुका है और अभी तक मुक्त नहीं हुआ है—अन्तर्मुहूर्त्त में मुक्त होने वाला है, उसकी अपेक्षा से अतीत केवलिसमुद्घात है; किन्तु जिस मनुष्य ने केवलिसमुद्घात नहीं किया है, उसकी अपेक्षा से नहीं है।

अतीतकेवलिसमुद्घात के समान मनुष्य के भावीकेवलिसमुद्घात का कथन भी जान लेना चाहिए। अतीत की तरह भावी केवलिसमुद्घात भी किसी का होता है, किसी का नहीं। जिसका होता है, उसका एक ही होता है, अधिक नहीं।[2]

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ९३० से ९३२ तक
　(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अ. रा. कोष भा. ७, पृ. ४३८

२. (क) वही, अ. रा. कोष भा. ७, पृ. ४३८
　(ख) प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९३३ से ९३५ तक

चौवीस दण्डकों में बहुत्व की अपेक्षा से अतीत-अनागत-समुद्घात-प्ररूपणा

२०९७. [१] णेरइयाणं भंते ! केवतिया वेदणासमुग्घाया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोतमा ! अणंता ।

[२०९७-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के कितने वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं ?
[२०९७-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (उनके) भावी वेदनासमुद्घात कितने होते हैं ?
[उ.] गौतम ! वे भी अनन्त होते हैं ।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं ।

[२०९७-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों (के वेदनासमुद्घात) तक (के विषय में जानना चाहिए) ।

२०९८. [१] एवं जाव तेयगसमुग्घाए ।

[२०९८-१] इसी प्रकार (वेदनासमुद्घात के समान) यावत् तैजससमुद्घात पर्यन्त समझना चाहिए ।

[२] एवं एते वि पंच चउवीसा दंडगा ।

[२०९८-२] इस प्रकार इन (वेदना से लेकर तैजस तक) पांचों समुद्घातों का (कथन) चौवीसों दण्डकों में (बहुवचन के रूप में समझ लेना चाहिए ।)

२०९९. [१] णेरइयाणं भंते ! केवतिया आहारगसमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! असंखेज्जा ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! असंखेज्जा ।

[२०९९-१ प्र.] भगवान् ! नारकों के कितने आहारकसमुद्घात अतीत हुए हैं ?
[२०९९-१ उ.] गौतम ! वे असंख्यात हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! उनके आगामी आहारकसमुद्घात कितने होते हैं ?
[उ.] गौतम ! वे भी असंख्यात होते हैं ।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं । णवरं वणप्फइकाइयाणं मणूसाण य इमं णाणत्तं ।

वणप्फइकाइयाणं भंते ! केवतिया आहारगसमुग्घाया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

मणूसाणं भंते ! केवतिया आहारगसमुग्घाया अतीता ?

गोयमा ! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा । एवं पुरेक्खडा वि ।

[२०९९-२] इसी प्रकार (नारकों के समान) यावत् वैमानिकों तक का कथन समझ लेना चाहिए। विशेषता यह है कि वनस्पतिकायिकों और मनुष्यों की वक्तव्यता में इनसे भिन्नता है। यथा—

[प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीवों के कितने आहारकसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[उ.] गौतम ! (उनके) अनन्त (आहारकसमुद्घात अतीत हुए हैं)।

[प्र.] भगवन् ! मनुष्यों के कितने आहारकसमुदघात अतीत हुए हैं ?

[उ.] गौतम ! (उनके आहारकसमुद्घात) कथंचित् संख्यात और कथंचित् असंख्यात (हुए हैं।)

इसी प्रकार उनके भावी आहारकसमुद्घात भी समझ लेने चाहिए।

२१००. [१] णेरइयाणं भंते ! केवतिया केवलिसमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! असंखेज्जा।

[२१००-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितने केवलिसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१००-१ उ.] गौतम ! एक भी नहीं है।

[प्र.] भगवन् ! नारकों के कितने केवलिसमुद्घात आगामी हैं।

[उ.] गौतम ! वे असंख्यात हैं।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं। णवरं वणप्फइकाइय-मणूसेसु इमं णाणत्तं।

वणप्फइकाइयाणं भंते ! केवतिया केवलिसमुग्घाया अतीता ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अणंता।

मणूसाणं भंते ! केवतिया केवलिसमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! सिय अत्थि सिय णत्थि। जदि अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सतपुहत्तं।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा।

[२१००-२ प्र.] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक समझना चाहिए। विशेष यह है कि वनस्पतिकायिकों और मनुष्यों में (केवलिसमुद्घात के विषय में पूर्वकथन से) भिन्नता है। यथा—

[प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिकों के कितने केवलिसमुद्घात अतीत हैं ?

[उ.] गौतम ! (इनके केवलिससुद्घात अतीत) नहीं हैं।

[प्र.] भगवन् ! इनके कितने भावी केवलिसमुद्घात हैं ?

[उ.] गौतम ! वे अनन्त हैं ।

[प्र.] भगवन् ! मनुष्यों के कितने केवलिसमुद्घात अतीत हैं ?

[उ.] गौतम ! कथञ्चित् हैं और कथञ्चित् नहीं हैं । यदि हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व हैं ।

[प्र.] भगवन् ! उनके भावी केवलिसमुद्घात कितने कहे हैं ?

[उ.] गौतम ! कथञ्चित् संख्यात हैं और कथञ्चित् असंख्यात हैं ।

विवेचन—नारकादि में बहुत्व की अपेक्षा से वेदनासमुद्घात आदि का निरूपण—नारकों के वेदनासमुद्घात अनन्त अतीत हुए हैं, क्योंकि बहुत-से नारकों को व्यवहारराशि से निकले अनन्तकाल हो चुका है । इनके भावी समुद्घात भी अनन्त हैं, क्योंकि बहुत से नारक अनन्तकाल तक संसार में स्थित रहेंगे ।

असुरकुमारादि भवनपतियों, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियों, विकलेन्द्रियों, तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों के भी वेदनासमुद्घात अतीत और अनागत (भावी) में अनन्त होते हैं ।

वेदनासमुद्घात की भांति कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय और तैजस समुद्घात की वक्तव्यता भी समझ लेनी चाहिए ।[1]

इन सबका निरूपण चौवीस दण्डकों में बहुवचन के रूप में करना चाहिए ।

आहारकसमुद्घात—नारकों के अतीतआहारकसमुद्घात असंख्यात हैं । इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सभी नारक असंख्यात हैं, तथापि उनमें भी कुछ असंख्यात नारक ऐसे होते हैं, जो पहले आहारकसमुद्घात कर चुके हैं, उनकी अपेक्षा से नारकों के अतीत आहारकसमुद्घात असंख्यात कहे हैं । इसी प्रकार नारकों के भावी आहारकसमुद्घात भी पूर्वोक्त युक्ति से असंख्यात समझ लेने चाहिए ।

वनस्पतिकायिकों और मनुष्यों को छोड़कर शेष दण्डकों में वैमानिक पर्यन्त अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात पूर्ववत् असंख्यात हैं ।

वनस्पतिकायिकों के अतीत आहारकसमुद्घात—बहुवचन की अपेक्षा से अनन्त हैं, क्योंकि ऐसे वनस्पतिकायिक जीव अनन्त हैं, जिन्होंने चौदह पूर्वो का ज्ञान भूतकाल में किया था, किन्तु प्रमाद के वशीभूत होकर संसार की वृद्धि करके वनस्पतिकायिकों में विद्यमान हैं । वनस्पतिकायिकों के भावी आहारकसमुद्घात भी अनन्त हैं, क्योंकि पृच्छा के समय जो जीव वनस्पतिकाय में हैं, उनमें से अनन्त जीव वनस्पतिकायिकों में से निकल कर मनुष्यभव पाकर चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करके आहारकसमुद्घात करके सिद्धिगमन करेंगे ।

मनुष्यों के अतीत-अनागत आहारकसमुद्घात—बहुवचन की अपेक्षा से कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात हैं । तात्पर्य यह है कि संमूर्च्छिम और गर्भज मनुष्य मिलाकर उत्कृष्ट संख्या में अंगुलमात्र क्षेत्र में जितने प्रदेशों की राशि है, उसके प्रथम वर्गमूल का तृतीय वर्गमूल से गुणाकार

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४३८

करने पर जो परिमाण आता है, उतने प्रदेशोंवाले खण्ड-घनीकृत लोक की एकप्रदेश वाली श्रेणी में जितने मनुष्य होते हैं, उनमें से एक कम करने पर जितने मनुष्य हों, उतने ही हैं। ये मनुष्य नारक आदि अन्य जीवराशियों की अपेक्षा कम हैं। उनमें भी ऐसे मनुष्य कम हैं, जिन्होंने पूर्वभवों में आहारकशरीर बनाया हो, इस कारण वे कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों के भावी आहारकसमुद्घात भी पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात समझने चाहिए।[1]

केवलिसमुद्घात—नारकों के अतीत केवलिसमुद्घात एक भी नहीं होता, क्योंकि जिन जीवों ने केवलिसमुद्घात किया है, उनका नारक में जाना और नारक होना सम्भव नहीं है। नारकों के भावी केवलिसमुद्घात असंख्यात हैं, क्योंकि पृच्छा के समय सदैव भविष्य में केवलिसमुद्घात करने वाले नारक असंख्यात ही होते हैं। केवलज्ञान से ऐसा ही जाना जाता है।

नारकों के समान ही वनस्पतिकायिकों एवं मनुष्यों को छोड़कर असुरकुमारादि भवनपतियों से लेकर वैमानिकों तक भी इसी प्रकार समझना चाहिए। इनके भी अतीत केवलिसमुद्घात नहीं होते और भावी केवलिसमुद्घात असंख्यात होते हैं।

वनस्पतिकायिकों के अतीत केवलिसमुद्घात पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार नहीं होते। इनके भावी-केवलिसमुद्घात अनन्त होते हैं, क्योंकि वनस्पतिकायिकों में अनन्त जीव ऐसे होते हैं, जो भविष्यत्काल में केवली होकर केवलिसमुद्घात करेंगे।

मनुष्यों के अतीत केवलिसमुद्घात कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं होते। पृच्छा के समय अगर केवलिसमुद्घात से निवृत्त कोई मनुष्य (केवली) विद्यमान हों तो अतीत केवलिसमुद्घात होते हैं, अन्य समय में नहीं होते। यदि अतीत केवलिसमुद्घात हों तो वे जघन्यतः एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्टतः शतपृथक्त्व अर्थात् दो सौ से लेकर नौ सौ तक होते हैं।

मनुष्यों के भावी केवलिसमुद्घात कदाचित संख्यात् और कदाचित् असंख्यात होते हैं। सम्मूर्च्छिम और गर्भज मनुष्यों में पृच्छा के समय बहुत से अभव्य भी होते हैं, जिनके भावी केवलिसमुद्घात सम्भव नहीं, इस अपेक्षा से भावी केवलिसमुद्घात संख्यात होते हैं। कदाचित् वे असंख्यात भी होते हैं, क्योंकि उस समय भविष्य में केवलिसमुद्घात करने वाले मनुष्य बहुत होते हैं।[2]

चौवीस दण्डकों की चौवीस दण्डक पर्यायों में एकत्व को अपेक्षा से अतीतादि समुद्घात-प्ररूपणा

२१०१. [१] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स णेरइयत्ते केवतिया वेदणासमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! अणंता।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४३९

२. वही, मलयवृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४३९

[२१०१-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक के नारकत्व में (अर्थात्—नारक-पर्याय में रहते हुए) कितने वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं ।

[२१०१-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (एक-एक नारक के नारकत्व में) कितने भावी (वेदनासमुद्घात) होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होते हैं ।

[२] एवं असुरकुमारत्ते जाव वेमाणियत्ते ।

[२१०१-२] इसी प्रकार एक-एक नारक के असुरकुमारत्व यावत् वैमानिकत्व में रहते हुए पूर्ववत् अतीत और अनागत वेदनासमुद्घात समझने चाहिए ।

२१०२. एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स णेरइयत्ते केवतिया वेयणासमुग्घाया अतीता ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि । जस्सऽत्थि तस्स सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता ।

[२१०२ प्र.] भगवन् ! एक-एक असुरकुमार के नारकत्व में (रहते हुए) कितने वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१०२ उ.] गौतम ! वे अनन्त हो चुके हैं ।

[प्र.] भगवन् ! भावी वेदनासमुद्घात कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं ।

२१०३. [१] एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते केवतिया वेदणासमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि । जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखिज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा ।

[२१०३-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक असुरकुमार के असुरकुमारपर्याय में कितने वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१०३-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! उनके भावी वेदनासमुद्घात कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होते हैं ।

[२] एवं णागकुमारत्ते वि जाव वेमाणियत्ते ।

[२१०३-२] इसी प्रकार नागकुमारपर्याय यावत् वैमानिकपर्याय में रहते हुए अतीत और अनागत वेदनासमुद्घात समझने चाहिए ।

२१०४. [१] एवं जहा वेदणासमुग्घाएणं असुरकुमारे णेरइयादि-वेमाणियपज्जवसाणेसु भणिए तहा णागकुमारादीया अवसेसेसु सट्ठाण-परट्ठाणेसु भाणियव्वा जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते ।

[२१०४-१] जिस प्रकार असुरकुमार के नारकपर्याय से लेकर वैमानिकपर्याय पर्यन्त वेदना-समुद्घात कहे हैं, उसी प्रकार नागकुमार आदि से लेकर शेष सब स्वस्थानों और परस्थानों में वेदना-समुद्घात यावत् वैमानिक के वैमानिकपर्याय पर्यन्त कहने चाहिए ।

[२] एवमेते चउव्वीसं चउव्वीसा दंडगा भवंति ।

[२१०४-२] इसी प्रकार चौवीस दण्डकों में से प्रत्येक के चौवीस दण्डक होते हैं ।

२१०५. एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स णेरइयत्ते केवतिया कसायसमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि । जस्सऽत्थि एगुत्तरियाए जाव अणंता ।

[२१०५ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के नारकपर्याय (नारकत्व) में कितने कषायसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१०५ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं ।

[प्र.] भगवन् ! भावी कषायसमुद्घात कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते । जिसके होते हैं, उसके एक से लेकर यावत् अनन्त तक हैं ।

२१०६. एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवतिया कसायसमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! अणंता ।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि । जस्सऽत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता ।

[२१०६ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के असुरकुमारपर्याय में कितने कषायसमुद्घात अतीत होते हैं ?

[२१०६ उ.] गौतम ! अनन्त होते हैं ।

[प्र.] भगवन् ! (उसके) भावी (कषायसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं।

२१०७. एवं जाव णेरइयस्स थणियकुमारत्ते। पुढविकाइयत्ते एगुत्तरियाए णेयव्वं, एवं जाव मणूसत्ते। वाणमंतरत्ते जहा असुरकुमारत्ते (सु. २१०६)। जोतिसियत्ते अतीया अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि सिय असंखेज्जा सिय अणंता। एवं वेमाणियत्ते वि सिय असंखेज्जा सिय अणंता।

[२१०७] इसी प्रकार नारक का यावत् स्तनितकुमारपर्याय में (अतीत-अनागत कषाय-समुद्घात समझना चाहिए।) नारक का पृथ्वीकायिकपर्याय में एक से लेकर जानना चाहिए। इसी प्रकार यावत् मनुष्यपर्याय में समझना चाहिए। वाणव्यन्तरपर्याय में नारक के असुरकुमारत्व (सु. २१०६ में उक्त) के समान जानना। ज्योतिष्कदेवपर्याय में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं तथा भावी कषायसमुद्घात किसी का होता है, किसी का नहीं होता। जिसका होता है, उसका कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होता है। इसी प्रकार वैमानिकपर्याय में भी कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त (भावी कषायसमुद्घात) होते हैं।

२१०८. असुरकुमारस्स णेरइयत्ते अतीता अणंता। पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता।

[२१०८] असुरकुमार के नैरयिकपर्याय में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त होते हैं। भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं।

२१०९. असुरकुमारस्स असुरकुमारत्ते अतीया अणंता। पुरेक्खडा एगुत्तरिया।

[२१०९] असुरकुमार के असुरकुमारपर्याय में अतीत (कषायसमुद्घात) अनन्त हैं और भावी (कषायसमुद्घात) एक से लेकर कहने चाहिए।

२११०. एवं नागकुमारत्ते निरंतरं जाव वेमाणियत्ते जहा णेरइयस्स भणियं (सु. २१०७) तहेव भाणियव्वं।

[२११०] इसी प्रकार नागकुमारत्व से लेकर लगातार यावत् वैमानिकत्व तक जैसे (२१०७ सूत्र में) नैरयिक के लिए कहा है, वैसे ही कहना चाहिए।

२१११. एवं जाव थणियकुमारस्स वि [जाव] वेमाणियत्ते। णवरं सव्वेसिं सट्ठाणे एगुत्तरिए परट्ठाणे जहेव असुरकुमारस्स (सु. २१०८-१०)।

[२१११] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार तक भी यावत् वैमानिकत्व में पूर्ववत् कथन समझना चाहिए। विशेष यह है कि इन सबके स्वस्थान में भावी कषायसमुद्घात एक से लगा कर (उत्तरोत्तर अनन्त तक) हैं और परस्थान में (सू. २१०८-१० के अनुसार) असुरकुमार के (भावी कषायसमुद्घात के) समान हैं।

२११२. पुढविक्काइयस्स णेरइयत्ते जाव थणियकुमारत्ते अतीता अणंता। पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा सिय अणंता।

[२११२] पृथ्वीकायिक जीव के नारकपर्याय में यावत् स्तनितकुमारपर्याय में अनन्त (कषायसमुद्घात) अतीत हुए हैं तथा उसके भावी कषायसमुद्घात भी किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं।

२११३. पुढविक्काइयस्स पुढविक्काइयत्ते जाव मणूसत्ते अतीता अणंता। पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि एगुत्तरिया। वाणमंतरत्ते जहा णेरइयत्ते (सु. २११२)। जोतिसिय-वेमाणियत्ते अतीया अणंता, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि सिय असंखेज्जा सिय अणंता।

[२११३] पृथ्वीकायिक के पृथ्वीकायिक अवस्था में यावत् मनुष्य-अवस्था में (कषायसमुद्घात) अतीत अनन्त हैं। इसके भावी (कषायसमुद्घात) किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके एक से लगा कर अनन्त होते हैं। वाणव्यन्तर-अवस्था में (सू. २११२ में उक्त) नारक-अवस्था के समान जानना चाहिए। ज्योतिष्क और वैमानिक-अवस्था में (कषायसमुद्घात के) अनन्त अतीत हुए हैं। (उसके) भावी (कषायसमुद्घात) किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं।

२११४. एवं जाव मणूसे वि णेयव्वं।

[२११४] इसी प्रकार (पृथ्वीकायिक के समान) मनुष्यत्व तक में भी जान लेना चाहिए।

२११५. [१] वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारे (सु. २१०८-१०)। णवरं सट्ठाणे एगुत्तरियाए भाणियव्वा जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते।

[२११५-१] वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों की वक्तव्यता (सू. २१०८-१० में उक्त) असुरकुमारों की वक्तव्यता के समान समझना चाहिए। विशेष बात यह है कि स्वस्थान में (सर्वत्र) एक से लेकर समझना तथा यावत् वैमानिक के वैमानिकत्व पर्यन्त कहना चाहिए।

[२] एवं एते चउवीसं चउवीसा दंडगा।

[२११५-२] इस प्रकार ये सब पूर्वोक्त चौवीसों दण्डक चौवीसों दण्डकों में कहने चाहिए।

२११६. [१] मारणंतियसमुग्घाओ सट्ठाणे वि परट्ठाणे वि एगुत्तरियाए नेयव्वो जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते।

[२११६-१] मारणान्तिकसमुद्घात स्वस्थान में भी और परस्थान में भी पूर्वोक्त एकोत्तरिका से (अर्थात्—एक से लगाकर) समझ लेना चाहिए; यावत् वैमानिक का वैमानिकपर्याय में (यहाँ तक अन्तिम दण्डक कहना चाहिए।)

[२] एवमेते चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणियव्वा।

इसी प्रकार ये चौवीस दण्डक चौवीसों दण्डकों में कह देना चाहिए।

२११७. [१] वेउव्वियसमुग्घाओ जहा कसायसमुग्घाओ (सु. २१०५-१५) तहा णिरवसेसो भाणियव्वो। णवरं जस्स णत्थि तस्स ण वुच्चति।

[२११७-१] वैक्रियसमुद्घात की समग्र वक्तव्यता कषायसमुद्घात (सू. २१०५ से २११५ तक में उक्त) के समान कहनी चाहिए। विशेष यह है कि जिसके (वैक्रियसमुद्घात) नहीं होता, उसके विषय में कथन नहीं करना चाहिए।

[२] एत्थ वि चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणियव्वा।

[२११७-२] यहाँ भी चौवीस दण्डक चौवीस दण्डकों में कहने चाहिए।

२११८. [१] तेयगसमुग्घाओ जहा मारणंतियसमुग्घाओ (सु. २११६)। णवरं जस्स अत्थि।

[२११८-१] तैजस समुद्घात का कथन (सू. २११६ में उक्त) मारणान्तिकसमुद्घात के समान कहना चाहिए। विशेष यह है कि जिसके वह होता है, (उसी के कहना चाहिए।)

[२] एवं एते वि चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणियव्वा।

[२११८-२] इस प्रकार ये भी चौवीसों दण्डक चौवीस दण्डकों में घटित करना चाहिए।

२११९. [१] एगमेगस्स णं भंते! णेरइयस्स णेरइयत्ते केवतिया आहारगसमुग्घाया अतीया?

गोयमा! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा?

गोयमा! णत्थि।

[२११९-१ प्र.] भगवन्! एक-एक नारक के नारक-अवस्था में कितने आहारकसमुद्घात अतीत हुए हैं?

[२११९-१] गौतम! (नारक के नारकपर्याय में अतीत आहारकसमुद्घात) नहीं होते।

[प्र.] भगवन् उसके भावी आहारकसमुद्घात कितने होते हैं?

[उ.] गौतम! (भावी आहारकसमुद्घात भी) नहीं होते।

[२] एवं जाव वेमाणियत्ते। णवरं मणूसत्ते अतीया कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा, उक्कोसेणं तिण्णि।

केवतिया पुरेक्खडा?

गोयमा! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं चत्तारि।

[२११९-२] इसी प्रकार (नारक के) यावत् वैमानिक-अवस्था में (अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात का कथन समझना चाहिए।) विशेष यह है कि (नारक के) मनुष्यपर्याय में

अतीत (आहारकसमुद्घात) किसी के होता है, किसी के नहीं होता। जिसके होता है, उसके जघन्य एक अथवा दो और उत्कृष्ट तीन होते हैं।

[प्र.] भगवन्! (नारक के मनुष्यपर्याय में) भावी (आहारकसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार होते हैं।

[३] एवं सव्वजीवाणं मणूसेसु भाणियव्वं।

[२११९-३] इसी प्रकार समस्त जीवों और मनुष्यों के (अतीत और भावी आहारकसमद्घात के विषय में जानना चाहिए।)

[४] मणूसस्स मणूसत्ते अतीया कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं चत्तारि। एवं पुरेक्खडा वि।

[२११९-४] मनुष्य के मनुष्यपर्याय में अतीत आहारकसमुद्घात किसी के हुए हैं, किसी के नहीं हुए। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार होते हैं। इसी प्रकार भावी (आहारकसमुद्घात) जानने चाहिए।

[५] एवमेते वि चउवीसं चउवीसा दंडगा जाव वेमाणियस्स वेमाणियत्ते।

[२११९-५] इस प्रकार ये चौवीस दण्डक चौवीसों दण्डकों में यावत् वैमानिकपर्याय में (आहारकसमुद्घात तक) कहना चाहिए।

२१२०. [१] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स णेरइयत्ते केवतिया केवलिसमुग्घाया अतीया ?
गोयमा ! णत्थि।
केवतिया पुरेक्खडा ?
गोयमा ! णत्थि।

[२१२०-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक के नारकत्वपर्याय में कितने केवलिसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१२०-१ उ.] गौतम ! नहीं हुए हैं।

[प्र.] भगवन् ! इसके भावी (केवलिसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे भी नहीं होते।

[२] एवं जाव वेमाणियत्ते। णवरं मणूसत्ते अतीया णत्थि, पुरेक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि एक्को।

[२१२०-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्याय तक में (केवलिसमुद्घात कहना चाहिए।) विशेष यह है कि मनुष्यपर्याय में अतीत (केवलिसमुद्घात) नहीं होता। भावी (केवलिसमुद्घात) किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होता है, उसके एक होता है।

[३] मणूसस्स मणूसत्ते अतीया कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि, जस्सऽत्थि इक्को। एवं पुरेक्खडा वि।

[२१२०-३] मनुष्य के मनुष्यपर्याय में अतीत केवलिसमुद्घात किसी के होता है, किसी के नहीं होता। जिसके होता है, उसके एक होता है। इसी प्रकार भावी (केवलिसमुद्घात के विषय में भी कहना चाहिए।)

[४] एवमेते चउवीसं चउवीसा दंडगा।

[२१२०-४] इस प्रकार ये चौवीसों दण्डक चौवीसों दण्डकों में (जानना चाहिए।)

विवेचन—एक-एक जीव के नारकत्वादि पर्याय में अतीत-अनागत-समुद्घात-प्ररूपणा—पहले यह प्रश्न किया गया था कि नारक के अतीत समुद्घात कितने हैं?, यहाँ यह प्रश्न किया जा रहा है कि नारक ने नारक-अवस्था में रहते हुए कितने वेदनासमुद्घात किए? अर्थात्—पहले नारकजीव के द्वारा चौवीस दण्डकों में से किसी भी दण्डक में किये हुए वेदनासमुद्घातों की गणना विवक्षित थी, जबकि यहाँ पर केवल नारकपर्याय में किये हुए वेदनासमुद्घातों की गणना विवक्षित है। वर्तमान में जो नारकजीव है, उसने नारकेतरपर्यायों में जो वेदनासमुद्घात किये, वे यहाँ विवक्षित नहीं। इसी प्रकार परस्थानों में भी एक-एक पर्याय ही विवक्षित है। यथा—नारक ने असुरकुमार-अवस्था में जो वेदनासमुद्घात किये, उन्हीं की गणना की जाएगी, अन्य अवस्थाओं में किये हुए वेदनासमुद्घात विवक्षित नहीं होंगे। इस प्रकरण में सर्वत्र यह विशेषता ध्यान में रखनी चाहिए।

(१) वेदनासमुद्घात—नारकपर्याय में रहे हुए एक नारक के अनन्त वेदनासमुद्घात हुए हैं, क्योंकि उसने अनन्त वार नारकपर्याय प्राप्त की है और एक-एक नारकभव में भी कम से कम संख्यात वेदनासमुद्घात होते हैं। साथ ही किसी एक नारक के मोक्षपर्यन्त समग्र अनागतकाल की अपेक्षा से नारकपर्याय में भावी वेदनासमुद्घात होते हैं, किसी के नहीं होते। जिस नारक की मृत्यु निकट है, वह कदाचित् वेदनासमुद्घात किये बिना ही, मारणान्तिकसमुद्घात के द्वारा नरक से उद्वर्तन करके मनुष्यभव पाकर मुक्त हो जाता है, उस नारक को नारकपर्यायसम्बन्धी भावी वेदनासमुद्घात नहीं होता। जिस नारक के नारकपर्यायसम्बन्धी भावी समुद्घात हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं। जैसे नारकों के नरकपर्यायसम्बन्धी वेदनासमुद्घातों का निरूपण किया गया, उसी प्रकार नारक के असुरकुमारपर्याय में यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त भवनपतिदेवपर्याय में, पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रियपर्याय में, विकलेन्द्रियपर्याय में, पंचेन्द्रियपर्याय में, मनुष्यपर्याय में, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकपर्याय में भी सम्पूर्ण अतीतकाल की अपेक्षा अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत होते हैं। भावी वेदनासमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं। इनमें से जिनकी शेष आयु क्षीण हो गई है और जो उसी भव में मोक्ष जाने वाले हैं, उनकी अपेक्षा से एक, दो या तीन भावी वेदनासमुद्घात कहे गए हैं। जो जीव पुनः नरक में उत्पन्न होने वाला होता है, उसके जघन्यरूप से भी संख्यात भावी वेदनासमुद्घात होते हैं। ये संख्यात समुद्घात भी उसी नारक के समझने चाहिए, जो एक ही वार और वह भी जघन्य स्थिति वाले नरक में उत्पन्न होने वाला हो। जो अनेक बार और दीर्घस्थितिकरूप में उत्पन्न होने वाला हो, उसके भावी वेदनासमुद्घात असंख्यात होते हैं, जो अनन्तबार उत्पन्न होने वाला हो उसके अनन्त होते हैं।

एक-एक असुरकुमार के नैरयिक-अवस्था में अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं, क्योंकि उसने अतीतकाल में अनन्त वार नारक-अवस्था प्राप्त की है और एक-एक नारकभव में संख्यात वेदनासमुद्घात होते हैं। एक-एक असुरकुमार के नारक-अवस्था में भावी वेदनासमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त वेदनासमुद्घात होते हैं। जो असुरकुमार के भव से निकल कर नरकभव में कभी जन्म नहीं लेगा, किन्तु अनन्तर भव में या फिर परम्परा से मनुष्यभव प्राप्त करके सिद्ध हो जाएगा, उसके नारक पर्यायभावी आगामी वेदनासमुद्घात नहीं होते, क्योंकि उसे नारकपर्याय ही प्राप्त होने वाला नहीं है। जो असुरकुमार उस भव के पश्चात् परम्परा से नरक में जाएगा, उसके भावी वेदनासमुद्घात होते हैं तथा उनमें से जो एक वार जघन्य स्थिति वाले नरक में उत्पन्न होगा, उस असुरकुमार के जघन्य भी संख्यात वेदनासमुद्घात होते हैं। क्योंकि नरक में वेदना की बहुलता होती है। कई वार जघन्यस्थिति वाले नरक में जाने पर असंख्यात वेदनासमुद्घात होंगे और अनन्त बार नरक में जाए तो अनन्त वेदनासमुद्घात होंगे।

एक-एक असुरकुमार के असुरकुमारावस्था में अतीतकाल में (यानी जब वह असुरकुमारपर्याय में था, तब) अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं तथा इसी अवस्था में भावी वेदनासमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त भावी वेदनासमुद्घात होते हैं। इनमें से जो असुरकुमार संख्यातवार, असंख्यातवार या अनन्तवार पुनः-पुनः असुरकुमाररूप में उत्पन्न होगा, उसके भावी वेदनासमुद्घात क्रमशः संख्यात, असंख्यात या अनन्त होंगे।

जैसे असुरकुमार के असुरकुमारावस्था में वेदनासमुद्घात कहे हैं, उसी प्रकार असुरकुमार के नागकुमारावस्था में भी यावत् वैमानिक अवस्था में भी अनन्त वेदनासमुद्घात अतीत हुए हैं। भावी समुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन तथा उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं। युक्ति पूर्ववत् समझनी चाहिए।

जिस प्रकार असुरकुमार के नारक-अवस्था से लेकर वैमानिक-अवस्था तक में वेदनासमुद्घात का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार नागकुमार आदि के वेदनासमुद्घात का प्ररूपण भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि असुरकुमार के असुरकुमाररूप स्वस्थान में कितने अतीत-अनागत वेदनासमुद्घात हैं? तथा नारक आदि परस्थानों में कितने वेदनासमुद्घात अतीत अनागत हैं? इस विषय में जैसे ऊपर बतलाया गया है, उसी प्रकार नागकुमार आदि से लेकर वैमानिकों तक भी स्वस्थानों और परस्थानों में वेदनासमुद्घात समझ लेने चाहिए।

इस प्रकार चौवीस दण्डकों में से प्रत्येक दण्डक का २४ दण्डकों को लेकर कथन करने पर १०५६ आलापक होते हैं, क्योंकि २४ को २४ से गुणा करने पर १०५६ संख्या होती है।[1]

कषायसमुद्घात—एक-एक नारक के नारकावस्था में अनन्त कषायसमुद्घात सम्पूर्ण अतीतकाल की अपेक्षा से व्यतीत हुए हैं तथा भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं।

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४०

जिसके होता है, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त हैं। प्रश्न के समय में जो नारक अपने भव के अन्तिम काल में वर्तमान है, वह अपनी नरकायु का क्षय करके कषाय-समुद्घात किये बिना ही नरकभव से निकलकर अनन्तर मनुष्यभव या परम्परा से मनुष्यभव पाकर मोक्ष प्राप्त करेगा, अर्थात् पुनः कदापि नरकभव में नहीं आएगा, उस नारक के नारकपर्याय-सम्बन्धी भावी कषायसमुद्घात नहीं है। जो नारक ऐसा नहीं है, अर्थात् जिसे नरकभव में दीर्घकाल तक रहना है, अथवा जो पुनः कभी नरकभव को प्राप्त करेगा, उसके भावी कषायसमुद्घात होते हैं। उनमें भी जिनकी लम्बी नरकायु व्यतीत हो चुकी है, केवल थोड़ी-सी शेष है, उनके एक, दो या तीन कषायसमुद्घात होते हैं, किन्तु जिनकी आयु संख्यातवर्ष की या असंख्यातवर्ष की शेष है, या जो पुनः नरकभव में उत्पन्न होने वाले हैं, उनके क्रमशः संख्यात, असंख्यात या अनन्त भावी कषायसमुद्घात समझने चाहिए।

एक-एक नारक के असुरकुमारपर्याय में अनन्त कषायसमुद्घात अतीत हुए हैं। जो नारक भविष्य में असुरकुमार में उत्पन्न होगा, उस नारक के असुरकुमारपर्यायसम्बन्धी भावी कषायसमुद्घात हैं और जो नहीं उत्पन्न होगा, उसके नहीं है। जिसके हैं, उसके कदाचित् संख्यात, असंख्यात या अनन्त भावी कषायसमुद्घात होते हैं। जो नारक भविष्य में जघन्य स्थिति वाला असुरकुमार होगा, उसकी अपेक्षा से संख्यात कषायसमुद्घात जानने चाहिए, क्योंकि जघन्य स्थिति में संख्यात समुद्घात ही होते हैं, इसका कारण यह है कि उसमें लोभादिकषाय का बाहुल्य पाया जाता है। असंख्यात कषायसमुद्घात उस असुरकुमार की अपेक्षा से कहे हैं, जो एक बार दीर्घकालिकरूप में अथवा कई बार जघन्य स्थिति के रूप में उत्पन्न होगा। जो नारक भविष्य में अनन्तबार असुरकुमारपर्याय में उत्पन्न होगा, उसकी अपेक्षा से अनन्त कषायसमुद्घात समझना चाहिए।

जैसे नारक के असुरकुमारपने में भावी कषायसमुद्घात कहे हैं, वैसे ही नागकुमार से स्तनित-कुमारपर्याय तक में अनन्त अतीत कषायसमुद्घात कहने चाहिए। भावी जिसके हो, उसके जघन्य संख्यात, उत्कृष्ट असंख्यात या अनन्त समझने चाहिए।

नारक के पृथ्वीकायिकपर्याय में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं तथा भावी कषायसमुद्घात किसी के हैं, किसी के नहीं हैं। पूर्ववत् एक से लगाकर हैं। अर्थात् जघन्य एक, दो या तीन हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त हैं। जो नारक नरक से निकल कर पृथ्वीकायिक होगा, उसके इस प्रकार से भावी कषाय समुद्घात होंगे। यथा—जो पंचेन्द्रियतिर्यञ्चभव से, मनुष्यभव से अथवा देवभव से कषायसमुद्घात को प्राप्त होकर एक ही बार पृथ्वीकायिक भव में गमन करेगा, उसका एक, दो बार गमन करने वाले के दो, तीन बार गमन करने वाले के तीन, संख्यात बार जाने वाले के संख्यात, असंख्यात बार गमन करने वाले के असंख्यात और अनन्त बार गमन करने वाले के अनन्त भावी कषायसमुद्घात समझने चाहिए। जो नारक नरकभव से निकल कर पुनः कभी पृथ्वीकायिक का भव ग्रहण नहीं करेगा, उसके भावी कषायसमुद्घात नहीं होते।

जैसे नारक के पृथ्वीकायिकरूप में कषायसमुद्घात कहे, उसी प्रकार नारक के अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और मनुष्य के रूप में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त होते हैं। भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते।

युक्ति पूर्ववत् है। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात या अनन्त होते हैं।

नारक के असुरकुमारपर्याय में जैसे अतीत-अनागत कषायसमुद्घातों का प्रतिपादन किया है, वैसे ही यहाँ (वाणव्यन्तर अवस्था में) कहना चाहिए। नारक के ज्योतिष्क और वैमानिक पर्याय में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं और भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं।

यहाँ तक नारक जीव के चौवीस दण्डकों के रूप में अतीत और अनागत काल की अपेक्षा से कषायसमुद्घात का निरूपण किया गया। असुरकुमार के नारकपने में सकल अतीतकाल की अपेक्षा अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं, भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिस असुरकुमार को नारकरूप में भावी कषायसमुद्घात हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचितअसंख्यात और कदाचित् अनन्त हैं। असुरकुमार के असुरकुमाररूप में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं। वर्तमान में जो जीव असुरकुमारपर्याय में है, वह भूतकाल में असुरकुमारपर्याय में अनन्तबार कषायसमुद्घात कर चुका है। भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त कहने चाहिए। इसी प्रकार नागकुमारपर्याय में यावत् लगातार वैमानिकपर्याय में जैसे नारक के कषायसमुद्घात कहे हैं, वैसे ही असुरकुमार के भी कहने चाहिए। असुरकुमार के अतीत और भावी कषायसमुद्घात के समान नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक के भी नारकपने से लेकर वैमानिकपने तक चौवीस दण्डकों में अतीत और भावी कषायसमुद्घात जानने चाहिए। विशेष यह है कि इन सबके स्वस्थानों में भावी कषायसमुद्घात जघन्य एक, दो, तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त कहने चाहिए। उदाहरणार्थ—असुरकुमारों का असुरकुमारपर्याय और नागकुमारों का नागकुमारपर्याय स्वस्थान है। शेष तेईस दण्डक परस्थान हैं।

पृथ्वीकायिक के असुरकुमारपर्याय में यावत् स्तनितकुमारपर्याय में सकल अतीतकाल की अपेक्षा से अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं। भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त होते हैं। पृथ्वीकायिक के पृथ्वीकायिकपर्याय में यावत् अप्कायिकत्व, तेजस्कायिकत्व, वायुकायिकत्व, वनस्पतिकायिकत्व से मनुष्यपर्याय तक में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं। भावी कषायसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त हैं। पृथ्वीकायिक के वाणव्यन्तरपन में अतीत और अनागत कषायसमुद्घात उतने ही समझने चाहिए, जितने नारकपन में कहे हैं। ज्योतिष्क और वैमानिक पर्याय में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त होते हैं तथा भावी किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते। जिस पृथ्वीकायिक के होते हैं, उसके जघन्य असंख्यात और उत्कृष्ट अनन्त होते हैं। पृथ्वीकायिक की तरह यावत् अप्कायिक के नारकपन में, भवनपतिपन में, एकेन्द्रियपन में, विकलेन्द्रियपन में, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चपन में और मनुष्यपन में भी जान लेना चाहिए।

वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों की कषायसमुद्घातसम्बन्धी वक्तव्यता असुरकुमारों के समान समझनी चाहिए। विशेषता यही है कि स्वस्थान में सर्वत्र एक से लेकर कहना चाहिए।

अर्थात् किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो अथवा तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होते हैं। इसी प्रकार तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रियतिर्यञ्च से लेकर वैमानिकपर्यन्त के नारकपन से लेकर यावत् वैमानिकपन तक में अतीत कषायसमुद्घात अनन्त हैं और भावी कषायसमुद्घात जघन्य एक, दो या तीन हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त हैं।

इस प्रकार ये सब पूर्वोक्त चौवीसों दण्डक चौवीसों दण्डकों में घटाये जाते हैं। अतः सब मिलकर १०५६ दण्डक होते हैं।[1]

मारणान्तिकसमुद्घात स्वस्थान में और परस्थान में भी पूर्वोक्त एकोत्तरिका से समझने चाहिए। चौवीस दण्डकों के वाच्य नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के नारकपन आदि स्वस्थानों में और असुरकुमारपन आदि परस्थानों में अतीत मारणान्तिकसमुद्घात अनन्त हैं। तात्पर्य यह है कि नारक के स्वस्थान नारकपर्याय और परस्थान असुरकुमारादि पर्याय में अर्थात् वैमानिक तक के सभी स्थानों में अतीत मारणान्तिक समुद्घात अनन्त होते हैं। भावी मारणान्तिकसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं।

जैसे नारक के नारकत्व आदि चौवीस स्व-परस्थानों में अतीत और अनागत मारणान्तिक समुद्घात का कथन किया है, उसी प्रकार असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक चौवीस दण्डकों के क्रम से स्व-परस्थानों में, अतीत-अनागत-कालिक मारणान्तिकसमुद्घात का प्ररूपण कर लेना चाहिए। इस प्रकार कुल मिलाकर ये १०५६ आलापक होते हैं।[2]

वैक्रियसमुद्घात का कथन पूर्णरूप से कषायसमुद्घात के समान ही समझना चाहिए। इसमें विशेष बात यह है कि जिस जीव में वैक्रियलब्धि न होने से वैक्रियसमुद्घात नहीं होता उसको वैक्रियसमुद्घात नहीं कहना चाहिए। जिन जीवों में वह सम्भव है, उन्हीं में कहना चाहिए। इस प्रकार वायुकायिकों के सिवाय पृथ्वीकायिक आदि चार एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में वैक्रिय-समुद्घात नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इनमें वैक्रियलब्धि नहीं होती। अतएव इनके अतिरिक्त नारकों, भवनपतियों, वायुकायिकों, पंचेन्द्रियतिर्यंचों, मनुष्यों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों में वैक्रियसमुद्घात कहना चाहिए। इसी दृष्टि से यहाँ कहा गया है—**एत्थ वि चउवीसं चउवीसा दंडगा भाणियव्वा**। वैक्रिय समुद्घात में भी चौवीसों दण्डकों की चौवीसों दण्डकों में प्ररूपणा करनी चाहिए। इस प्रकार कुल मिला कर १०५६ आलापक होते हैं।[3]

---

१. (क) अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४१
   (ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५

२. (क) वही, भा. ५
   (ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७. पृ. ४४२

३. (क) वही, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४३
   (ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५

तैजससमुद्घात की प्ररूपणा मारणान्तिकसमुद्घात के सदृश जानना चाहिए। किन्तु इसमें भी विशेषता यह है कि जिस जीव में तैजससमुद्घात हो, उसी का कथन करना चाहिए। जिसमें तैजससमुद्घात सम्भव ही न हो, उसका कथन नहीं करना चाहिए। नारकों, पृथ्वीकायिकादि पांच एकेन्द्रियों एवं विकलेन्द्रियों में तैजससमुद्घात का सम्भव ही नहीं है, अतएव उनमें कथन नहीं करना चाहिए। पूर्वोक्त प्रकार से किसी दण्डक में विधिरूप से किसी में निषेधरूप से आलापक कहने से कुल १०५६ आलापक होते हैं। ये आलापक चौवीस दण्डकों के क्रम से चौवीसों दण्डकों के कथन के हैं।

आहारकसमुद्घात—नारक के नारकपर्याय में आहारकसमुद्घात का सम्भव न होने से अतीत आहारकसमुद्घात नहीं होता। इसी प्रकार भावी आहारकसमुद्घात भी नहीं होता, क्योंकि नारकपर्याय में जीव को आहारकलब्धि नहीं हो सकती और उसके अभाव में आहारकसमुद्घात भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार असुरकुमारादि भवनपतिपर्याय में, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियपर्याय में, विकलेन्द्रियपर्याय, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चपर्याय में तथा वाणव्यन्तर ज्योतिष्क वैमानिक पर्याय में भी भावी आहारकसमुद्घात नहीं होते, क्योंकि इन सब पर्यायों में आहारकसमुद्घात का निषेध है। विशेष यह है कि जब कोई नारक पूर्वकाल में मनुष्यपर्याय में रहा, उस पर्याय की अपेक्षा किसी के आहारकसमुद्घात होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक या दो और उत्कृष्ट तीन होते हैं।

किसी नारक के मनुष्यपर्याय में भावी आहारकसमुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार होते हैं। जिस प्रकार नारक के मनुष्यपर्याय में आहारकसमुद्घात कहे हैं, उसी प्रकार असुरकुमार आदि सभी जीवों के अतीत एवं भावी मनुष्यपर्याय में भी कहना। किन्तु मनुष्यपर्याय में किसी मनुष्य के अतीत आहारकसमुद्घात होते हैं, किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन आहारकसमुद्घात होते हैं। अतीत आहारसमुद्घात की तरह भावी आहारकसमुद्घात भी किसी के होते हैं, किसी के नहीं। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चार आहारकसमुद्घात होते हैं। इस प्रकार इन २४ दण्डकों में से प्रत्येक को चौबीस दण्डकों में क्रमशः घटित करके कहना। ये सब मिलकर १०५६ आलापक होते हैं। यह ध्यान रहे कि मनुष्य के सिवाय किसी में भी आहारकसमुद्घात नहीं होता।[1]

केवलिसमुद्घात—नारक के नारकपर्याय में अतीत अथवा अनागत केवलिसमुद्घात नहीं होता, क्योंकि नारक केवलिसमुद्घात कर ही नहीं सकता। इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्याय में वैमानिक के अतीत और अनागत केवलिसमुद्घात का अभाव है, क्योंकि इनमें केवलिसमुद्घात का होना कदापि सम्भव नहीं है। हाँ, नारक आदि के मनुष्यपर्याय में केवलिसमुद्घात होता है, किन्तु उसमें भी अतीत केवलिसमुद्घात नहीं होता। भावी केवलिसमुद्घात किसी नारक के मनुष्यपर्याय में होता है, किसी के नहीं। जिसके होता है, उसके एक ही होता है। मनुष्य के मनुष्यपर्याय में अतीत और भावी केवलिसमुद्घात किसी के होता है, किसी के नहीं। जिसके होता है, एक ही होता है। इस प्रकार मनुष्यपर्याय के सिवाय सभी स्व-पर-स्थानों में केवलिसमुद्घात का अभाव कहना चाहिए। इस

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४३

प्रकार केवलिसमुद्घात सम्बन्धी चौवीस दण्डकों में से प्रत्येक में चौवीस दण्डक घटित किए गए हैं। ये सब विधिनिषेध के कुल आलापक १०५६ हैं।[1]

चौवीस दण्डकों की चौवीस दण्डक-पर्यायों में बहुत्व की अपेक्षा से अतीतादि समुद्घात-प्ररूपणा

२१२१. [१] णेरइयाणं भंते ! णेरइयत्ते केवतिया वेदणासमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! अणंता।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अणंता। एवं जाव वेमाणियत्ते।

[२१२१-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) नारकों के नारकपर्याय में रहते हुए कितने वेदना-समुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१२१-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं।

[प्र.] भगवन् ! (नारकों के) भावी (वेदनासमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! अनन्त होते हैं। इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्याय तक में (भी अतीत और अनागत अनन्त होते हैं।)

[२] एवं सव्वजीवाणं भाणियव्वं जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते।

[२१२१-२] इसी प्रकार सर्व जीवों के (अतीत और अनागत वेदनासमुद्घात) यावत् वैमानिकों के वैमानिकपर्याय तक में (कहने चाहिए।)

२१२२. एवं जाव तेयगसमुग्घाओ। णवरं उवउज्जिऊण णेयव्वं जस्सऽत्थि वेउव्विय-तेयगा।

[२१२२] इसी प्रकार यावत् तैजससमुद्घात पर्यन्त कहना चाहिए। विशेष उपयोग लगा कर समझ लेना चाहिए कि जिसके वैक्रिय और तैजससमुद्घात सम्भव हों, (उसी के कहना चाहिए।)

२१२३. [१] णेरइयाणं भंते ! णेरइयत्ते केवतिया आहारगसमुग्घाता अतीया ?

गोयमा ! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! नत्थि।

[२१२३-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) नारकों के नारकपर्याय में रहते हुए कितने आहारक-समुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१२३-१ उ.] गौतम ! एक भी नहीं हुआ है।

[प्र.] भगवन् ! (नारकों के) भावी (आहारकसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! नहीं होते।

[२] एवं जाव वेमाणियत्ते। णवरं मणूसत्ते अतीया असंखेज्जा, पुरेक्खडा असंखेज्जा।

[२१२३-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्याय में (अतीत अनागत आहारकसमुद्घात का कथन करना चाहिए।) विशेष यह है कि मनुष्यपर्याय में असंख्यात अतीत और असंख्यात भावी (आहारकसमुद्घात होते हैं।)

---

१. अ. रा. कोष. भाग ७, पृ. ४४३

[३] एवं जाव वेमाणियाणं। णवरं वणस्सइकाइयाणं मणूसत्ते अतीया अणंता, पुरेक्खडा अणंता। मणूसाणं मणूसत्ते अतीया सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, एवं पुरेक्खडा वि। सेसा सव्वे जहा णेरइया।

[२१२३-३] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक (कहना चाहिए।) विशेष यह है कि वनस्पतिकायिकों के मनुष्यपर्याय में अनन्त अतीत और अनन्त भावी (आहारकसमुद्घात) होते हैं। मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात अतीत (आ. समु.) होते हैं। इसी प्रकार भावी (आ. समुद्घात भी समझने चाहिए।) शेष सब नारकों के (कथन के) समान (समझना चाहिए।)

[४] एवं एते चउव्वीसं चउव्वीसा दंडगा।

[२१२३-४] इस प्रकार इन चौबीसों के चौबीस दण्डक होते हैं।

२१२४. [१] णेरइयाणं भंते! णेरइयत्ते केवतिया केवलिसमुग्घाया अतीया?

गोयमा! णत्थि।

केवतिया पुरेक्खडा?

गोयमा! णत्थि।

[२१२४-१ प्र.] भगवन्! नारकों के नारकपर्याय में रहते हुए कितने केवलिसमुद्घात अतीत हुए हैं?

[२१२४-१ उ.] गौतम! नहीं हुए।

[प्र.] भगवन्! कितने भावी (केवलिसमुद्घात) होते हैं?

[उ.] गौतम! वे भी नहीं होते।

[२] एवं जाव वेमाणियत्ते। णवरं मणूसत्ते अतीता णत्थि, पुरेक्खडा असंखेज्जा।

[२१२४-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्याय पर्यन्त कहना चाहिए। विशेष यह है कि मनुष्यपर्याय में अतीत (केवलिसमुद्घात) नहीं होते, किन्तु भावी असंख्यात होते हैं।

[३] एवं जाव वेमाणिया। णवरं वणप्फइकाइयाणं मणूसत्ते अतीया णत्थि, पुरेक्खडा अणंता। मणूसाणं मणूसत्ते अतीया सिय अत्थि सिय णत्थि। जदि अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सतपुहत्तं।

केवतिया पुरेक्खडा?

गोयमा! सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा।

[२१२४-३] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक (समझना चाहिए।) विशेष यह है कि वनस्पतिकायिकों के मनुष्यपर्याय में अतीत (केवलिसमुद्घात) नहीं होते। भावी अनन्त होते हैं। मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में अतीत (केवलिसमुद्घात) कदाचित् होते है, कदाचित् नहीं होते। जिसके होता है, उसके जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट शत-पृथक्त्व होते हैं।

[प्र.] भगवन् ! (मनुष्यों के) भावी (केवलिसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होते हैं।

[४] एवं एते चउव्वीसं चउव्वीसा दंडगा सव्वे पुच्छाए भाणियव्वा जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते।

[२१२४-४] इस प्रकार इन चौवीस दण्डकों में चौवीस दण्डक घटित करके पृच्छा के अनुसार यावत् वैमानिकों के वैमानिकपर्याय में, यहाँ तक कहने चाहिए।

विवेचन—बहुत्व की अपेक्षा से अतीत-अनागत वेदनादिसमुद्घात निरूपण—इससे पूर्व एक-एक नैरयिक आदि के नैरयिकादिपर्याय में अतीत-अनागत वेदनादि समुद्घातों का निरूपण किया गया था। अब बहुत्व की अपेक्षा से नारकादि के उस-उस पर्याय में रहते हुए अतीत-अनागत वेदनादि समुद्घातों का निरूपण किया गया है।

(१) वेदनादि पांच समुद्घात—नारकों के नारकपर्याय में रहते हुए अतीत वेदनासमुद्घात अनन्त हुए हैं, क्योंकि अनेक नारकों को अव्यवहारराशि से निकले अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है। इसी प्रकार उनके भावी वेदनासमुद्घात भी अनन्त हैं, क्योंकि वर्त्तमानकाल में जो नारक हैं, उनमें से बहुत-से नारक अनन्तवार पुनः नरक में उत्पन्न होंगे। नारकों के नारकपर्याय में वेदनासमुद्घात कहे हैं, वैसे ही असुरकुमारादि भवनपतिपर्याय में, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियपर्याय में, विकलेन्द्रिय-पर्याय में, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चपर्याय में, मनुष्यपर्याय में, वाणव्यन्तरपर्याय में, ज्योतिष्कपर्याय में और वैमानिकपर्याय में, अर्थात् इन सभी पर्यायों में रहते हुए नारकों के अतीत और अनागत वेदना-समुद्घात अनन्त हैं।

नारकों के समान नारकपर्याय से वैमानिकपर्याय तक में रहे हुए असुरकुमारादि भवनपतियों से लेकर वैमानिकों तक के अतीत-अनागत वेदनासमुद्घात का कथन करना चाहिए। अर्थात् नारकों के समान ही वैमानिकों तक सभी जीवों के स्वस्थान और परस्थान में (चौवीस दण्डकों में) अतीत और अनागत वेदनासमुद्घात कहने चाहिए।

इस प्रकार बहुवचन सम्बन्धी वेदनासमुद्घात के आलापक भी कुल मिलाकर १०५६ होते हैं।

वेदनासमुद्घात के समान अतीत और अनागत कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय और तैजस-समुद्घात भी नारकों से लेकर वैमानिकों तक तथा नारकपर्याय से लेकर वैमानिकपर्याय तक चौवीस दण्डकों में कहना चाहिए। इस प्रकार कषायसमुद्घात आदि के भी प्रत्येक के १०५६ आलापक होते हैं।

विशेष सूचना—उपयोग लगाकर अर्थात् ध्यान रखकर जो समुद्घात जिसमें (जहाँ) सम्भव है, उसमें (वहाँ) वे ही अतीत अनागत समुद्घात कहने चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ जिसमें जो समुद्घात सम्भव न हों, वहाँ उसमें वे समुद्घात नहीं कहने चाहिए। इसी का स्पष्टी-करण करते हुए कहा गया है—**उवउज्जिऊण णेयव्वं, जस्सऽत्थि वेउव्विय-तेयगा**— अर्थात् जिन नार-कादि में वैक्रिय और तैजस समुद्घात सम्भव हैं, उन्हीं में उनका कथन करना चाहिए। उनके अति-रिक्त पृथ्वीकायिकादि में नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उनमें वे सम्भव नहीं हैं। अतीत और अनागत

कषायसमुद्घात एवं मारणान्तिकसमुद्घात का कथन वेदनासमुद्घात की तरह सर्वत्र समानरूप से कहना चाहिए ।[1]

आहारकसमुद्घात—नारकों के नारक-अवस्था में अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात नहीं होते । इसका कारण यह है कि आहारकसमुद्घात आहारकशरीर से ही होता है और आहारक-शरीर आहारकलब्धि की विद्यमानता में ही होता है । आहारकलब्धि चतुर्दशपूर्वधर मुनियों को ही प्राप्त होती है, चौदह पूर्वों का ज्ञान मनुष्यपर्याय में ही हो सकता है, अन्य पर्याय में नहीं । इस कारण मनुष्येतर पर्यायों में सर्वत्र अतीत अनागत आहारकसमुद्घात का अभाव है ।

जैसे नारकों के नारक पर्याय में आहारकसमुद्घात सम्भव नहीं है, उसी प्रकार नारकों के असुरकुमारादि भवनपतिपर्याय में, पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रियपर्याय में, विकलेन्द्रियपर्याय में, तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियपर्याय में, वाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकपर्याय में भी नारकों के अतीत और भावी आहारक-समुद्घात भी पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार नहीं हैं ।

विशेष—(नारकों के) मनुष्यपर्याय में अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात असंख्यात हैं, क्योंकि पृच्छा के समय जो नारक विद्यमान हैं, उनमें से असंख्यात नारक ऐसे हैं, जिन्होंने पूर्वकाल में कभी न कभी मनुष्यपर्याय प्राप्त की थी, जो चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे और जिन्होंने एक बार या दो-तीन बार आहारकसमुद्घात भी किया था । इस कारण नारकों के मनुष्यावस्था में असंख्यात अतीत आहारकसमुद्घात कहे गए हैं । इसी प्रकार पृच्छा के समय विद्यमान नारकों में से असंख्यात ऐसे हैं, जो नरक से निकल कर अनन्तरभव में या परम्परा से मनुष्यभव प्राप्त करके चौदह पूर्वों के धारक होंगे और आहारकलब्धि प्राप्त करके आहारकसमुद्घात करेंगे । इसी कारण नारकों के मनुष्य-पर्याय में भावी समुद्घात असंख्यात कहे गए हैं ।

नारकों के समान असुरकुमारों से लेकर वैमानिकों तक चौवीसों दण्डकों के क्रम से स्व-पर-स्थानों में आहारकसमुद्घातों का (मनुष्यपर्याय को छोड़कर) निषेध करना चाहिए । विशेषता यह है कि वनस्पतिकायिकों के मनुष्यपर्याय में अतीत और अनागत आहारकसमुद्घात अनन्त कहना चाहिए, क्योंकि अनन्त जीव ऐसे हैं, जिन्होंने मनुष्यभव में चौदह पूर्वों का अध्ययन किया था और यथासम्भव एक, दो या तीन बार आहारकसमुद्घात भी किया था, किन्तु अब वे वनस्पतिकायिक अवस्था में हैं । अनन्त जीव ऐसे भी हैं, जो वनस्पतिकाय से निकल कर मनुष्यभव धारण करके भविष्य में आहारकसमुद्घात करेंगे । मनुष्यों के मनुष्यावस्था में पृच्छा-समय से पूर्व अतीत समुद्-घात कदाचित् संख्यात हैं और कदाचित् असंख्यात हैं । इसी प्रकार मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में रहते हुए भावी आहारकसमुद्घात कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होते हैं, क्योंकि वे पृच्छा के समय उत्कृष्टरूप से भी सबसे कम श्रेणी के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेशों की राशि के बराबर हैं । इस कारण प्रश्न के समय कदाचित् असंख्यात समझना चाहिए तथा प्रत्येक ने यथासम्भव एक, दो या तीन बार आहारकसमुद्घात किया है, या करेंगे, इस दृष्टि से कदाचित् संख्यात भी हैं । मनुष्यों के अतिरिक्त शेष सब असुरकुमारों आदि का कथन नारकों के समान समझना चाहिए ।

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ९९२-९९३
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ७, पृ. ४४४

इस प्रकार यहाँ चौवीसों दण्डकों में से प्रत्येक को चौवीस ही दण्डकों पर घटित करना चाहिए। सब मिल कर १०५६ आलापक होते हैं।[1]

केवलिसमुद्घात—नारकों के नारकपर्याय में अतीत और भावी केवलिसमुद्घात नहीं होता, क्योंकि केवलिसमुद्घात केवल मनुष्यावस्था में ही हो सकता है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य अवस्था में वह सम्भव ही नहीं है। जो जीव केवलिसमुद्घात कर चुका हो, वह संसार-परिभ्रमण नहीं करता, क्योंकि केवलिसमुद्घात के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त में ही नियम से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतएव नारकों के मनुष्य से भिन्न अवस्था में अतीत और अनागत केवलिसमुद्घात ही नहीं है। इसी प्रकार असुरकुमारादि से लेकर (मनुष्यपर्याय के सिवाय) वैमानिक अवस्था में भी अतीत केवलिसमुद्घात नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य केवलिसमुद्घात कर चुके हों, उनका नरक में गमन नहीं होता। अतः मनुष्यावस्था में भी अतीत केवलिसमुद्घात सम्भव नहीं है। पृच्छा के समय में जो नारक विद्यमान हों, उनमें से असंख्यात ऐसे हैं, जो मोक्षगमन के योग्य हैं। इस दृष्टि से भावी केवलिसमुद्घात असंख्यात कहे गए हैं। इसी प्रकार असुरकुमार आदि भवनपतियों के पृथ्वीकायिक आदि चार एकेन्द्रियों (वनस्पतियों के सिवाय), तीन विकलेन्द्रियों, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों, वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों के भी मनुष्येतरपर्याय में अतीत अथवा अनागत केवलिसमुद्घात पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार नहीं हो सकते। वनस्पतिकायिकों के मनुष्यावस्था में अतीत केवलिसमुद्घात तो नहीं होते, क्योंकि केवलिसमुद्घात के पश्चात् उसी भव में मुक्ति प्राप्त हो जाती है, फिर वनस्पतिकायिकों में जन्म लेना संभव नहीं है, किन्तु भावी केवलिसमुद्घात अनन्त हैं। इसका कारण यह है कि पृच्छा के समय जो वनस्पतिकायिक जीव हैं, उनमें अनन्त जीव ऐसे भी हैं, जो वनस्पतिकाय से निकल कर अनन्तरभव में या परम्परा से केवलिसमुद्घात करके सिद्धि प्राप्त करेंगे।

मनुष्यों के मनुष्यावस्था में अतीत केवलिसमुद्घात कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता। जब कई मनुष्य केवलिसमुद्घात कर चुके हों और मुक्त हो चुके हों और अन्य किसी केवली ने केवलिसमुद्घात न किया हो, तब केवलिसमुद्घात का अभाव समझना चाहिए। जब मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में केवलिसमुद्घात होते हैं और उत्कृष्ट शत-पृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ तक) होते हैं।

मनुष्यों के मनुष्यपर्याय में रहते हुए भावी केवलिसमुद्घात कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात होते हैं। पृच्छा के समय में कदाचित् संख्यात मनुष्य ऐसे हो सकते हैं, जो भविष्य में मनुष्यावस्था में केवलिसमुद्घात करेंगे, कदाचित् असंख्यात भी हो सकते हैं।

इस प्रकार के चौवीस-चौवीस दण्डक हैं, जिनमें अतीत और अनागत केवलिसमुद्घातों का प्रतिपादन किया गया है। ये सब मिलकर १०५६ आलापक होते हैं। ये आलापक नैरयिकपर्याय से लेकर वैमानिकपर्याय तक स्व-परस्थानों में कहने चाहिए।[2]

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ७, पृ. ४४४
(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. ९९५

२. (क) वही, भा. ५, पृ. ९९९ से १००१
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४४

विविध-समुद्घात-समवहत-असमवहत जीवादि के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा

२१२५. एतेसि णं भंते ! जीवाणं वेयणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयगसमुग्घाएणं आहारगसमुग्घाएणं केवलिसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा आहारगसमुग्घाएणं समोहया, केवलिसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, तेयगसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया अणंतगुणा, कसायसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, वेदणासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया असंखेज्जगुणा ।

[२१२५ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से, मारणान्तिकसमुद्घात से, वैक्रियसमुद्घात से, तैजससमुद्घात से, आहारकसमुद्घात से और केवलिसमुद्घात से समवहत एवं असमवहत (अर्थात् जो किसी भी समुद्घात से युक्त नहीं है—सर्वसमुद्घात से रहित) जीवों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१२५ उ.] गौतम ! सबसे कम आहारकसमुद्घात से समवहत जीव हैं, (उनसे) केवलिसमुद्घात से समवहत जीव संख्यातगुणा हैं, (उनसे) तैजससमुद्घात से समवहत जीव असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) वैक्रियसमुद्घात से समवहत जीव असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत जीव अनन्तगुणा हैं, (उनसे) कषायसमुद्घात से समवहत जीव असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) वेदनासमुद्घात से समवहत जीव विशेषाधिक हैं और (इन सबसे) असमवहत जीव असंख्यातगुणा हैं ।

२१२६. एतेसि णं भंते ! णेरइयाणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा णेरइया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, वेदणासमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, असमोहया संखेज्जगुणा ।

[२१२६ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से, मारणान्तिकसमुद्घात से एवं वैक्रियसमुद्घात से समवहत और असमवहत नैरयिकों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१२६ उ.] गौतम ! सबसे कम मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत नैरयिक हैं, (उनसे) वैक्रियसमुद्घात से समवहत नैरयिक असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) कषायसमुद्घात से समवहत नैरयिक संख्यातगुणा हैं, (उनसे) वेदनासमुद्घात से समवहत नारक संख्यातगुणा हैं और (इन सबसे) असमवहत नारक संख्यातगुणा हैं ।

२१२७. [१] एतेसि णं भंते ! असुरकुमाराणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयगसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा असुरकुमारा तेयगसमुग्घाएणं समोहया, मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, वेयणासमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, असमोहया असंखेज्जगुणा ।

[२१२७-१ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से, मारणान्तिकसमुद्घात से, वैक्रियसमुद्घात से तथा तैजससमुद्घात से समवहत एवं असमवहत असुरकुमारों में से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१२७-१ उ.] गौतम ! सबसे कम तैजससमुद्घात से समवहत असुरकुमार हैं, (उनसे) मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत असुरकुमार असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) वेदनासमुद्घात से समवहत असुरकुमार असंख्यातगुणा हैं, (उनसे) कषायसमुद्घात से समवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं,(उनसे) वैक्रियसमुद्घात से समवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं और (इन सबसे) असंख्यातगुणा अधिक हैं— असमवहत असुरकुमार ।

[२] एवं जाव थणियकुमारा ।

[२१२७-२] इसी प्रकार (का कथन नागकुमार से लेकर) यावत् स्तनितकुमार तक जानना चाहिए ।

२१२८. [१] एतेसि णं भंते ! पुढविक्काइयाणं वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कयरे० ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविक्काइया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया, कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, वेदणासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया असंखेज्जगुणा ।

[२१२८-१ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से एवं मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत तथा असमवहत पृथ्वीकायिकों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१२८-१ उ.] गौतम ! सबसे कम मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक हैं, उनसे कषायसमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक संख्यातगुणा हैं, उनसे वेदनासमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं और इन सबसे असमवहत पृथ्वीकायिक असंख्यातगुणे हैं ।

[२] एवं जाव वणप्फइकाइया । णवरं सव्वत्थोवा वाउक्काइया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया, मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, कसायसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, वेदणासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया असंखेज्जगुणा ।

[२१२८-२] इसी प्रकार (अप्कायिक से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिक तक(पृथ्वीकायिकवत् समझना चाहिए ।) विशेष यह है कि वायुकायिक जीवों में सबसे कम वैक्रियसमुद्घात से समवहत वायुकायिक हैं, उनसे मारणान्तिक समुद्घात से समवहत वायुकायिक असंख्यातगुणा हैं, उनसे कषाय-

समुद्घात से समवहत वायुकायिक असंख्यातगुणा हैं और उनसे वेदनासमुद्घात से समवहत वायुकायिक विशेषाधिक हैं तथा (इन सबसे) असंख्यातगुणा अधिक हैं असमवहत वायुकायिक जीव।

२१२९. [१] बेइंदियाणं भंते ! वेयणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा बेइंदिया मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया, वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, असमोहया संखेज्जगुणा।

[२१२९-१ प्र.] भगवन् ! इन वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से तथा मारणान्तिक-समुद्घात से समवहत एवं असमवहत द्वीन्द्रिय जीवों में कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१२९-१ उ.] गौतम ! सबसे कम मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत द्वीन्द्रिय जीव हैं। उनसे वेदनासमुद्घात से समवहत द्वीन्द्रिय असंख्यातगुणा हैं, उनसे कषायसमुद्घात से समवहत द्वीन्द्रिय संख्यातगुणा और इन सबसे असमवहत द्वीन्द्रिय संख्यातगुणा अधिक हैं।

[२] एवं जाव चउरिंदिया।

[२१२९-२] इसी प्रकार (त्रीन्द्रिय और) यावत् चतुरिन्द्रिय तक (का अल्पबहुत्व जानना चाहिए।)

२१३०. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयासमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचेंदियतिरिक्खजोणिया तेयासमुग्घाएणं समोहया, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, वेदणासमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, असमोहया संखेज्जगुणा।

[२१३० प्र.] भगवन् ! वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से, मारणान्तिकसमुद्घात से, वैक्रियसमुद्घात से तथा तैजससमुद्घात से समवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक होते हैं ?

[२१३० उ.] गौतम ! सबसे कम तैजससमुद्घात से समवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च हैं, उनसे वैक्रियसमुद्घात से समवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च असंख्यातगुणा हैं, उनसे मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च असंख्यातगुणा हैं, उनसे वेदनासमुद्घात से समवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च असंख्यातगुणा हैं तथा उनसे कषायसमुद्घात से समवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च संख्यातगुणा हैं और इन सबसे संख्यातगुणा अधिक हैं—असमवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च।

२१३१. मणुस्साणं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं कसायसमुग्घाएणं मारणंतियसमुग्घाएणं वेउव्वियसमुग्घाएणं तेयगसमुग्घाएणं आहारगसमुग्घाएणं केवलिसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा मणूसा आहारगसमुग्घाएणं समोहया, केवलिसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, तेयगसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, वेयणासमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा, कसायसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, असमोहया असंखेज्जगुणा।

[२१३१ प्र.] भगवन् ! वेदनासमुद्घात से, कषायसमुद्घात से, मारणान्तिकसमुद्घात से, वैक्रियसमुद्घात से, तैजससमुद्घात से, आहारकसमुद्घात से तथा केवलिसमुद्घात से समवहत एवं असमवहत मनुष्यों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१३१ उ.] गौतम ! सबसे कम आहारकसमुद्घात से समवहत मनुष्य हैं। उनसे केवलिसमुद्घात से समवहत मनुष्य संख्यातगुणा हैं, उनसे तैजससमुद्घात से समवहत मनुष्य संख्यातगुणा हैं, उनसे वैक्रियसमुद्घात से समवहत मनुष्य संख्यातगुणा हैं, उनसे मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत मनुष्य असंख्यातगुणा हैं, उनसे वेदनासमुद्घात से समवहत मनुष्य असंख्यातगुणा हैं तथा उनसे कषायसमुद्घात से समवहत मनुष्य संख्यातगुणा हैं और इन सबसे असमवहत मनुष्य असंख्यातगुणा हैं।

२१३२. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

[२१३२] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के (समुद्घात विषयक अल्पबहुत्व की वक्तव्यता) असुरकुमारों के समान (समझनी चाहिए।)

विवेचन—समवहत जीवों की न्यूनाधिकता का कारण—आहारकसमुद्घात किये हुए जीव सबसे कम इसलिए हैं कि लोक में आहारकशरीरधारकों का विरहकाल छह मास का बताया गया है। अतएव वे किसी समय नहीं भी होते हैं। जब होते हैं, तब भी जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व (दो हजार से नौ हजार तक) ही होते हैं। फिर आहारकसमुद्घात आहारक शरीर के प्रारम्भकाल में ही होता है, अन्य समय में नहीं, इस कारण आहारकसमुद्घात से समवहत जीव भी थोड़े ही कहे गए हैं।

आहारकसमुद्घातवालों की अपेक्षा केवलिसमुद्घात से समवहत जीव संख्यातगुणा अधिक हैं, क्योंकि वे एक साथ शतपृथक्त्व की संख्या में उपलब्ध होते हैं।

उनकी अपेक्षा तैजससमुद्घातयुक्त जीव असंख्यातगुणा होते हैं, क्योंकि पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों, मनुष्यों और चारों जाति के देवों में तैजससमुद्घात पाया जाता है।

उनकी अपेक्षा वैक्रियसमुद्घात समवहत जीव असंख्यातगुणा होते हैं, क्योंकि वैक्रियसमुद्घात नारकों, वायुकायिकों, तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों, मनुष्यों और देवों में भी पाया जाता है। वैक्रियलब्धि से युक्त वायुकायिकजीव देवों से भी असंख्यातगुणा हैं और बादरपर्याप्त वायुकायिक स्थलचर पंचेन्द्रियों की अपेक्षा भी असंख्यातगुणा हैं, स्थलचरपंचेन्द्रिय देवों से भी असंख्यात गुणा हैं। इस कारण तैजससमुद्घात समवहत जीवों की अपेक्षा वैक्रियसमुद्घात से समवहत जीव असंख्यातगुणे अधिक समझने चाहिए।

वैक्रियसमुद्घात से समवहत जीवों की अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्घात वाले जीव अनन्तगुणा हैं, क्योंकि निगोद के अनन्तजीवों का असंख्यातवाँ भाग सदा विग्रहगति की अवस्था में रहता है और वे प्रायः मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत होते हैं.।

इनसे कषायसमुद्घात समवहत जीव असंख्यातगुणा हैं, क्योंकि विग्रहगति को प्राप्त अनन्त निगोदजीवों की अपेक्षा भी असंख्यातगुणा अधिक निगोदिया जीव सदैव कषायसमुद्घात से युक्त उपलब्ध होते हैं। इनसे वेदनासमुद्घात से समवहत जीव विशेषाधिक हैं, क्योंकि कषायसमुद्घात-समवहत उन अनन्त निगोदजीवों से वेदनासमुद्घात समवहत जीव कुछ अधिक ही होते हैं।

वेदनासमुद्घात समवहत जीवों की अपेक्षा असमवहत (अर्थात् जो किसी भी समुद्घात से युक्त नहीं हों, ऐसे समुद्घात रहित) जीव असंख्यातगुणा होते हैं, क्योंकि वेदना, कषाय और मारणान्तिक समुद्घात से समवहत जीवों की अपेक्षा समुद्घातरहित अकेले निगोदजीव ही असंख्यातगुणा अधिक पाए जाते हैं।[1]

नारकों में समुद्घातजनित अल्पबहुत्व—सबसे कम मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत नारक हैं, क्योंकि मारणान्तिकसमुद्घात मरण के समय ही होता है और मरने वाले नारकों की संख्या, जीवित नारकों की अपेक्षा अल्प ही होती है। मरने वालों में भी मारणान्तिकसमुद्घात वाले नारक अत्यल्प ही होते हैं, सब नहीं होते। अतः मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत जीव सबसे कम होते हैं।

उनसे वैक्रियसमुद्घात से समवहत नारक असंख्यातगुणा अधिक हैं, क्योंकि रत्नप्रभा आदि सातों नरकपृथ्वियों में से प्रत्येक में बहुत-से नारक परस्पर वेदना उत्पन्न करने के लिए निरन्तर उत्तर-वैक्रिय करते रहते हैं। वैक्रियसमुद्घात समवहत नारकों की अपेक्षा कषायसमुद्घात वाले नारक असंख्यातगुणा अधिक होते हैं, क्योंकि वे परस्पर क्रोधादि से सदैव ग्रस्त रहते हैं। कषायसमुद्घात से समवहत नारकों की अपेक्षा वेदनासमुद्घात से समवहत नारक संख्यातगुणा अधिक होते हैं, क्योंकि यथासम्भव क्षेत्रजन्य वेदना, परमाधार्मिकों द्वारा उत्पन्न की हुई और परस्पर उत्पन्न की हुई वेदना के कारण प्रायः बहुत-से नारक सदा वेदनासमुद्घात से समवहत रहते हैं। इनकी अपेक्षा भी असमवहत नारक संख्यातगुणा अधिक हैं, क्योंकि बहुत-से नारक वेदनासमुद्घात के बिना भी वेदना का वेदन करते रहते हैं। इस अपेक्षा से असमवहत नारक सर्वाधिक हैं।[2]

असुरकुमारादि भवनपतियों में समुद्घात की अपेक्षा अल्पबहुत्व—सबसे कम तैजससमुद्घात वाले हैं, क्योंकि अत्यन्त तीव्र क्रोध उत्पन्न होने पर ही कदाचित् कोई असुरकुमार तैजससमुद्घात करते हैं। उनकी अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्घात वाले असुरकुमारादि असंख्यातगुणा अधिक हैं, क्योंकि मारणान्तिकसमुद्घात मरणकाल में होता है। उनकी अपेक्षा वेदनासमुद्घातसमवहत असुरकुमारादि असंख्यातगुणा हैं, क्योंकि पारस्परिक संग्राम आदि किसी न किसी कारण से बहुत-से असुरकुमार वेदनासमुद्घात करते हैं। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्घात और वैक्रियसमुद्घात से समवहत असुर-

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०१४ से १०१६ तक
   (ख) प्रज्ञापना मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४६
२. (क) वही, मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४६
   (ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०१७ से १०१९ तक

कुमारादि क्रमशः उत्तरोत्तर संख्यातगुणा अधिक होते हैं। उनसे भी असमवहत असुरकुमारादि असंख्यातगुणा हैं। असुरकुमारों के समान ही नागकुमार आदि स्तनितकुमार पर्यन्त भवनपतिदेवों का कथन समझना चाहिए।[1]

पृथ्वीकायिकादि चार एकेन्द्रियों का समुद्घात की अपेक्षा अल्पबहुत्व—सबसे कम मारणान्तिक-समुद्घात-समवहत पृथ्वीकायादि (वायुकाय को छोड़कर) चार हैं, क्योंकि यह समुद्घात मरण के समय ही होता है और वह भी किसी को होता है किसी को नहीं। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक पूर्वोक्त युक्तिवश पूर्ववत् ही समझ लेना चाहिए। उनकी अपेक्षा वेदनासमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं और उनकी अपेक्षा असमवहत पृथ्वीकायिकादि असंख्यातगुणा अधिक हैं।

वायुकायिकों में समुद्घात की अपेक्षा अल्पबहुत्व—सबसे कम वैक्रियसमुद्घात से समवहत वायुकायिक हैं। क्योंकि वैक्रियलब्धि वाले वायुकायिक अत्यल्प ही होते हैं। उनसे मारणान्तिक-समुद्घात-समवहत वायुकायिक असंख्यात गुणा हैं, क्योंकि मारणान्तिकसमुद्घात पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर एवं सूक्ष्म सभी वायुकायिकों में हो सकता है। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्घात से समवहत वायुकायिक असंख्यातगुणा होते हैं, उनसे वेदनासमुद्घात-समवहत वायुकायिक विशेषाधिक होते हैं, इन सबसे असमवहत वायुकायिक असंख्यात गुणा अधिक होते हैं, क्योंकि सकलसमुद्घातों वाले वायुकायिकों की अपेक्षा स्वभावस्थ वायुकायिक स्वभावतः असंख्यातगुणा पाये जाते हैं।[2]

द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रियों में सामुद्घातिक अल्पबहुत्व—सबसे कम मारणान्तिकसमुद्घात-समवहत द्वीन्द्रिय हैं, क्योंकि पृच्छासमय में प्रतिनियत द्वीन्द्रिय ही मारणान्तिकसमुद्घात-समवहत पाए जाते हैं। उनसे वेदनासमुद्घात-समवहत द्वीन्द्रिय असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि सर्दी-गर्मी आदि के सम्पर्क से अत्यधिक द्वीन्द्रियों में वेदनासमुद्घात होता है। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्घात से समवहत द्वीन्द्रिय संख्यातगुणे हैं, क्योंकि अत्यधिक द्वीन्द्रिय में लोभादिकषाय के कारण कषाय-समुद्घात होता है। इन सबसे भी असमवहत द्वीन्द्रिय पूर्वोक्तयुक्ति से संख्यातगुणा हैं। द्वीन्द्रिय के समान त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय समवहत-असमवहत का अल्पबहुत्व समझ लेना चाहिए।[3]

पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में सामुद्घातिक अल्पबहुत्व—सबसे कम तैजससमुद्घात से समवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च हैं, क्योंकि तेजोलब्धि बहुत थोड़ों में होती है। उनकी अपेक्षा वैक्रियसमुद्घात-समवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च असंख्यातगुणा हैं, क्योंकि वैक्रियलब्धि अपेक्षाकृत बहुतों में होती है। उनसे मारणान्तिकसमुद्घात-समवहत असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि वैक्रियलब्धि से रहित सम्मूर्च्छिम जलचर, स्थलचर और खेचर, प्रत्येक में पूर्वोक्त वैक्रियसमुद्घातिकों की अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्घात

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अ. रा कोष. भा. ७, पृ. ४४६
२. (क) वही, मलयवृत्ति अ. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४६
   (ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. १९२१ से १९२३ तक
३. (क) वही, भा. ५, पृ. १९२३-१९२४
   (ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४७

समवहत असंख्यात गुणे होते हैं। किन्हीं-किन्हीं वैक्रियलब्धि से रहित या सहित गर्भज ति. प. में भी मारणान्तिकसमुद्घात पाया जाता है। उनकी अपेक्षा भी वेदनासमुद्घात से समवहत ति. प. असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि मरते हुए जीवों की अपेक्षा न मरते हुए ति. प. असंख्यातगुणे हैं। उनकी अपेक्षा भी कषाय समुद्घात-समवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च संख्यातगुणा हैं और इन सबकी अपेक्षा असमवहत पंचेन्द्रियतिर्यञ्च पूर्वोक्तयुक्ति से संख्यातगुणे हैं।[1]

मनुष्यों में वेदनादि-समुद्घात सम्बन्धी अल्पबहुत्व—सबसे कम आहारकसमुद्घात-समवहत मानव हैं, क्योंकि आहारकशरीर का प्रारम्भ करने वाले मनुष्य अत्यल्प ही होते हैं। केवलिसमुद्घात-समवहत मनुष्य उनसे संख्यातगुणे अधिक हैं क्योंकि वे शतपृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ तक) की संख्या में पाये जाते हैं। उनकी अपेक्षा तैजससमुद्घात-समवहत, वैक्रियसमुद्घात-समवहत एवं मारणान्तिक-समुद्घात-समवहत मनुष्य उत्तरोत्तर क्रमशः संख्यातगुणा, संख्यातगुणा और असंख्यातगुणा अधिक होते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त दोनों की अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्घात-समवहत मनुष्य इसलिए अधिक हैं कि वह सम्मूर्च्छिम-मनुष्यों में भी पाया जाता है। उनसे वेदनासमुद्घात-समवहत मनुष्य असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि म्रियमाण मनुष्यों की अपेक्षा अम्रियमाण संख्यातगुणा अधिक होते हैं और वेदनासमुद्घात अम्रियमाण मनुष्यों में भी होता है। उनकी अपेक्षा कषायसमुद्घात-समवहत मनुष्य संख्यातगुणे अधिक होते हैं और इन सबसे असमवहत-(समुद्घातों से रहित) मनुष्य असंख्यातगुणे अधिक होते हैं, क्योंकि अल्पकषायवाले सम्मूर्च्छिम मनुष्य, उत्कट कषायवालों से सदा असंख्यातगुणे होते हैं। वाणव्यन्तरों, ज्योतिष्कों और वैमानिकों में सामुद्घातिक अल्पबहुत्व की वक्तव्यता असुरकुमारों के समान समझनी चाहिए।[2]

२१३३. कति णं भंते ! कसायसमुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि कसायसमुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा—कोहसमुग्घाए १ माणासमुग्घाए, २ मायासमुग्घाए ३ लोभसमुग्घाए ४।

[२१३३ प्र.] भगवन् ! कषायसमुद्घात कितने कहे हैं ?

[२१३३ उ] गौतम ! कषायसमुद्घात चार कहे हैं। यथा—(१) क्रोधसमुद्घात, (२) मानसमुद्घात, (३) मायासमुद्घात और (४) लोभसमुद्घात।

२१३४. [१] णेरइयाणं भंते ! कति कसायसमुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि कसायसमुग्घाया पण्णत्ता।

[२१३४-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के कितने कषायसमुद्घात कहे हैं ?

[२१३४-१ उ.] गौतम ! उनमें चारों कषायसमुद्घात कहे हैं।

---

१. (क) अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४७
(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. १९२५ से १९२७ तक

२. (क) वही, भा. ५, पृ. १९२७-१९२८
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४४७

[२] एवं जाव वेमाणियाणं।

[२१३४-२] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) यावत् वैमानिकों तक (प्रत्येक दण्डक में चार-चार कषायसमुद्घात कहे गये हैं।)

२१३५. [१] एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स केवइया कोहसमुग्घाया अतीता ?
गोयमा ! अणंता।
केवतिया पुरेक्खडा ?
गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि। जस्सऽत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा।

[२१३५-१ प्र.] भगवन् ! एक-एक नारक के कितने क्रोधसमुद्घात अतीत हुए हैं ?
[२१३५-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं।

[प्र.] भगवन् ! (उसके) भावी (क्रोधसमुद्घात) कितने होते हैं ?
[उ.] गौतम ! (भावी क्रोधसमुद्घात) किसी के होते हैं और किसी के नहीं होते। जिसके होते हैं, उसके जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त होते हैं।

[२] एवं जाव वेमाणियस्स।

[२१३५-२] इसी प्रकार (एक-एक असुरकुमार से लेकर) यावत् (एक-एक) वैमानिक तक (समझना चाहिए।)

२१३६. एवं जाव लोभसमुग्घाए। एते चत्तारि दंडगा।

[२१३६] इसी प्रकार (क्रोधसमुद्घात के समान) यावत् लोभसमुद्घात तक (नारक से लेकर वैमानिक तक प्रत्येक के अतीत और अनागत का कथन करना चाहिए।) इस प्रकार ये चार दण्डक हुए।

२१३७. [१] णेरइयाणं भंते ! केवतिया कोहसमुग्घाया अतीया ?
गोयमा ! अणंता।
केवतिया पुरेक्खडा ?
गोयमा ! अणंता।

[२१३७-१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) नैरयिकों के कितने क्रोधसमुद्घात अतीत हुए हैं ?
[२१३७-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं।

[प्र.] भगवन् ! उनके भावी क्रोधसमुद्घात कितने होते हैं ?
[उ.] गौतम ! वे भी अनन्त होते हैं।

[२] एवं जाव वेमाणियाणं।

[२१३७-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक की वक्तव्यता जाननी चाहिए।

२१३८. एवं जाव लोभसमुग्घाए। एए वि चत्तारि दंडगा।

[२१३८] इसी प्रकार (क्रोधसमुद्घात के समान) यावत् लोभसमुद्घात तक समझना चाहिए। इस प्रकार ये चार दंडक हुए।

२१३९. एगमेगस्स णं भंते ! णेरइयस्स णेरइयत्ते केवतिया कोहसमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! अणंता, एवं जहा वेदणासमुग्घाओ भणिओ (सु. २१०१—४) तहा कोहसमुग्घाओ वि भाणियव्वो णिरवसेसं जाव वेमाणियत्ते। माणसमुग्घाओ मायासमुग्घातो य णिरवसेसं जहा मारणंतियसमुग्घाओ (सु. २११६)। लोभसमुग्घाओ जहा कसायसमुग्घाओ (सु. २१०५—१५)। णवरं सव्वजीवा असुरादी णेरइएसु लोभकसाएणं एगुत्तरिया णेयव्वा।

[२१३९ प्र.] भगवन् ! एक-एक नैरयिक के नारकपर्याय में कितने क्रोधसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१३९ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं। जिस प्रकार (सू. २१०१-४ में) वेदनासमुद्घात का कथन किया है, उसी प्रकार यहाँ क्रोधसमुद्घात का भी समग्र रूप से यावत् वैमानिकपर्याय तक कथन करना चाहिए। इसी प्रकार मानसमुद्घात एवं मायासमुद्गात के विषय में समग्र कथन (सू. २११६ में उक्त) मारणान्तिकसमुद्घात के समान कहना चाहिए। लोभसमुद्घात का कथन (सू. २१०५-१५ में उक्त) कषायसमुद्घात के समान करना चाहिए। विशेष यह है कि असुरकुमार आदि सभी जीवों का नारकपर्याय में लोभकषायसमुद्घात की प्ररूपणा एक से लेकर करनी चाहिए।

२१४०. [१] णेरइयाणं भंते ! णे रइयत्ते केवतिया कोहसमुग्घाया अतीया ?

गोयमा ! अणंता।

केवतिया पुरेक्खडा ?

गोयमा ! अणंता।

[२१४०-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के नारकपर्याय में कितने क्रोधसमुद्घात अतीत हुए हैं ?

[२१४०-१ उ.] गौतम ! वे अनन्त हुए हैं।

[प्र.] भगवन् ! भावी (क्रोधसमुद्घात) कितने होते हैं ?

[उ.] गौतम ! वे अनन्त होते हैं।

[२] एवं जाव वेमाणियत्ते।

[२१४०-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकपर्याय तक कहना चाहिए।

२१४१. एवं सट्ठाण-परट्ठाणेसु सव्वत्थ वि भाणियव्वा सव्वजीवाणं चत्तारि समुग्घाया जाव लोभसमुग्घातो जाव वेमाणियाणं वेमाणियत्ते।

[२१४१] इसी प्रकार स्वस्थान-परस्थानों में सर्वत्र (क्रोधसमुद्घात से लेकर) यावत् लोभसमुद्घात तक यावत् वैमानिकों के वैमानिकपर्याय में रहते हुए सभी जीवों के चारों समुद्घात कहने चाहिए।

२१४२. एतेसि णं भंते ! जीवाणं कोहसमुग्घाएणं माणसमुग्घाएणं मायासमुग्घाएणं लोभसमुग्घाएण य समोहयाणं अकसायसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अकसायसमुग्घाएणं समोहया, माणसमुग्घाएणं समोहया अणंतगुणा, कोहसमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया, मायासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया, लोभसमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया संखेज्जगुणा।

[२१४२ प्र.] भगवन् ! क्रोधसमुद्घात से, मानसमुद्घात से, मायासमुद्घात और लोभ-समुद्घात से तथा अकषायसमुद्घात (अर्थात्—कषायसमुद्घात से भिन्न छह समुद्घातों में से किसी भी समुद्घात) से समवहत और असमवहत जीवों से कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य, अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१४२ उ.] गौतम ! सबसे कम अकषायसमुद्घात से समवहत जीव हैं, (उनसे) मानकषाय से समवहत जीव अनन्तगुणे हैं, (उनसे) क्रोधसमुद्घात से समवहत जीव विशेषाधिक हैं, (उनसे) मायासमुद्घात से समवहत जीव विशेषाधिक हैं, (उनसे) लोभसमुद्घात से समवहत जीव विशेषाधिक हैं और (इन सबसे) असमवहत जीव संख्यातगुणा हैं।

२१४३. एतेसि णं भंते ! णेरइयाणं कोहसमुग्घाएणं माणसमुग्घाएणं मायासमुग्घाएणं लोभसमुग्घाएणं समोहयाणं असमोहयाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा ४ ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा णेरइया लोभसमुग्घाएणं समोहया, मायासमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, माणसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, कोहसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, असमोहया संखेज्जगुणा।

[२१४३ प्र.] भगवन् ! इन क्रोधसमुद्घात से, मानसमुद्घात से, मायासमुद्घात से और लोभसमुद्घात से समवहत और असमवहत नारकों में कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१४३ उ.] गौतम ! सबसे कम लोभसमुद्घात से समवहत नारक हैं, उनसे संख्यातगुणा मायासमुद्घात से समवहत नारक हैं, उनसे संख्यातगुणा मानसमुद्घात से समवहत नारक हैं, उनसे संख्यातगुणा क्रोधसमुद्घात से समवहत नारक हैं और इन सबसे संख्यातगुणा असमवहत नारक हैं।

२१४४. [१] असुरकुमाराणं पुच्छा।

गोयमा ! सव्वत्थोवा असुरकुमारा कोहसमुग्घाएणं समोहया, माणसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, मायासमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, लोभसमुग्घाएणं समोहया संखेज्जगुणा, असमोहया संखेज्जगुणा।

[२१४४-१ प्र.] भगवन् ! क्रोधादिसमवहत और असमवहत असुरकुमारों में कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१४४-१ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े क्रोधसमुद्घात से समवहत असुरकुमार हैं, उनसे मानसमुद्घात से समवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं, उनसे मायासमुद्घात से समवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं और उनसे लोभसमुद्घात से समवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं तथा इन सबसे असमवहत असुरकुमार संख्यातगुणा हैं।

[२] एवं सव्वदेवा जाव वेमाणिया।

[२१४४-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक सर्वदेवों के क्रोधादिसमुद्घात के अल्पबहुत्व का कथन करना चाहिए।

२१४५. [१] पुढविक्काइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविक्काइया माणसमुग्घाएणं समोहया, कोहसमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया, मायासमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया, लोभसमुग्घाएणं समोहया विसेसाहिया, असमोहया संखेज्जगुणा।

[२१४५-१ प्र] भगवन् ! क्रोधादिसमुद्घात से समवहत और असमवहत पृथ्वीकायिकों में कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[२१४५-१ उ.] गौतम ! सबसे कम मानसमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक हैं, उनसे क्रोध-समुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं, उनसे मायासमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं और उनसे लोभसमुद्घात से समवहत पृथ्वीकायिक विशेषाधिक हैं तथा इन सबसे असमवहत पृथ्वीकायिक संख्यातगुणा हैं।

[२] एवं जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणिया।

[२१४५-२] इसी प्रकार यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्च तक के अल्पबहुत्व के विषय में समझना चाहिए।

२१४६. मणुस्सा जहा जीवा (सु. २१४२)। णवरं माणसमुग्घाएणं समोहया असंखेज्जगुणा।

[२१४६] मनुष्यों की (अल्पबहुत्व-सम्बन्धी वक्तव्यता सू. २१४२ में उक्त) समुच्चय जीवों के समान है। विशेष यह है कि मानसमुद्घात से समवहत मनुष्य असंख्यातगुणा हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—सर्वप्रथम कषायसमुद्घात के चार प्रकार तथा नैरयिक से लेकर वैमानिक पर्यन्त चौवीस दण्डकों में चारों प्रकार के कषायों के अस्तित्व की प्ररूपणा की गई है। तदनन्तर चौवीस दण्डकों में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा क्रोधादि चारों समुद्घातों के अतीत-अनागत की प्ररूपणा की गई है। नारक से लेकर वैमानिक तक प्रत्येक में अनन्त अतीत क्रोधादि समुद्घात है तथा प्रत्येक में भावी क्रोधादि समुद्घात किसी के होते हैं, किसी के नहीं होते। जो नारक आदि नारकादि भव के अन्तिम समय में वर्तमान है और जो स्वभाव से ही मन्दकषायी है, वह कषायसमुद्घात किये बिना ही मृत्यु को प्राप्त होकर नरक से निकल कर मनुष्यभव में उत्पन्न होने वाला है और कषाय-समुद्घात किये बिना ही सिद्ध हो जाएगा, उसके भावी कषायसमुदघात नहीं होता। उससे भिन्न

प्रकार का जो नारक है, उसके भावी कषायसमुद्घात जघन्य एक, दो या तीन होते हैं और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं। संख्यातकाल तक संसार में रहने वाले के संख्यात, असंख्यातकाल तक रहने वाले के असंख्यात और अनन्तकाल तक संसार में रहने वाले के अनन्त भावी कषायसमुद्घात होते हैं। बहुत्व की अपेक्षा से नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के अतीत और अनागत क्रोधादि समुद्घात अनन्त हैं। अनागत अनन्त इसलिए हैं कि पृच्छा के समय बहुत-से नारकादि ऐसे होते हैं, जो अनन्तकाल तक संसार में रहेंगे। इस प्रकार एकवचन और बहुवचन से सम्बन्धित चौवीस दण्डकों के प्रत्येक के चार-चार आलापक होते हैं। यों कुल मिला कर २४×४=९६ आलापक होते हैं।

इसके पश्चात् चौवीस दण्डकों संबंधी नैरयिक आदि स्वपरपर्यायों में एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा से अतीत अनागत क्रोधादि कषायसमुद्घात की प्ररूपणा की गई है।

विशेष—अत्यन्त तीव्र पीड़ा में निरन्तर उद्विग्न रहने वाले नारकों में प्रायः लोभसमुद्घात होता नहीं है। होते हैं तो भी वे अल्प होते हैं।

इसके पश्चात् क्रोध, मान, माया और लोभसमुद्घात से समवहत और असमवहत समुच्चय जीव एवं चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के अल्पबहुत्व की चर्चा की गई है।

अल्पबहुत्व की चर्चा और स्पष्टीकरण—(१) समुच्चयजीव—सबसे कम अकषायसमुद्घात से समवहत जीव हैं। अकषायसमुद्घात का अर्थ है—कषायसमुद्घात से भिन्न या रहित छह समुद्घातों में से किसी भी एक समुद्घात से समवहत। अकषायसमुद्घात से समवहत जीव कदाचित् कोई-कोई ही पाए जाते हैं। वे यदि उत्कृष्ट संख्या में हों तो भी कषायसमुद्घात से समवहत जीवों के अनन्तवें भाग ही होते हैं। उनकी अपेक्षा मानसमुद्घात से समवहत जीव अनन्तगुणा अधिक हैं। क्योंकि अनन्त वनस्पतिकायिक जीव पूर्वभव के संस्कारों के कारण मानसमुद्घात में वर्तमान रहते हैं। उनकी अपेक्षा क्रोधसमुद्घात से समवहत जीव विशेषाधिक हैं; क्योंकि मानी जीवों की अपेक्षा क्रोधी जीव विशेषाधिक होते हैं। उनसे मायासमुद्घात-समवहत जीव विशेषाधिक होते हैं। उनसे भी लोभसमुद्घात-समवहत जीव विशेषाधिक होते हैं, क्योंकि मायी जीवों की अपेक्षा लोभी जीव बहुत अधिक होते हैं। उनसे भी असमवहत जीव संख्यातगुणा हैं। क्योंकि चारों गतियों में समुद्घातयुक्त जीवों की अपेक्षा समुद्घातरहित जीव संख्यातगुणा अधिक पाये जाते हैं। सिद्ध जीव एकेन्द्रियों के अनन्तवें भाग हैं, किन्तु यहाँ उनकी विवक्षा नहीं की गई है।

(२) नारकों में कषायसमुद्घातों का अल्पबहुत्व—नारकों में लोभसमुद्घात सबसे कम है, क्योंकि नारकों को प्रिय वस्तुओं का संयोग नहीं मिलता। अतः उनमें लोभसमुद्घात होता भी है तो भी अन्य क्रोधादि समुद्घातों से बहुत ही कम होता है। उनकी अपेक्षा मायासमुद्घात, मानसमुद्घात, क्रोधसमुद्घात क्रमशः उत्तरोत्तर संख्यातगुणा अधिक हैं। असमवहत नारक इन सबसे संख्यातगुणा हैं।

(३) असुरकुमारादि में कषायसमुद्घातों का अल्पबहुत्व—देवों में स्वभावतः लोभ की प्रचुरता होती है। उससे मानकषाय, क्रोधकषाय एवं मायाकषाय की उत्तरोत्तर अल्पता होती है। इसलिए असुरकुमारादि भवनपति देवों में सबसे कम क्रोध समुद्घाती, उससे उत्तरोत्तर मान, माया और लोभ से समवहत अधिक बताए हैं और सबसे अधिक—संख्यातगुणे अधिक असमवहत असुरकुमार हैं।

पृथ्वीकायिकों में अल्पबहुत्व—मान, क्रोध, माया और लोभ समुद्घात उत्तरोत्तर अधिक हैं। असमवहत पृथ्वीकायिक संख्यातगुणे अधिक हैं।

पृथ्वीकायिकों के समान अन्य एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रियतिर्यञ्च की भी वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए।

मनुष्यों में कषायसमुद्घात समवहत संबंधी अल्पबहुत्व—समुच्चयजीवों के समान समझना चाहिए। परन्तु एक बात विशेष है, वह यह कि अकषायसमुद्घात से समवहत मनुष्यों की अपेक्षा मानसमुद्घात से समवहत मनुष्य असंख्यातगुणा हैं। क्योंकि मनुष्यों में मान की प्रचुरता पाई जाती है।[1]

चौवीस दण्डकों में छाद्मस्थिकसमुद्घात प्ररूपणा

२१४७. कति णं भंते! छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता?

गोयमा! छाउमत्थिया छ समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४ तेयगसमुग्घाए ५ आहारगसमुग्घाए ६।

[२१४७ प्र.] भगवन्! छाद्मस्थिकसमुद्घात कितने कहे गए हैं?

[२१४७ उ.] गौतम! छाद्मस्थिकसमुद्घात छह कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) वेदना-समुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजस-समुद्घात और (६) आहारकसमुद्घात।

२१४८. णेरइयाणं भंते! कति छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता?

गोयमा! चत्तारि छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसाय-समुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४।

[२१४८ प्र.] भगवन्! नारकों में कितने छाद्मस्थिकसमुद्घात कहे हैं?

[२१८४ उ.] गौतम! नारकों में चार छाद्मस्थिकसमुद्घात कहे गए हैं। यथा—(१) वेदना-समुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात और (४) वैक्रियसमुद्घात।

२१४९. असुरकुमाराणं पुच्छा।

गोयमा! पंच छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४ तेयगसमुग्घाए ५।

[२१४९ प्र.] असुरकुमारों में छाद्मस्थिकसमुद्घातों की पूर्ववत् पृच्छा?

[२१४९ उ.] गौतम! असुरकुमारों में पांच छाद्मस्थिकसमुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदना-समुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात और (५) तैजस-समुद्घात।

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०५४ तक
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ७ पृ. ४५२

२१५०. एगिंदिय-विगलिंदियाणं पुच्छा।

गोयमा ! तिण्णि छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३। णवरं वाउक्काइयाणं चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता, तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४।

[२१५० प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में कितने छाद्मस्थिकसमुद्घात कहे हैं ?

[२१५० उ.] गौतम ! इनमें तीन समुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात। किन्तु वायुकायिक जीवों में चार छाद्मस्थिकसमुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात और (४) वैक्रियसमुद्घात।

२१५१. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा।

गोयमा ! पंच समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४ तेयगसमुग्घाए ५।

[२१५१ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में कितने छाद्मस्थिकसमुद्घात होते हैं ?

[२१५१ उ.] गौतम ! इनमें पांच छाद्मस्थिकसमुद्घात कहे हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात और (५) तैजससमुद्घात।

२१५२. मणूसाणं भंते ! कति छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! छ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता। तं जहा—वेदणासमुग्घाए १ कसायसमुग्घाए २ मारणंतियसमुग्घाए ३ वेउव्वियसमुग्घाए ४ तेयगसमुग्घाए ५ आहारगसमुग्घाए ६।

[२१५२ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों में कितने छाद्मस्थिकसमुद्घात कहे हैं ?

[२१५२ उ.] गौतम ! इनमें छह छाद्मस्थिकसमुद्घात कहे गए हैं। यथा—(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषायसमुद्घात, (३) मारणान्तिकसमुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजससमुद्घात और (६) आहारकसमुद्घात।

विवेचन—चौवीस दण्डकों में छाद्मस्थिकसमुद्घात—छद्मस्थ को होने वाले या छद्मस्थ (जिसे केवलज्ञान न हुआ हो) से सम्बन्धित समुद्घात छाद्मस्थिकसमुद्घात कहलाते हैं। केवलीसमुद्घात को छोड़कर शेष छहों छाद्मस्थिकसमुद्घात हैं। नारकों में तेजोलब्धि और आहारकलब्धि न होने से तैजस और आहारकसमुद्घात के सिवाय शेष ४ छाद्मस्थिकसमुद्घात पाये जाते हैं। असुरकुमारादि भवनपतियों तथा शेष तीन प्रकार के देवों में पांच-पांच छाद्मस्थिकसमुद्घात पाये जाते हैं, क्योंकि देव चौदह पूर्वों के ज्ञान तथा आहारकलब्धि से रहित होते हैं, अतएव उनमें आहारकसमुद्घात नहीं पाया जाता। पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में भी ये ही पांच समुद्घात पाये जाते हैं। वायुकायिकों के सिवाय शेष ४ एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में वैक्रिय, तैजस और आहारक को छोड़कर

शेष ३ समुद्घात पाये जाते हैं। वायुकायिकों में वैक्रियसमुद्घात अधिक होता है। मनुष्यों में ६ ही छाद्मस्थिकसमुद्घात पाए जाते हैं।[1]

वेदना एवं कषाय-समुद्घात से समवहत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा

२१५३. [१] जीवे णं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले णिच्छुभति तेहि णं भंते ! पोग्गलेहिं केवतिए खेत्ते अफुण्णे ? केवतिए खेत्ते फुडे ?

गोयमा ! सरीरपमाणमेत्ते विक्खंभ-बाहल्लेणं णियमा छद्दिसिं एवइए खेत्ते अफुण्णे एवइए खेत्ते फुडे ।

[२१५३-१ प्र.] भगवन् ! वेदनासमुद्घात से समवहत हुआ जीव समवहत होकर जिन पुद्गलों को (अपने शरीर से बाहर) निकालता है, भंते ! उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र परिपूर्ण होता है तथा कितना क्षेत्र स्पृष्ट होता है ?

[२१५३-१ उ.] गौतम ! विस्तार (विष्कम्भ) और स्थूलता (बाहल्य) की अपेक्षा शरीर-प्रमाण क्षेत्र को नियम से छहों दिशाओं में व्याप्त (परिपूर्ण) करता है। इतना क्षेत्र आपूर्ण (परिपूर्ण) और इतना ही क्षेत्र स्पृष्ट होता है।

[२] से णं भंते ! खेत्ते केवइकालस्स अफुण्णे केवइकालस्स फुडे ?

गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेण वा एवइकालस्स अफुण्णे एवइकालस्स फुडे ।

[२१५३-२ प्र.] भगवन् ! वह क्षेत्र कितने काल में आपूर्ण और कितने काल में स्पृष्ट हुआ ?

[२१५३-२ उ.] गौतम ! एक समय, दो समय अथवा तीन समय के विग्रह में (जितना काल होता है) इतने काल में आपूर्ण हुआ और इतने ही काल में स्पृष्ट होता है।

[३] ते णं भंते ! पोग्गला केवइकालस्स णिच्छुभति ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तस्स ।

[२१५३-३ प्र.] भगवन् ! (जीव) उन पुद्गलों को कितने काल में (आत्मप्रदेशों से बाहर निकालता है ?

[२१५३-३ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त्त में (वह उन पुद्गलों को बाहर निकालता है।)

[४] ते णं भंते ! पोग्गला णिच्छूढा समाणा जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणंति वत्तेंति लेसेंति संघाएंति संघट्टेंति परियावेंति किलावेंति उद्दवेंति तेहिंतो णं भंते ! से जीवे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ।

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०५७ से १०६१
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ३, पृ. १३५४

[२१५३-४ प्र.] भगवन् ! वे बाहर निकले हुए पुद्गल वहाँ (स्थित) जिन प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का अभिघात करते हैं, आवर्त्तपतित करते (चक्कर खिलाते) हैं, थोड़ा-सा छूते हैं, संघात (एक जगह इकट्ठा) करते हैं, संघट्टित करते हैं, परिताप पहुँचाते हैं, मूर्च्छित करते हैं और घात करते हैं, हे भगवन् ! इनसे वह जीव कितनी क्रिया वाला होता है ?

[२१५३-४ उ.] गौतम ! वह कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है ।

[५] ते णं भंते ! जीवा ताओ जीवाओ कतिकिरिया ?

गोयमा ! सिय तिकिरिया सिय चउकिरिया सिय पंचकिरिया ।

[२१५३-५ प्र.] भगवन् ! वे जीव उस जीव (के निमित्त) से कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२१५३-५ उ.] गौतम ! वे कदाचित् तीन क्रिया वाले, कदाचित् चार क्रिया वाले और कदाचित् पांच क्रिया वाले होते हैं ।

[६] से णं भंते ! जीवे ते य जीवा अण्णेसिं जीवाणं परंपराघाएणं कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि ।

[२१५३-६ प्र.] भगवन् ! वह जीव और वे जीव, अन्य जीवों का परम्परा से घात करने से कितनी क्रिया वाले होते हैं ?

[२१५३-६ उ.] गौतम ! वे तीन क्रिया वाले भी होते हैं, चार क्रिया वाले भी होते हैं और पांच क्रिया वाले भी होते हैं ।

२१५४. [१] णेरइए णं भंते ! वेदणासमुग्घाएणं समोहए० ?

एवं जहेव जीवे (सु. २१५३) । णवरं णेरइयाभिलावो ।

[२१५४-१ प्र.] भगवन् ! वेदनासमुद्घात से समवहत हुआ नारक समवहत होकर जिन पुद्गलों को (अपने शरीर से बाहर) निकालता है, उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण होता है तथा कितना क्षेत्र स्पृष्ट होता है ? इत्यादि पूर्ववत् समग्र (छहों) प्रश्न ?

[२१५४-१ उ.] गौतम ! जैसा (सू. २१५३/१-२-३-४-५-६ में) समुच्चय जीव के विषय में कहा था, वैसा ही यहाँ कहना चाहिए । विशेष यह है कि यहाँ 'जीव' के स्थान में 'नारक' शब्द का प्रयोग करना चाहिए ।

[२] एवं णिरवसेसं जाव वेमाणिए ।

[२१५४-२] समुच्चय जीव सम्बन्धी वक्तव्यता के समान ही यावत् वैमानिक पर्यन्त (चौवीस दण्डकों सम्बन्धी) समग्र वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

२१५५. एवं कसायसमुग्घातो वि भाणियव्वो ।

[२१५५] इसी प्रकार (वेदनासमुद्घात के समान) कषायसमुद्घात का भी (समग्र) कथन करना चाहिए ।

विवेचन—वेदना एवं कषाय समुद्‌घात से सम्बन्धित क्षेत्र-काल-क्रियादि की प्ररूपणा—प्रस्तुत प्रकरण में वेदनासमुद्‌घात से सम्बन्धित ६ बातों की चर्चा की गई है—(१) शरीर से बाहर निकाले जाने वाले पुद्‌गलों से कितना क्षेत्र परिपूर्ण और स्पृष्ट (व्याप्त) होता है ? (२) वह क्षेत्र कितने काल में आपूर्ण और स्पृष्ट होता है ? (३) उन पुद्‌गलों को कितने काल में जीव आत्मप्रदेशों से बाहर निकालता है ? (४) बाहर निकाले हुए वे पुद्‌गल उस क्षेत्र में रहे हुए प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का अभिघातादि करते हैं, इससे वेदनासमुद्‌घातकर्त्ता जीव को कितनी क्रियाएं लगती हैं ? (५) वे जीव उस जीव के निमित्त से कितनी क्रिया वाले होते हैं तथा (६) वह जीव और वे जीव अन्य जीवों का परम्परा से घात करने से कितनी क्रिया वाले होते हैं ?[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—णिच्छुभति—(शरीर से बाहर) निकालता है। **अफुण्णे**—आपूर्ण—परिपूर्ण हुआ। **फुडे**—स्पृष्ट हुआ। **विक्खंभ-बाहल्लेणं**—विस्तार और स्थूलता (मोटाई) की अपेक्षा से। **अभिहणंति**—अभिहनन करते हैं—सामने से आते हुए का घात करते हैं, चोट पहुँचाते हैं। **वत्तेंति**—आवर्त—पतित करते हैं—चक्कर खिलाते हैं। **लेसेंति**—किंचित् स्पर्श करते हैं, **संघाएंति**—परस्पर संघात (समूहरूप से इकट्ठे) कर देते हैं। **संघट्टेंति**—परस्पर मर्दन कर देते हैं। **परियावेंति**—परितप्त करते हैं। **किलावेंति**—थका देते हैं, या मूर्च्छित कर देते हैं। **उद्दवेंति**—भयभीत कर देते या निष्प्राण कर देते हैं।[2]

छह प्रश्नों का समाधान—(१) वेदनासमुद्‌घात से समवहत हुआ जीव जिन वेदनायोग्य पुद्‌गलों को अपने शरीर से बाहर निकालता है, वे पुद्‌गल विस्तार और स्थूलता की अपेक्षा शरीरप्रमाण होते हैं, वे नियम से छहों दिशाओं को व्याप्त करते हैं। अर्थात्—शरीर का जितना विस्तार और जितनी मोटाई होती है, उतना ही क्षेत्र उन पुद्‌गलों से परिपूर्ण और स्पृष्ट होता है। (२) अपने शरीर प्रमाणमात्र विस्तार और मोटाई वाला क्षेत्र सतत एक समय, दो समय अथवा तीन समय की विग्रहगति से, जितना क्षेत्र व्याप्त किया जाता है उतनी दूर तक वेदना-उत्पादक पुद्‌गलों से आपूर्ण और स्पृष्ट होता है। आशय यह है कि अधिक से अधिक तीन समय के विग्रह द्वारा जितना क्षेत्र व्याप्त किया जाता है, उतना क्षेत्र आत्मप्रदेशों से बाहर निकाले हुए वेदना उत्पन्न करने योग्य पुद्‌गलों द्वारा परिपूर्ण होता है। इतने ही काल में पूर्वोक्त क्षेत्र आपूर्ण और स्पष्ट होता है। (३) जीव उन वेदनाजनक पुद्‌गलों को जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त से कुछ अधिक काल में बाहर निकालता है। अभिप्राय यह है कि जैसे तीव्रतर दाहज्वर से पीड़ित व्यक्ति सूक्ष्म पुद्‌गलों को शरीर से बाहर निकालता है, उसी प्रकार वेदनासमुद्‌घात-समवहत जीव भी जघन्य और उत्कृष्ट रूप से अन्तर्मुहूर्त्त काल में वेदना से पीड़ित होकर वेदना उत्पन्न करने योग्य शरीरवर्ती पुद्‌गलों को आत्मप्रदेशों से बाहर निकालता है। (४) बाहर निकाले हुए वे पुद्‌गल **प्राण** अर्थात्—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव, जैसे जलौका, चींटी, मक्खी आदि जीव, **भूत** अर्थात्—वनस्पतिकायिक जीव, **जीव**—अर्थात्—पंचेन्द्रिय प्राणी, जैसे—छिपकली, सर्प आदि तथा **सत्व** अर्थात्—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक प्राणी को आहत आदि करने के कारण वेदना-

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ४३९-४४०
(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०६८ से १०७४ तक

२. वही, भाग. ५, पृ. १०७१

समुद्घातकर्ता जीव को कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच क्रियाएँ लगती हैं। आशय यह है कि जब वह किसी जीव को परिताप नहीं पहुँचाता, न ही जान से मारता है, तब तीन क्रिया वाला होता है। जब किन्हीं जीवों का परितापन करता है, या मारता है, तब भी जिन्हें आबाधा नहीं पहुँचाता, उनकी अपेक्षा से तीन क्रिया वाला होता है। जब किसी को परिताप पहुँचाता है, तब चार क्रियाओं वाला होता है और जब किन्हीं जीवों का घात करता है, तो उनकी अपेक्षा से पांच क्रियाओं वाला होता है। (५) वेदनासमुद्घात करने वाले जीव के पुद्गलों से स्पृष्ट जीव वेदना-समुद्घातकर्त्ता जीव की अपेक्षा से कदाचित् तीन क्रियाओं वाले, कदाचित् चार क्रियाओं वाले और कदाचित् पांच क्रियाओं वाले होते हैं। जब वे समुद्घातकर्ता जीव को कोई बाधा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते, तब तीन क्रियाओं वाले होते हैं। जब स्पृष्ट होकर वे उस वेदना-समवहत जीव को परिताप पहुँचाते हैं, तब चार क्रियाओं वाले होते हैं। शरीर से स्पृष्ट होने वाले बिच्छू आदि परितापजनक होते हैं, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। किन्तु वे स्पृष्ट होने वाले जीव जब उसे प्राणों से रहित कर देते हैं, तब पांच क्रियाओं वाले होते हैं। शरीर से स्पृष्ट होने वाले सर्प आदि अपने दंश द्वारा प्राणघातक होते हैं, यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है। वे पांच क्रियाएँ ये हैं—(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी, (४) पारितापनिकी और (५) प्राणातिपातिकी। (६) वेदनासमुद्घात करने वाले जीव के द्वारा मारे जाने वाले जीवों के द्वारा जो अन्य जीव मारे जाते हैं और अन्य जीवों द्वारा मारे जाने वाले वेदनासमुद्घात प्राप्त जीव के द्वारा मारे जाते हैं, उन जीवों की अपेक्षा से संक्षेप में—वेदनासमुद्घात को प्राप्त वह जीव और वेदनासमुद्घात को प्राप्त जीव सम्बन्धी पुद्गलों से स्पृष्ट वे जीव, अन्य जीवों के परम्परागत आघात से, पूर्वोक्तयुक्ति के अनुसार कदाचित् तीन, कदाचित् चार एवं कदाचित् पांच क्रियाओं वाले होते हैं।[1]

वेदनासमुद्घातसम्बन्धी इन्हीं छह तथ्यों का समग्र कथन नैरयिक से लेकर वैमानिकपर्यन्त चौवीस दण्डकों में करना चाहिए।

कषायसमुद्घातसम्बन्धी कथन भी वेदनासमुद्घात के पूर्वोक्त कथन के समान जानना चाहिए।[2]

मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा

२१५६. [१] जीवे णं भंते! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले णिच्छुभति तेहि णं भंते! पोग्गलेहिं केवतिए खेत्ते अफुण्णे केवतिए खेत्ते फुडे?

गोयमा! सरीरपमाणमेत्ते विक्खंभ-बाहल्लेणं, आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयणाइं एगदिसिं एवइए खेत्ते अफुण्णे एवतिए खेत्ते फुडे।

[२१५६-१ प्र.] भगवन्! मारणान्तिकसमुद्घात के द्वारा समवहत हुआ जीव, समवहत

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भाग. ५, पृ. १०६८ से १०७६ तक

(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष. भा. ७, पृ. ४५३

२. पण्णवणासुत्तं भा. १ (मू. पा. टि.) पृ. ४४०

होकर जिन पुदगलों को आत्मप्रदेशों से पृथक् करता (बाहर निकालता) है, उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण होता है तथा कितना क्षेत्र स्पृष्ट (निरन्तर व्याप्त) होता है ?

[२१५६-१ उ.] गौतम ! विस्तार और बाहल्य (मोटाई) की अपेक्षा से शरीरप्रमाण क्षेत्र तथा लम्बाई (आयाम) में जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र तथा उत्कृष्ट असंख्यात योजन तक का क्षेत्र एक दिशा में (आपूर्ण और व्याप्त (स्पृष्ट) होता है।) इतना क्षेत्र आपूर्ण होता है तथा इतना क्षेत्र (व्याप्त) होता है।

[२] से णं भंते ! खेत्ते केवतिकालस्स अफुण्णे केवतिकालस्स फुडे ?

गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं एवतिकालस्स अफुण्णे एवतिकालस्स फुडे। सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया।

[२१५६-२ प्र.] भगवन् ! वह क्षेत्र कितने काल में पुद्गलों से आपूर्ण होता है तथा कितने काल में स्पृष्ट होता है ?

[२१५६-२ उ.] गौतम ! वह (उत्कृष्ट असंख्यातयोजन लम्बा क्षेत्र) एक समय, दो समय, तीन समय और चार समय के विग्रह से इतने काल में (उन पुद्गलों से) आपूर्ण और स्पृष्ट हो जाता है।

तत्पश्चात् शेष वही (पूर्वोक्त पांच तथ्यों से युक्त कथन) यावत् (कदाचित् तीन, कदाचित् चार और) कदाचित् पांच क्रियाएँ लगती हैं; (यहाँ तक कहना चाहिए।)

२१५७. एवं णेरइए वि। णवरं आयामेणं जहण्णेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयणाइं एगदिसिं एवतिए खेत्ते अफुण्णे एवतिए खेत्ते फुडे; विग्गहेणं एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा, णवरं चउसमइएण ण भण्णति। सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया वि।

[२१५७] समुच्चय जीव के समान नैरयिक की भी वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए। विशेष यह है कि लम्बाई में जघन्य कुछ अधिक हजार योजन और उत्कृष्ट असंख्यात योजन एक ही दिशा में उक्त पुद्गलों से आपूर्ण होता है तथा इतना ही क्षेत्र स्पृष्ट होता है तथा एक समय, दो समय या तीन समय के विग्रह से (उस क्षेत्र का आपूर्ण और व्याप्त होना) कहना चाहिए, चार समय के विग्रह से नहीं कहना चाहिए।

तत्पश्चात् शेष वही सब पूर्वोक्त पांच तथ्यों वाला कथन यावत् (कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच क्रियाएँ होती हैं यहाँ तक कहना चाहिए।

२१५८. [१] असुरकुमारस्स जहा जीवपए (सु. २१५६)। णवरं विग्गहो तिसमइओ जहा णेरइयस्स (सु. २१५७)। सेसं तं चेव।

[२१५८-१] असुरकुमार की वक्तव्यता भी (सू. २१५६ में समुच्चय) जीवपद के मारणान्तिकसमुद्घातसम्बन्धी वक्तव्यता के अनुसार समझनी चाहिए। विशेष यह है कि असुरकुमार का विग्रह (सू. २१५७ में उक्त) नारक के विग्रह के समान तीन समय का समझ लेना चाहिए। शेष सब पूर्ववत्।

[२] जहा असुरकुमारे एवं जाव वेमाणिए। णवरं एगिंदिए जहा जीवे णिरवसेसं।

[२१५८-२] जिस प्रकार असुरकुमार के विषय में कहा है, उसी प्रकार यहाँ (आगे की सब वक्तव्यता) यावत् वैमानिक देव तक (कहनी चाहिए।) विशेष यह है कि एकेन्द्रिय का (मारणान्तिक-समुद्घातसम्बन्धी) समग्र कथन समुच्चय जीव के समान (कहना चाहिए।)

विवेचन—निष्कर्ष—मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत होकर जीव तैजसशरीर आदि के अन्तर्गत जो पुद्गल अपने आत्मप्रदेशों से पृथक् करता है (शरीर से निकालता है), उन पुद्गलों से शरीर का जितना विष्कम्भ (विस्तार) और बाहल्य (मोटाई) होता है उतना क्षेत्र तथा लम्बाई में जघन्य अपने शरीर से अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट असंख्यात योजन तक का क्षेत्र एक दिशा में परिपूर्ण और व्याप्त होता है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि उक्त क्षेत्र एक ही दिशा में आपूर्ण और व्याप्त होता है, विदिशा में नहीं, क्योंकि जीव के प्रदेश स्वभावतः दिशा में ही गमन करते हैं। जघन्य और उत्कृष्ट आत्मप्रदेशों द्वारा भी इतने ही क्षेत्र का परिपूरित होना सम्भव है। उत्कृष्टतः लम्बाई में असंख्यात योजन जितना क्षेत्र विग्रहगति की अपेक्षा उत्कृष्ट चार समयों में आपूर्ण और स्पृष्ट होता है।

इसके पश्चात् मारणान्तिकसमुद्घात से सम्बन्धित शेष सभी तथ्यों का कथन वेदना-समुद्घातगत कथन के समान करना चाहिए।[1]

नारक से लेकर वैमानिक तक सभी कथन यावत् 'पांच क्रियाएँ लगती हैं', यहाँ तक कहना चाहिए। इसमें विशेष अन्तर यह है—लम्बाई में जघन्य कुछ अधिक हजार योजन और उत्कृष्ट असंख्यात योजन जितना क्षेत्र एक दिशा में आपूर्ण और व्याप्त होता है तथा चार समयों में नहीं, किन्तु अधिक से अधिक तीन समयों में विग्रहगति की अपेक्षा वह क्षेत्र आपूर्ण और स्पृष्ट होता है। असुरकुमार से लेकर वैमानिक तक समुच्चय जीवों के समान वक्तव्यता है, किन्तु विग्रहगति की अपेक्षा अधिक से अधिक तीन समयों में यह क्षेत्र आपूर्ण और व्याप्त हो जाता है, यह कहना चाहिए। नारकादि का विग्रह अधिक से अधिक तीन समय का ही होता है। जैसे कोई नारक वायव्यदिशा में और भरतक्षेत्र में वर्तमान हो तथा पूर्वदिशा में पंचेन्द्रियतिर्यञ्च अथवा मनुष्य के रूप में उत्पन्न होने वाला हो तो वह प्रथम समय में ऊपर जाता है, दूसरे समय में वायव्यदिशा से पश्चिमदिशा में जाता है और फिर पश्चिमदिशा से पूर्वदिशा में जाता है। इस तरह तीन समय का ही विग्रह होता है, जिसे वैमानिक तक समझ लेना चाहिए।[2]

असुरकुमारों से लेकर ईशानदेवलोक तक के देव पृथ्वीकायिक, अप्कायिक या वनस्पतिकायिक के रूप में भी उत्पन्न होते हैं। जब कोई संक्लिष्ट अध्यवसाय वाला असुरकुमार अपने ही कुण्डलादि के एकदेश में पृथ्वीकायिक के रूप में उत्पन्न होने वाला हो और वह मारणान्तिकसमुद्घात करे तो

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०७८ से १०७९ तक
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७, पृ. ४५४

२. (क) वही, भा. ७, पृ ४५५
(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०८१-८२

लम्बाई की अपेक्षा जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग-मात्र क्षेत्र को ही व्याप्त करता है। एकेन्द्रिय की सारी वक्तव्यता समुच्चय जीव के समान समझनी चाहिए।[1]

वैक्रियसमुद्घात से समवहत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा

२१५९. [१] जीवे णं भंते! वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले णिच्छुभति तेहि णं भंते! पोग्गलेहिं केवतिए खेत्ते अफुण्णे केवतिए खेत्ते फुडे ?

गोयमा! सरीरप्पमाणमेत्ते विक्खंभ-बाहल्लेणं, आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं संखेज्जाइं जोयणाइं एगदिसिं विदिसिं वा एवतिए खेत्ते अफुण्णे एवतिए खेत्ते फुडे।

[२१५९-१ प्र.] भगवन्! वैक्रियसमुद्घात से समवहत हुआ जीव, समवहत होकर (वैक्रिययोग्य शरीर के अन्दर रहे हुए) जिन पुद्गलों को बाहर निकालता है (आत्मप्रदेशों से पृथक् करता है), उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण होता है, कितना क्षेत्र स्पृष्ट होता है ?

[२१५९-१ उ.] गौतम! जितना शरीर का विस्तार और बाहल्य (स्थूलत्व) है, उतना तथा लम्बाई में जघन्य अंगुल के असंख्यातवाँ भाग तथा उत्कृष्ट संख्यात योजन जितना क्षेत्र एक दिशा या विदिशा में आपूर्ण होता है और उतना ही क्षेत्र व्याप्त होता है।

[२] से णं भंते! खेत्ते केवतिकालस्स अफुण्णे केवतिकालस्स फुडे ?

गोयमा! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेण एवतिकालस्स अफुण्णे एवतिकालस्स फुडे। सेसं तं चेव जाव पंचकिरिया वि।

[२१५९-२ प्र.] भगवन्! वह (पूर्वोक्त) क्षेत्र कितने काल में आपूर्ण होता है और कितने काल में स्पृष्ट होता है ?

[२१५९-२ उ.] गौतम! एक समय, दो समय या तीन समय के विग्रह से, अर्थात् इतने काल से (वह क्षेत्र) आपूर्ण और स्पृष्ट हो जाता है। शेष सब कथन पूर्ववत् यावत् 'पांच क्रियाएँ लगती हैं', यहाँ तक कहना चाहिए।

२१६०. एवं णेरइए वि। णवरं आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं जोयणाइं एगदिसिं एवतिए खेत्ते०। केवतिकालस्स० तं चेव जहा जीवपए (सु. २१५९)।

[२१६०] इसी प्रकार नैरयिकों की (वैक्रियसमुद्घात सम्बन्धी वक्तव्यता) भी कहनी चाहिए। विशेष यह है कि लम्बाई में जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग तथा उत्कृष्ट संख्याततयोजन जितना क्षेत्र एक दिशा में आपूर्ण और स्पृष्ट होता है। यह क्षेत्र कितने काल में आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है ?, इसके उत्तर में (सू. २१५९ में उक्त समुच्चय) जीवपद के समान कथन किया गया है।

२१६१. एवं जहा णेरइयस्स (सु. २१६०) तहा असुरकुमारस्स। णवरं एगदिसिं विदिसिं वा। एवं जाव थणियकुमारस्स।

[२१६१] जैसे नारक का वैक्रियसमुद्घातसम्बन्धी कथन किया गया है, वैसे ही असुरकुमार

1. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०८३-८४

का समझना चाहिए। विशेष यह है कि एक दिशा या विदिशा में (उतना क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है।) इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त ऐसा ही कथन समझना चाहिए।

२१६२. वाउक्काइयस्स जहा जीवपदे (सु. २१५९)। णवरं एगदिसिं।

[२१६२] वायुकायिक का (वैक्रियसमुद्घात सम्बन्धी) कथन समुच्चय जीवपद के समान (सू. २१५९ के अनुसार) समझना चाहिए। विशेष यह है कि एक ही दिशा में (उक्त क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है।)

२१६३. पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स णिरवसेसं जहा णेरइयस्स (सु. २१६०)।

[२१६३] जिस प्रकार (सू. २१६० में) नैरयिक का (वैक्रियसमुद्घात सम्बन्धी कथन) किया गया है, वैसे ही पंचेन्द्रियतिर्यञ्च का समग्र कथन करना चाहिए।

२१६४. मणूस-वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियस्स णिरवसेसं जहा असुरकुमारस्स (सु. २१६१)।

[२१६४] मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक का (वैक्रियसमुद्घात सम्बन्धी) सम्पूर्ण कथन (सू. २१६१ में उक्त) असुरकुमार के समान कहना चाहिए।

विवेचन—वैक्रियसमुद्घात की क्षेत्रस्पर्शना, कालपरिणाम और क्रिया प्ररूपणा—(१) वैक्रियसमुद्घात से समवहत जीव वैक्रिययोग्य शरीर के अन्दर रहे हुए पुद्गलों को बाहर निकालता है (अपने से पृथक् करता है), तब उन पुद्गलों से, शरीर का जितना विस्तार तथा स्थूलत्व है, उतना तथा लम्बाई में जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट संख्यात योजन क्षेत्र एक दिशा में अथवा विदिशा में आपूर्ण एवं व्याप्त (स्पृष्ट) होता है।

यहाँ लम्बाई में जो उत्कृष्ट संख्यात योजन-प्रमाण क्षेत्र का व्याप्त होना कहा गया है, वह वायुकायिकों को छोड़ कर नारक आदि की अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योंकि नारक आदि जब वैक्रियसमुद्घात करते हैं, तब तथाविध प्रयत्न-विशेष से संख्यात योजन-प्रमाण आत्मप्रदेशों के दण्ड की रचना करते हैं, असंख्यात योजन-प्रमाण दण्ड की रचना नहीं करते। किन्तु वायुकायिक जीव वैक्रियसमुद्घात के समय जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग का ही दण्ड रचते हैं। इतने प्रमाणवाले दण्ड की रचना करते हुए नारक आदि उतने प्रदेश में तैजसशरीर आदि के पुद्गलों को आत्मप्रदेशों से बाहर निकालते हैं, ऐसी स्थिति में उन पुद्गलों से आपूर्ण और व्याप्त वह क्षेत्र लम्बाई में उत्कृष्ट रूप से संख्यात योजन ही होता है। क्षेत्र का यह प्रमाण केवल वैक्रियसमुद्घात से उत्पन्न प्रयत्न की अपेक्षा से कहा गया है।[1]

जब वैक्रियसमुद्घात प्राप्त कोई जीव मारणान्तिकसमुद्घात को प्राप्त होता है और फिर तीव्रतर प्रयत्न के बल से उत्कृष्ट देश में तीन समय के विग्रह से उत्पत्तिस्थान में आता है, उस समय असंख्यात योजन लम्बा क्षेत्र समझना चाहिए। यह असंख्यात योजन-प्रमाण क्षेत्र को आपूर्ण करना मारणान्तिकसमुद्घात-जन्य होने से यहाँ विवक्षित नहीं है। इसी कारण वैक्रियसमुद्घात-जन्य क्षेत्र

---

१. प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. कोष, भा. ७ पृ. ४५६

को संख्यात योजन ही कहा गया है। इसी प्रकार नारक, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं वायुकायिक की अपेक्षा से पूर्वोक्त प्रमाणयुक्त लम्बे क्षेत्र का आपूर्ण होना नियमत: एक दिशा में ही समझना चाहिए। नारक जीव पराधीन और अल्पऋद्धिमान् होते हैं। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च भी अल्पऋद्धिमान् होते हैं और वायुकायिक जीव विशिष्ट चेतना से विकल होते हैं। ऐसी स्थिति में जब वे वैक्रियसमुद्घात का प्रारम्भ करते हैं, तब स्वभावत: ही आत्मप्रदेशों का दण्ड निकलता है और आत्मप्रदेशों से पृथक् होकर स्वभावत: पुद्गलों का गमन श्रेणी के अनुसार होता है, विश्रेणी में गमन नहीं होता। इस कारण नारकों, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और वायुकायिकों का पूर्वोक्त आयाम क्षेत्र एक दिशा में ही समझना चाहिए, विदिशा में नहीं, किन्तु भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव तथा मनुष्य स्वेच्छापूर्वक विहार करने वाले हैं—स्वच्छन्द हैं और विशिष्टलब्धि से सम्पन्न भी होते हैं, अत: वे विशिष्ट प्रयत्न द्वारा विदिशा में भी आत्मप्रदेशों का दण्ड निकालते हैं। इसी दृष्टि से कहा गया है—'**णवरं एगदिसिं विदिसिं वा**' अर्थात्—असुरकुमारादि भवनपति आदि चारों निकायों के देव और मनुष्य एक दिशा में भी पूर्वोक्त क्षेत्र को आपूर्ण और व्याप्त करते हैं।[1]

(२) पूर्वोक्त प्रमाण वाला क्षेत्र, विग्रहगति से उत्पत्तिदेश पर्यन्त एक समय, दो समय अथवा तीन समय में विग्रहगति से आपूर्ण एवं व्याप्त होता है। इस प्रकार विग्रहगति की अपेक्षा से मरण-समय से लेकर उत्पत्तिदेश पर्यन्त पूर्वोक्त प्रमाण क्षेत्र का आपूरण अधिक से अधिक तीन समय में हो जाता है, उसके चौथा समय नहीं लगता। वैक्रियसमुद्घातगत वायुकायिक भी प्राय: त्रसनाडी में उत्पन्न होता है और त्रसनाडी की विग्रहगति अधिक से अधिक तीन समय की ही होती है। इसलिए यहाँ कहा गया है, कि इतने (एक, दो या तीन) समय में पूर्वोक्त प्रमाण वाला क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है।[2]

(३-४-५-६) इसके पश्चात् क्रियासम्बन्धी चार तथ्यों का प्ररूपण वेदनासमुद्घात सम्बन्धी कथन के समान ही समझना चाहिए।

तैजससमुद्घात-समवहत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा

२१६५. जीवे णं भंते ! तेयगसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले णिच्छुभइ तेहि णं भंते ! पोग्गलेहिं केवतिए खेत्ते अफुण्णे० ? एवं जहेव वेउव्वियसमुग्घाए (सु. २१५९-६४) तहेव। णवरं आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, सेसं तं चेव। एवं जाव वेमाणियस्स, णवरं पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स एगदिसिं एवतिए खेत्ते अफुण्णे०।

[२१६५ प्र.] भगवन् ! तैजससमुद्घात से समवहत जीव समवहत हो कर जिन पुद्गलों को (अपने शरीर से बाहर) निकालता है, भगवन् ! उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण और कितना क्षेत्र स्पृष्ट (व्याप्त) होता है ?

[२१६५ उ.] गौतम ! जैसे (सू. २१५९-६४ में) वैक्रियसमुद्घात के विषय में कहा है, उसी प्रकार तैजससमुद्घात के विषय में कहना चाहिए। विशेष यह है कि तैजससमुद्घात निर्गत

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अ. रा. कोष. भा. ७, पृ. ४५२
(ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १०९३-१०९४

२. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण) भा. १, पृ. ४४१

पुद्गलों से लम्बाई में जघन्यतः अंगुल का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है। (तैजस-समुद्घातसम्बन्धी) शेष वक्तव्यता वैक्रियसमुद्घात की वक्तव्यता के समान है।

इस प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त वक्तव्यता समझनी चाहिए। विशेष यह है कि पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च एक ही दिशा में पूर्वोक्त क्षेत्र को आपूर्ण एवं व्याप्त करते हैं।

विवेचन—तैजससमुद्घात—तैजससमुद्घात चारों प्रकार के देवनिकायों, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों में ही होता है। इनके अतिरिक्त नारक तथा एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय में नहीं होता। देवनिकाय आदि तीनों अतीव प्रयत्नशील होते हैं। अतः जब वे तैजससमुद्घात प्रारम्भ करते हैं, तब जघन्यतः लम्बाई में अंगुल का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र आपूर्ण एवं व्याप्त होता है, संख्यातवाँ भाग नहीं। पूर्वोक्त प्रमाण क्षेत्र पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों को छोड़ कर दिशा या विदिशा में आपूर्ण होता है। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च द्वारा केवल एक दिशा में पूर्वोक्त क्षेत्र आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है। शेष सब कथन वैक्रियसमुद्घात के कथन के समान समझना चाहिए।[1]

आहारकसमुद्घात-समवहत जीवादि के क्षेत्र, काल एवं क्रिया की प्ररूपणा

२१६६. [१] जीवे णं भंते! आहारगसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे पोग्गले णिच्छुभइ तेहि णं भंते! पोग्गलेहिं केवतिए खेत्ते अफुण्णे केवतिए खेत्ते फुडे?

गोयमा! सरीरपमाणमेत्ते विक्खंभ-बाहल्लेणं, आयामेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं संखेज्जाइं जोयणाइं एगदिसिं एवइए खेत्ते०।[2]

एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं एवतिकालस्स अफुण्णे एवतिकालस्स फुडे।

[२१६६-१ प्र.] भगवन्! आहारकसमुद्घात से समवहत जीव समवहत होकर जिन (आहारकयोग्य) पुद्गलों को (अपने शरीर से) बाहर निकालता है, भगवन्! उन पुद्गलों से कितना क्षेत्र आपूर्ण तथा कितना क्षेत्र स्पृष्ट (व्याप्त) होता है?

[२१६६-१ उ.] गौतम! विष्कम्भ और बाहल्य से शरीरप्रमाण मात्र (क्षेत्र) तथा लम्बाई में जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट संख्यात योजन क्षेत्र एक दिशा में (उन पुद्गलों से) आपूर्ण और स्पृष्ट होता है।

[२] ते णं भंते! पोग्गला केवतिकालस्स णिच्छुभति?

गोयमा! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तस्स।

[२१६६-२ प्र.] भगवन्! (आहारकसमुद्घाती जीव) उन पुद्गलों को कितने समय में बाहर निकालता है?

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११००-११०१
   (ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति. अभि. रा. कोष भा. ७, पृ. ४५६

२. पूरक पाठ—'अफुण्णे एवइए खेत्ते फुडे।
   [प्र.] से णं भंते! केवइकालस्स अफुण्णे. केवइकालस्स फुडे?
   [उ.] गोयमा!.......'

[२१६६-२ उ.] गौतम ! जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त में (वह उन पुद्गलों को) वाहर निकालता है ।

[३] ते णं भंते ! पोग्गला णिच्छूढा समाणा जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणंति जाव उद्दवेंति तम्रो णं भंते ! जीवे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ।

ते णं भंते ! जीवा तातो जीवाम्रो कतिकिरिया ?

गोयमा ! एवं चेव ।

[२१६६-३ प्र.] भगवन् ! वाहर निकाले हुए वे पुद्गल वहाँ जिन प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का अभिघात करते हैं; यावत् उन्हें प्राणरहित कर देते हैं, भगवन् ! उनसे (समुद्घातकर्त्ता) जीव को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[२१६६-३ उ.] (ऐसी स्थिति में) वह कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच क्रियाओं वाला होता है ।

[प्र.] भगवन् ! वे आहारकसमुद्घात द्वारा वाहर निकाले हुए पुद्गलों से स्पृष्ट हुए जीव आहारकसमुद्घात करने वाले जीव के निमित्त से कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[उ.] गौतम ! इसी प्रकार समझना चाहिए ।

[४] से णं भंते ! जीवे ते य जीवा अण्णेसिं जीवाणं परंपराघाएणं कतिकिरिया ?

गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि ।

[२१६६-४ प्र.] (आहारकसमुद्घातकर्त्ता) वह जीव तथा (आहारकसमुद्घातगत पुद्गलों से स्पृष्ट) वे जीव, अन्य जीवों का परम्परा से घात करने के कारण कितनी क्रियाओं वाले होते हैं ?

[२१६६-४ उ.] गौतम ! (पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार) वे तीन क्रिया वाले, चार क्रिया वाले अथवा पांच क्रिया वाले भी होते हैं ।

२१६७. एवं मणूसे वि ।

[२१६७] इसी प्रकार मनुष्य के आहारकसमुद्घात की वक्तव्यता समझ लेनी चाहिए ।

विवेचन—आहारकसमुद्घात सम्बन्धी वक्तव्यता—शरीर के विस्तार और स्थौल्य जितना क्षेत्र विष्कम्भ और वाहल्य की अपेक्षा आपूर्ण और स्पृष्ट होता है । लम्वाई में जघन्य अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट संख्यात योजन क्षेत्र उन पुद्गलों से एक दिशा में आपूर्ण स्पृष्ट होता है । वे पुद्गल विदिशा में क्षेत्र को आपूर्ण या व्याप्त नहीं करते ।

विग्रह की अपेक्षा से पूर्वोक्त क्षेत्र एक समय, दो समय अथवा तीन समय की विग्रहगति से आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है ।

आहारकसमुद्घात मनुष्यों में ही हो सकता है । मनुष्यों में भी उन्हीं को होता है, जो चौदह पूर्वों का अध्ययन कर चुके हों । चौदह पूर्वों के अध्येताओं में भी उन्हीं मुनियों को होता है, जो

आहारकलब्धि के धारक हों। अतएव चौदह पूर्वों के पाठक और आहारकलब्धि के धारक मुनिवर जब आहारकसमुद्घात करते हैं, तब जघन्य और उत्कृष्ट रूप से पूर्वोक्त क्षेत्र को आत्मप्रदेशों से पृथक् किये पुद्गलों से एक दिशा में आपूर्ण और स्पृष्ट करते हैं, विदिशा में नहीं। विदिशा में जो आपूर्ण स्पृष्ट होता है, उसके लिए दूसरे प्रयत्न की आवश्यकता होती है, किन्तु आहारकलब्धि के धारक तथा आहारकसमुद्घात करने वाले मुनि इतने गंभीर होते हैं कि उन्हें वैसा कोई प्रयोजन नहीं होता। अतः वे दूसरा प्रयत्न नहीं करते।

इसी प्रकार आहारकसमुद्घातगत कोई जीव मृत्यु को प्राप्त होता है और विग्रहगति से उत्पन्न होता है, और वह विग्रह अधिक से अधिक तीन समय का होता है।

अन्य सब आहारकसमुद्घातविषयक कथन वेदनासमुद्घात के समान जानना चाहिए।[1]

दण्डकक्रम से आहारकसमुद्घात की वक्तव्यता क्यों? यद्यपि आहारकसमुद्घात मनुष्यों को ही होता है, अतएव समुच्चय जीवपद में जो आहारकसमुद्घात की प्ररूपणा की गई है, उसमें मनुष्य का अन्तर्भाव हो ही जाता है, तथापि दण्डकक्रम से विशेषरूप से प्राप्त मनुष्य के आहारकसमुद्घात का भी उल्लेख किया गया है। इस कारण यहाँ पुनरुक्तिदोष की कल्पना नहीं करनी चाहिए।[2]

केवलिसमुद्घात-समवहत अनगार के निर्जीर्ण अन्तिम पुद्गलों की लोकव्यापिता

२१६८. अणगारस्स णं भंते! भावियप्पणो केवलिसमुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा णिज्जरापोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो! सव्वलोगं पि य णं ते फुसित्ता णं चिट्ठंति ?

हंता गोयमा! अणगारस्स भावियप्पणो केवलिसमुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा णिज्जरापोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो! सव्वलोगं पि य णं ते फुसित्ता णं चिट्ठंति।

[२१६८ प्र.] भगवन्! केवलिसमुद्घात से समवहत भावितात्मा अनगार के जो चरम (अन्तिम) निर्जरा-पुद्गल हैं, हे आयुष्मन् श्रमणप्रवर! क्या वे पुद्गल सूक्ष्म कहे गए हैं? क्या वे समस्त लोक को स्पर्श करके रहते हैं?

[२१६८ उ.] हाँ, गौतम! केवलिसमुद्घात से समवहत भावितात्मा अनगार के जो चरम निर्जरा-पुद्गल होते हैं, हे आयुष्मन् श्रमण! वे पुद्गल सूक्ष्म कहे गए हैं तथा वे समस्त लोक को स्पर्श करके रहते हैं।

२१६९. छउमत्थे णं भंते! मणूसे तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेण वा फासं जाणति पासति ?

---

१. (क) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अभि. रा. को. भा. ७, पृ. ४५६
   (ख) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११०२-११०३

२. (क) वही, भा. ५, पृ. ११०७
   (ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति., अभि. रा. को. भा. ७, पृ. ४५६

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति छउमत्थे णं मणूसे तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं णो किंचि वि वण्णेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणति पासति ?

गोयमा ! अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीव-समुद्दाणं सव्वब्भंतराए सव्वखुड्डाए वट्टे तेल्लापूय-संठाणसंठिए वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिते वट्टे पडिपुण्णचंद-संठाणसंठिए एगं जोयणसयसहस्सं आयाम-विक्खभेणं, तिण्णि य जोयणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसते तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसतं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते । देवे णं महिड्ढीए जाव महासोक्खे एगं महं सविलेवणं गंधसमुग्गयं गहाय तं अवदालेति, तं महं एगं सविलेवणं गंधसमुग्गयं अवदालेत्ता इणामेव कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छराणिवातेहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से णूणं गोयमा ! से केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे तेहिं घाणपोग्गलेहिं फुडे ?

हंता फुडे ।

छउमत्थे णं गोतमा ! मणूसे तेसिं घाणपोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणति पासति ?

भगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति छउमत्थे णं मणूसे तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं णो किंचि वण्णेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणति पासति, एसुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य णं फुसित्ता णं चिट्ठंति ।

[२१६९ प्र.] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य उन निर्जरा-पुद्गलों के चक्षु-इन्द्रिय (वर्ण) से किंचित् वर्ण को, घ्राणेन्द्रिय (गन्ध) से गन्ध को, रसनेन्द्रिय (रस) से रस को, अथवा स्पर्शेन्द्रिय से से स्पर्श को जानता-देखता है ?

[२१६९ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) शक्य (समर्थ) नहीं है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण ऐसा कहते हैं कि छद्मस्थ मनुष्य उन निर्जरा-पुद्गलों के चक्षु-इन्द्रिय से वर्ण को, घ्राणेन्द्रिय से गन्ध को, रसनेन्द्रिय से रस को तथा स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श को किंचित् भी नहीं जानता-देखता ?

[उ.] गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप समस्त द्वीप-समुद्रों के बीच में है, सबसे छोटा है, वृत्ताकार (गोल) है, तेल के पूए के आकार का है, रथ के पहिये (चक्र) के आकार-सा गोल है, कमल की कर्णिका के आकार-सा गोल है, परिपूर्ण चन्द्रमा के आकार-सा गोल है । लम्बाई और चौड़ाई (आयाम एवं विष्कम्भ) में एक लाख योजन है । तीन लाख, सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक-सौ अट्ठाईस धनुष, साढ़े तेरह अंगल से कुछ विशेषाधिक परिधि से युक्त कहा है । एक महर्द्धिक यावत् महासौख्यसम्पन्न देव विलेपन सहित सुगन्ध की एक बड़ी डिबिया को (हाथ में लेकर) उसे खोलता है । फिर विलेपनयुक्त सुगन्ध की खुली हुई उस बड़ी डिबिया को, इस प्रकार

हाथ में ले करके सम्पूर्ण जम्बूद्वीप नामक द्वीप को तीन चुटकियों में इक्कीस बार घूम कर वापस शीघ्र आजाय, तो हे गौतम ! (यह बताओ कि) क्या वास्तव में उन गन्ध के पुद्गलों से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप स्पृष्ट हो जाता है ?

[प्र.] हाँ, भंते ! स्पृष्ट (व्याप्त) हो जाता है ।

[उ.] हे गौतम ! क्या छद्मस्थ मनुष्य (समग्र जम्बूद्वीप में व्याप्त) उन घ्राण-पुद्गलों के वर्ण को चक्षु से, गन्ध को नासिका से, रस को रसेन्द्रिय से और स्पर्श को स्पर्शेन्द्रिय से किंचित् जान-देख पाता है ?

[उ.] भगवन् ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है । (भगवान्—) इसी कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि छद्मस्थ मनुष्य उन निर्जरा-पुद्गलों के वर्ण को नेत्र से, गन्ध को नाक से, रस को जिह्वा से और स्पर्श को स्पर्शेन्द्रिय से किंचित् भी नहीं जान-देख पाता । हे आयुष्मन् श्रमण ! वे (निर्जरा-) पुद्गल सूक्ष्म कहे गए हैं तथा वे समग्र लोक को स्पर्श करके रहे हुए हैं ।

विवेचन—केवलिसमुद्घात-समवहत भावितात्मा अनगार के चरम-निर्जरा-पुद्गल—प्रस्तुत केवलिसमुद्घात प्रकरण में दो बातों को स्पष्ट किया गया है—(१) यह बात यथार्थ है कि केवलि-समुद्घात से समवहत भावितात्मा अनगार के चरम (चतुर्थ) समवर्ती निर्जरा-पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं तथा वे समग्र लोक को व्याप्त करके रहते हैं । (२) छद्मस्थ मनुष्य उन निर्जरा-पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श को किंचित् भी नहीं जान-देख सकते, क्योंकि एक तो वे पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं, दूसरे वे पुद्गल समग्र लोक में व्याप्त हैं, कहीं भी कोई ऐसी जगह नहीं है, जहाँ वे न हों और समग्र लोक तो बहुत ही बड़ा है । लोक का एक भाग जम्बूद्वीप है, जो समस्त द्वीप-समुद्रों के बीच में है, और सबसे छोटा है, क्योंकि जम्बूद्वीप से लेकर सभी द्वीप-समुद्रों का विस्तार दुगुना-दुगुना है । अर्थात् जम्बूद्वीप से आगे के लवणसमुद्र और धातकीखण्ड आदि द्वीप, अपने से पहले वाले द्वीप-समुद्रों से लम्बाई-चौड़ाई में दुगुने और परिधि में भी बहुत बड़े हैं । तेल में पकाये हुए पूए के समान या रथ के चक्र के समान अथवा कमलकर्णिका के समान आकार का या पूर्ण चन्द्रमा के समान गोल जम्बूद्वीप भी लम्बाई-चौड़ाई में एक लाख योजन का है । तीन लाख, सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष तथा १३½ अंगुल से कुछ अधिक की उसकी परिधि है । कोई महर्द्धिक एवं यावत् महासुखी, महाबली देव विलेपन द्रव्यों से आच्छादित एवं गन्धद्रव्यों से परिपूर्ण एक डिबिया को लेकर उसे खोले और फिर उसे लेकर सारे जम्बूद्वीप के, तीन चुटकियाँ बजाने जितने समय में इक्कीस बार चक्कर लगा कर आ जाए, इतने समय में ही सारा जम्बूद्वीप उन गंध-द्रव्यों (पुद्गलों) से व्याप्त हो जाता है । सारे लोक में व्याप्त को तो दूर रहा, लोक के एक प्रदेश—जम्बूद्वीप में व्याप्त गन्धपुद्गलों को भी जैसे छद्मस्थ मनुष्य पांचों इन्द्रियों से जान-देख नहीं सकता; इसी प्रकार छद्मस्थ मनुष्य केवलिसमुद्घात-समवहत केवली भगवान् द्वारा निर्जीर्ण अन्तिम पुद्गलों को नहीं जान-देख सकता, क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं तथा सर्वत्र फैले हुए हैं ।[1]

कठिन शब्दों का भावार्थ—चरमा णिज्जरापोग्गला—केवलिसमुद्घात के चौथे समय के निर्जीर्ण पुद्गल । **वण्णेणं**— वर्णग्राहक नेत्रेन्द्रिय से । **घाणेणं**—गन्धग्राहक नासिका— घ्राणेन्द्रिय—से

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका), भा. ५, पृ. १११३ से १११६

रसेणं—रसग्राहक रसनेन्द्रिय से। **फासेणं**—स्पर्शग्राहक स्पर्शेन्द्रिय से। **सव्वब्भंतराए**—सब के बीच में। **सव्वखुड्डाए**—सबसे छोटे। **तेलापूयसंठाणसंठिए**—तेल के मालपूए के समान आकार का। **रहचक्कवालसंठाणसंठिए**—रथ के चक्र के समान गोलाकार। **परिक्खेवेणं**—परिधि से युक्त। **केवलकप्पं**—सम्पूर्ण। **अच्छरा-णिवातेहिं**—चुटकियाँ बजा कर। **अणुपरियट्टित्ता**—चक्कर लगाकर या घूमकर। **फुडे**—स्पृष्ट है—व्याप्त है।[1]

आशय—इस प्रकरण को इस प्रकार से प्रारम्भ करने का आशय यह है कि केवलिसमुद्घात से समवहत मुनि के केवलिसमुद्घात के समय शरीर से बाहर निकाले हुए चरमनिर्जरा-पुद्गलों के द्वारा समग्र लोक व्याप्त है। जिसे केवलि ही जान-देख सकता है, छद्मस्थ मनुष्य नहीं। छद्मस्थ मनुष्य सामान्य या विशेष किसी भी रूप में उन्हें जान-देख नहीं सकता।[2]

केवलिसमुद्घात का प्रयोजन

२१७०. [१] कम्हा णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छति ?

गोयमा ! केवलिस्स चत्तारि कम्मंसा अक्खीणा अवेदिया अणिज्जिण्णा भवंति। तं जहा—वेयणिज्जे १ आउए २ णामे ३ गोए ४। सव्वबहुप्पएसे से वेदणिज्जे कम्मे भवति, सव्वत्थोवे से आउए कम्मे भवति।

विसमं सम करेति बंधणेहिं ठितीहि य।
विसमसमीकरणयाए बंधणेहिं ठितीहि य ॥ २२८ ॥

एवं खलु केवली समोहण्णति, एवं खलु समुग्घायं गच्छति।

[२१७०-१ प्र.] भगवन् ! किस प्रयोजन से केवली समुद्घात करते हैं ?

[२१७०-१ उ.] गौतम ! केवली के चार कर्मांश क्षीण नहीं हुए हैं, वेदन नहीं किये (भोगे नहीं गए) हैं, निर्जरा को प्राप्त नहीं हुए हैं। वे (चार कर्म) इस प्रकार हैं—(१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम और (४) गोत्र। उनका वेदनीयकर्म सबसे अधिक प्रदेशों वाला होता है। उनका सबसे कम (प्रदेशों वाला) आयुकर्म होता है।

[गाथार्थ—] वे बन्धनों और स्थितियों से विषम (कर्म) को सम करते हैं। (वस्तुतः) बन्धनों और स्थितियों से विषम कर्मों का समीकरण करने के लिए। केवली इसीलिए केवलिसमुद्घात करते हैं तथा इसी प्रकार केवलिसमुद्घात को प्राप्त होते हैं।

[२] सव्वे वि णं भंते ! केवली समोहण्णंति ? सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे,

जस्साऽऽउएण तुल्लाइं बंधणेहिं ठितीहि य।
भवोवग्गहकम्माइं समुग्घायं से ण गच्छति ॥ २२९ ॥

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. १११४ से १११६ तक

२. पण्णवणासुत्तं भा. १. पृ. ४४३

अगंतूणं समुग्घायं अणंता केवली जिणा।
जर-मरणविप्पमुक्का सिद्धिं वरगतिं गता ॥ २३० ॥

[२१७०-२ प्र.] भगवन् ! क्या सभी केवली भगवान् समुद्घात करते हैं ? तथा क्या सब केवली समुद्घात को प्राप्त होते हैं ?

[२१७०-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[गाथार्थ—] जिसके भवोपग्राही कर्म बन्धन एवं स्थिति से आयुष्यकर्म के तुल्य होते हैं, वह केवली केवलिसमुद्घात नहीं करता।

समुद्घात किये विना ही अनन्त केवलज्ञानी जिनेन्द्र जरा और मरण से सर्वथा रहित हुए हैं तथा श्रेष्ठ सिद्धिगति को प्राप्त हुए हैं।

विवेचन—केवली द्वारा केवलिसमुद्घात क्यों और क्यों नहीं ?—प्रश्न का आशय यह है कि केवली तो कृतकृत्य तथा अनन्तज्ञानादि से परिपूर्ण होते हैं, उनका प्रयोजन शेष नहीं रहता, फिर उन्हें केवलिसमुद्घात करने की क्या आवश्यकता ?

इसका समाधान स्वयं शास्त्रकार करते हैं कि केवली अभी पूर्ण रूप से कृतकृत्य, आठों कर्मों से रहित, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हुए, उनके भी चार अघातीकर्म शेष हैं, जो कि भवोपग्राही कर्म होते हैं। अतएव केवली के चार प्रकार के कर्म क्षीण नहीं हुए, क्योंकि उनका पूर्णतः वेदन नहीं हुआ। कहा भी है—'नाभुक्तं क्षीयते कर्म।' कर्मों का क्षय तो नियम से तभी होता है, जब उनका प्रदेशों से या विपाक से वेदन कर लिया जाए, भोग लिया जाए। कहा भी है—**"सव्वं च पएसतया भुज्जइ कम्ममणुभावओ भइयं"** अर्थात् सभी कर्म प्रदेशों से भोगे जाते हैं, विपाक से भोगने की भजना है। केवली के ४ कर्म, जिन्हें भोगना बाकी है, ये हैं—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। चूंकि इन चारों कर्मों का वेदन नहीं हुआ, इसलिए उनकी निर्जरा नहीं हुई। अर्थात् वे आत्मप्रदेशों से पृथक् नहीं हुए। इन चारों में वेदनीय कर्म सर्वाधिक प्रदेशों वाला होता है। नाम और गोत्र भी अधिक प्रदेशों वाला है, परन्तु आयुष्यकर्म के बराबर नहीं। आयुष्यकर्म सबसे कम प्रदेशों वाला होता है। केवली के आयुष्यकर्म के बराबर शेष तीन कर्म न हों तो वे उन विषम स्थिति एवं बन्ध वाले कर्मों को आयुकर्म के बराबर करके सम करते हैं। ऐसे सम करने वाले केवली केवलिसमुद्घात करते हैं। वे विषम कर्मों को, जो कि बन्ध से और स्थिति से सम नहीं हैं, उन्हें सम करते हैं, ताकि चारों कर्मों का एक साथ क्षय हो सके। योग (मन, वचन, काया का व्यापार) के निमित्त से जो कर्म बंधते हैं, अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक होते हैं, उन्हें बन्धन कहते हैं और कर्मों के वेदन के काल को स्थिति कहते हैं। बन्धन और स्थिति, इन दोनों से केवली वेदनीयादि कर्मों को आयुष्यकर्म के बराबर करते हैं। कर्म द्रव्यबन्धन कहलाते हैं, जबकि वेदनकाल को स्थिति कहते हैं। यही केवलिसमुद्घात का प्रयोजन है। जिन केवलियों का आयुष्यकर्म बन्धन और स्थिति से भवोपग्राही अन्य कर्मों के तुल्य होता है, वे केवलिसमुद्घात नहीं करते, वे केवलिसमुद्घात किये विना ही सर्व कर्म-मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध एवं सर्वजरा-मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे अनन्त सिद्ध हुए हैं। समुद्घात वे ही केवली करते हैं, जिनकी आयु कम होती है और वेदनीयादि तीन कर्मों की स्थिति एवं प्रदेश अधिक होते हैं तब उन सबको समान करने हेतु समुद्घात किया जाता है।

समुद्घात करने से उक्त चारों कर्मों के प्रदेश और स्थितिकाल में समानता आ जाती है। यदि वे समुद्घात न करें तो आयुकर्म पहले ही समाप्त हो जाए और उक्त तीन कर्म शेष रह जाएँ। ऐसी स्थिति में या तो तीन कर्मों के साथ वे मोक्षगति में जाएँ या नवीन आयुकर्म का बन्ध करें, किन्तु ये दोनों ही बातें असम्भव हैं। मुक्तदशा में कर्म शेष नहीं रह सकते और न ही मुक्त जीव नये आयुकर्म का बन्ध कर सकते हैं। इसी कारण केवलिसमुद्घात के द्वारा वेदनीयादि तीन कर्मों के प्रदेशों की विशिष्ट निर्जरा करके तथा उनकी लम्बी स्थिति का घात करके उन्हें आयुष्यकर्म के बराबर कर लेते हैं, जिससे चारों का क्षय एक साथ हो सके।

गौतम स्वामी विशेष परिज्ञान के लिए पुनः प्रश्न करते हैं—भगवन्! क्या सभी केवली समुद्घात में प्रवृत्त होते हैं? समाधान—न सभी केवली समुद्घात के लिए प्रवृत्त होते हैं और न ही सभी समुद्घात करते हैं। कारण ऊपर बताया जा चुका है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा का अपने शुद्ध स्वभाव में स्थित होना सिद्धि है। जिसके चारों कर्म स्वभावतः समान होते हैं, वह एक साथ उनका क्षय करके समुद्घात किये बिना ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[1]

केवलिसमुद्घात के पश्चात् योगनिरोध आदि की प्रक्रिया

२१७१. कतिसमइए णं भंते! आउज्जीकरणे पण्णत्ते?

गोयमा! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए आउज्जीकरणे पण्णत्ते।

[२१७१ प्र.] भगवन्! आवर्जीकरण कितने समय का कहा गया है?

[२१७१ उ.] गौतम! आवर्जीकरण असंख्यात समय के अन्तर्मुहूर्त्त का कहा गया है।

२१७२. कतिसमइए णं भंते! केवलिसमुग्घाए पण्णत्ते?

गोयमा! अट्ठसमइए पण्णत्ते। तं जहा—पढमे समए दंडं करेति, बिइए समए कवाडं करेति, ततिए समए मंथं करेति, चउत्थे समए लोगं पूरेइ, पंचमे समये लोयं पडिसाहरति, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरति, सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरति, अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरति, दंडं पडिसाहरित्ता ततो पच्छा सरीरत्थे भवति।

[२१७२ प्र.] भगवन्! केवलिसमुद्घात कितने समय का कहा गया है?

[२१७२ उ.] गौतम! वह आठ समय का कहा गया है। वह इस प्रकार है—प्रथम समय में दण्ड (की रचना) करता है, द्वितीय समय में कपाट करता है, तृतीय समय में मन्थान करता है, चौथे समय में लोक को व्याप्त करता है, पंचम समय में लोक-पूरण को सिकोड़ता है, छठे समय में मन्थान को सिकोड़ता है, सातवें समय में कपाट को सिकोड़ता है और आठवें समय में दण्ड को सिकोड़ता है और दण्ड का संकोच करते ही (पूर्ववत्) शरीरस्थ हो जाता है।

२१७३. [१] से णं भंते! तहासमुग्घायगते किं मणजोगं जुंजति वइजोगं जुंजति कायजोगं जुंजति?

---

१. (क) प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११२५ से ११२८
(ख) प्रज्ञापना. मलयवृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ७, पृ. ८२३

गोयमा ! णो मणजोगं जुंजइ णो वइजोगं जुंजइ, कायजोगं जुंजति ।

[२१७३-१ प्र.] भगवन् ! तथारूप से समुद्घात प्राप्त केवली क्या मनोयोग का प्रयोग करता है, वचनयोग का प्रयोग करता है, अथवा काययोग का प्रयोग करता है ?

[२१७३-१ उ.] गौतम ! वह मनोयोग का प्रयोग नहीं करता, वचनयोग का प्रयोग नहीं करता, किन्तु काययोग का प्रयोग करता है ।

[२] कायजोगण्णं भंते ! जुंजमाणे किं ओरालियसरीरकायजोगं जुंजति ओरालियमीसासरीरकायजोगं जुंजति ? किं वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजति वेउव्वियमीसासरीरकायजोगं जुंजति ? आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ आहारगमीसासरीरकायजोगं जुंजति ? किं कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! ओरालियसरीरकायजोगं पि जुंजति ओरालियमीसासरीरकायजोगं पि जुंजति, णो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजति णो वेउव्वियमीसासरीरकायजोगं जुंजति, णो आहारगसरीरकायजोगं जुंजति णो आहारगमीससरीरकायजोगं जुंजति, कम्मगसरीरकायजोगं पि जुंजति; पढमऽट्ठमेसु समएसु ओरालियसरीरकायजोगं जुंजति, बितिय-छट्ठ-सत्तमेसु समएसु ओरालियमीसगसरीरकायजोगं जुंजति, ततिय-चउत्थ-पंचमेसु समएसु कम्मगसरीरकायजोगं जुंजति ।

[२१७३-२ प्र.] भगवन् ! काययोग का प्रयोग करता हुआ केवली क्या औदारिकशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, औदारिकमिश्रशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, वैक्रियशरीर काययोग का प्रयोग करता है, वैक्रियमिश्रशरीर काययोग का प्रयोग करता है, आहारकशरीर काययोग का प्रयोग करता है, आहारकमिश्रशरीर काययोग का प्रयोग करता है अथवा कार्मणशरीर का प्रयोग करता है ?

[२१७३-२ उ.] गौतम ! (काययोग का प्रयोग करता हुआ केवली) औदारिकशरीरकाययोग का भी प्रयोग करता है, औदारिकमिश्रशरीरकाययोग का भी प्रयोग करता है, किन्तु न तो वैक्रियशरीर काययोग का प्रयोग करता है, न वैक्रियमिश्रशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, न आहारकशरीरकाययोग का प्रयोग करता है और न ही आहारकमिश्रशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, वह कार्मणशरीरकाययोग का प्रयोग करता है। प्रथम और अष्टम समय में औदारिकशरीरकाययोग का प्रयोग करता है, दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिकमिश्रशरीरकाययोग का प्रयोग करता है तथा तीसरे, चौथे और पांचवें समय में कार्मणशरीरकाययोग का प्रयोग करता है ।

२१७४. [१] से णं भंते ! तहासमुग्घायगते सिज्झति बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वाइ सव्वदुक्खाणं अंतं करेति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, से णं तओ पडिनियत्तति, ततो पडिनियत्तित्ता ततो पच्छा मणजोगं पि जुंजति वइजोगं पि जुंजति कायजोगं पि जुंजति ।

[२१७४-१ प्र.] भगवन् ! तथारूप समुद्घात को प्राप्त केवली क्या सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं, क्या वह सभी दुःखों का अन्त कर देते हैं ?

[२१७४-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है। पहले वे उससे (केवलि-समुद्घात से) प्रतिनिवृत्त होते हैं। तत्पश्चात् वे मनोयोग का उपयोग करते हैं, वचनयोग और काययोग का भी उपयोग करते हैं।

[२] मणजोगण्णं जुंजमाणे किं सच्चमणजोगं जुंजति मोसमणजोगं जुंजति सच्चामोसमणजोगं जुंजति असच्चामोसमणजोगं जुंजति ?

गोयमा ! सच्चमणजोगं जुंजति, णो मोसमणजोगं जुंजति णो सच्चामोसमणजोगं जुंजति, असच्चामोसमणजोगं पि जुंजइ।

[२१७४-२ प्र.] भगवन् ! मनोयोग का उपयोग करता हुआ केवलिसमुद्घात करने वाला केवली क्या सत्यमनोयोग का उपयोग करता है, मृषामनोयोग का उपयोग करता है, सत्यामृषामनोयोग का उपयोग करता है, अथवा असत्यामृषामनोयोग का उपयोग करता है ?

[२१७४-२ उ.] गौतम ! वह सत्यमनोयोग का उपयोग करता है और असत्यामृषामनोयोग का भी उपयोग करता है, किन्तु न तो मृषामनोयोग का उपयोग करता है और न सत्यामृषामनोयोग का उपयोग करता है।

[३] वयजोगं जुंजमाणे किं सच्चवइजोगं जुंजति मोसवइजोगं जुंजति सच्चामोसवइजोगं जुंजति असच्चामोसवइजोगं जुंजति ?

गोयमा ! सच्चवइजोगं जुंजति, णो मोसवइजोगं जुंजइ णो सच्चामोसवइजोगं जुंजति असच्चामोसवइजोगं पि जुंजइ।

[२१७४-३ प्र.] भगवन् ! वचनयोग का उपयोग करता हुआ केवली क्या सत्यवचनयोग का उपयोग करता है, मृषावचनयोग का उपयोग करता है, सत्यमृषावचनयोग का उपयोग करता है, अथवा असत्यामृषावचनयोग का उपयोग करता है ?

[२१७४-३ उ.] गौतम ! वह सत्यवचनयोग का उपयोग करता है और असत्यामृषावचनयोग का भी उपयोग करता है; किन्तु न तो मृषावचनयोग का उपयोग करता है और न ही सत्यमृषावचनयोग का उपयोग करता है।

[४] कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा गच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा णिसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा उल्लंघेज्ज वा पलंघेज्ज वा पाडिहारियं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगं पच्चप्पिणेज्जा।

[२१७४-४] काययोग का उपयोग करता हुआ (केवलिसमुद्घातकर्ता केवली) आता है, जाता है, ठहरता है, बैठता है, करवट बदलता है (या लेटता है), लांघता है, अथवा विशेष रूप से लांघता (छलांग मारता) है, या वापस लौटाये जाने वाले पीठ (चौकी), पट्टा, शय्या (वसति-स्थान), तथा संस्तारक (आदि सामान) वापस लौटाता है।

२१७५. से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झति जाव अंतं करेति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से णं पुव्वामेव सण्णिस्स पंचेंदियस्स पज्जत्तयस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं पढमं मणजोगं णिरुंभइ, तओ अणंतरं च णं बेइंदियस्स

पज्जत्तगस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं दोच्चं वइजोगं णिरु'भति, तओ अणंतरं च णं सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तयस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तच्चं कायजोगं णिरु'भति। से णं एतेणं उवाएणं पढमं मणजोगं णिरु'भइ, मणजोगं णिरु'भित्ता वइजोगं णिरु'भति, वइजोगं णिरु'भित्ता कायजोगं णिरु'भति, कायजोगं णिरु'भित्ता जोगणिरोहं करेति, जोगणिरोहं करेत्ता अजोगयं पाउणति, अजोगतं पाउणित्ता ईसीहस्सपंचक्खरुच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइतगुणसेढीयं च णं कम्मं (0000 / 000 / 00 / 0) (0000 / 000 / 00 / 0) (0000 / 000 / 00 / 0) (0 / 00 / 000 / 0000) तीसे सेलेसिमद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं असंखेज्जे कम्मखंधे खवयति, खवइत्ता वेदणिज्जाऽऽउय-णाम-गोत्ते इच्चेते चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेति, जुगवं खवेत्ता ओरालियतेया-कम्मगाइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहति, विप्पजहित्ता उजुसेढीपडिवण्णे अफुसमाणगतीए एगसमएणं अविग्गहेणं उड्ढं गंता सागारोवउत्ते सिज्झति बुज्झति०।[1]

[२१७५ प्र.] भगवन् ! वह तथारूप सयोगी (केवलिसमुद्घातप्रवृत्त केवली) सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, यावत् सर्वदु:खों का अन्त कर देते हैं ?

[२१७५ उ.] गौतम ! वह वैसा करने में समर्थ नहीं होते। वह सर्वप्रथम संज्ञीपंचेन्द्रिय-पर्याप्तक जघन्ययोग वाले के (मनोयोग से) भी नीचे (कम) असंख्यातगुणहीन मनोयोग का पहले निरोध करते हैं, तदनन्तर द्वीन्द्रियपर्याप्तक जघन्ययोग वाले के (वचनयोग से) भी नीचे (कम) असंख्यातगुणहीन वचनयोग का निरोध करते हैं। तत्पश्चात् अपर्याप्तक सूक्ष्मपनकजीव, जो जघन्ययोग वाला हो, उसके (काययोग से) भी नीचे (कम) असंख्यातगुणहीन तीसरे काययोग का निरोध करते हैं। (इस प्रकार) वह (केवली) इस उपाय से सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करते हैं, मनोयोग को रोक कर वचनयोग का निरोध करते हैं, वचनयोगनिरोध के पश्चात् काययोग का भी निरोध कर देते हैं। काययोगनिरोध करके वे (सर्वथा) योगनिरोध कर देते हैं। योगनिरोध करके वे अयोगत्व प्राप्त कर लेते हैं। अयोगत्वप्राप्ति के अनन्तर ही धीरे-से पांच ह्रस्व अक्षरों (अ इ उ ऋ लृ) के उच्चारण जितने काल में असंख्यातसामयिक अन्तर्मुहूर्त्त तक होने वाले शैलेशीकरण को अंगीकार करते हैं। पूर्वरचित गुणश्रेणियों वाले कर्म को उस शैलेशीकाल में असंख्यात कर्मस्कन्धों का क्षय कर डालते हैं। क्षय करके वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार (प्रकार के अघाती) कर्मों का एक साथ क्षय कर देते हैं। इन चार कर्मों को युगपत् क्षय करते ही औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर का पूर्णतया सदा के लिए त्याग कर देते हैं। इन शरीरत्रय का पूर्णत: त्याग करके ऋजुश्रेणी को प्राप्त होकर अस्पृशत् गति से एक समय में अविग्रह (बिना मोड़ की गति) से ऊर्ध्वगमन कर साकारोपयोग (ज्ञानोपयोग) से उपयुक्त होकर वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत्त हो जाते हैं तथा सर्वदु:खों का अन्त कर देते हैं।

विवेचन—केवलिसमुद्घात से पूर्व और पश्चात् केवली की प्रवृत्ति—इस प्रकरण में सर्वप्रथम आवर्जीकरण, तत्पश्चात् आठ समय का केवलिसमुद्घात, तदनन्तर समुद्घातगत केवली के द्वारा

---

१. अधिक पाठ—'तत्थ सिद्धो भवति' अर्थात्—वह वहाँ (सिद्धशिला में पहुँच कर) सिद्ध (मुक्त) हो जाता है।

योगत्रय में से काययोगप्रवृत्ति का उल्लेख और उसका क्रम भी बताया गया है। आवर्जीकरण के चार अर्थ यहाँ अभिप्रेत हैं—(१) आत्मा को मोक्ष के अभिमुख करना, (२) मन, वचन, काया के शुभ प्रयोग द्वारा मोक्ष को आर्वाजित—अभिमुख करना और (३) आर्वाजित अर्थात्—भव्यत्व के कारण मोक्षगमन के प्रति शुभ योगों को व्यापृत-प्रवृत्त करना आर्वाजितकरण है तथा (४) आ—मर्यादा में केवली की दृष्टि से शुभयोगों का प्रयोग करना। केवलिसमुद्घात करने से पूर्व आवर्जीकरण किया जाता है, जिसमें असंख्यात समय का अन्तर्मुहूर्त्त लगता है। आवर्जीकरण के पश्चात् विना व्यवधान के केवलिसमुद्घात प्रारम्भ कर दिया जाता है, जो आठ समय का होता है। मूलपाठ में उसका क्रम दिया गया है। इस प्रक्रिया में प्रारम्भ के चार समयों में आत्मप्रदेशों को फैलाया जाता है, जब कि पिछले चार समयों में उन्हें सिकोड़ा जाता है। कहा भी है—केवली प्रथम समय में ऊपर और नीचे लोकान्त तक तथा विस्तार में अपने देहप्रमाण दण्ड करते हैं, दूसरे में कपाट, तीसरे में मन्थान और चौथे समय में लोकपूरण करते हैं फिर प्रतिलोम रूप से संहरण अर्थात् विपरीत क्रम से संकोच करके स्वदेहस्थ हो जाते हैं।[1]

(२) समुद्घातकर्ता केवली के द्वारा योगनिरोध आदि की प्रक्रिया से सिद्ध होने का क्रम—(१) सिद्ध होने से पूर्व तक की केवली की चर्या—दण्ड, कपाट आदि के क्रम से समुद्घात को प्राप्त केवली समुद्घात-अवस्था में सिद्ध (निष्ठितार्थ), बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण को प्राप्त (कर्मसंताप से रहित हो जाने के कारण शीतीभूत) और सर्वदुःखरहित नहीं होते। क्योंकि उस समय तक उनके योगों का निरोध नहीं होता और सयोगी को सिद्धि प्राप्त नहीं होती। सिद्धि प्राप्त होने से पूर्व तक वे क्या करते हैं? इस विषय में कहते हैं—समुद्घातगत केवली केवलिसमुद्घात से निवृत्त होते हैं, फिर मनोयोग, वचनयोग और काययोग का प्रयोग करते हैं।[2]

(३) केवलिसमुद्घातगत केवली द्वारा काययोग का प्रयोग—समुद्घातगत केवली औदारिक-शरीरकाययोग, औदारिकमिश्रशरीरकाययोग तथा कार्मणशरीरकाययोग का प्रयोग क्रमशः प्रथम और अष्टम, द्वितीय, षष्ठ और सप्तम, तथा तृतीय, चतुर्थ और पंचम समय में करते हैं। शेष वैक्रिय-वैक्रियमिश्र, आहारक-आहारकमिश्र काययोग का प्रयोग वे नहीं करते।[3]

(४) केवलिसमुद्घात से निवृत्त होने के पश्चात् तीनों योगों का प्रयोग—निवृत्त होने के पश्चात् मनोयोग और उसमें भी सत्यमनोयोग, असत्यामृषामनोयोग का ही प्रयोग करते हैं, मृषा-मनोयोग और सत्यमृषामनोयोग का नहीं। तात्पर्य यह है कि जब केवली-भगवान् वचनागोचर महिमा से युक्त केवलिसमुद्घात के द्वारा विषमस्थिति वाले नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म को आयुकर्म के बराबर स्थिति वाला बना कर केवलिसमुद्घात से निवृत्त हो जाते हैं, तब अन्तर्मुहूर्त्त में ही उन्हें परमपद को प्राप्ति हो जाती है। परन्तु उस अवधि में अनुत्तरौपपातिक देवों द्वारा मन से पूछे हुए प्रश्न का समाधान करने हेतु मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके मनोयोग का प्रयोग करते हैं। वह मनोयोग सत्यमनोयोग या असत्यामृषामनोयोग होता है। समुद्घात से निवृत्त केवली सत्यवचन-

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५

२. वही, भा. ५, पृ. ११३०.

३. वही, भा. ५, ११३१-३२

योग या असत्यामृषावचनयोग का प्रयोग करते हैं, किन्तु मृषावचनयोग या सत्यमृषावचनयोग का नहीं। इसी प्रकार समुद्घातनिवृत्त केवली गमनागमनादि क्रियाएँ यतनापूर्वक करते हैं। यहाँ उल्लंघन और प्रलंघन क्रिया का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—स्वाभाविक चाल से जो डग भरी जाती है, उससे कुछ लम्बी डग भरना उल्लंघन है और अतिविकट चरणन्यास प्रलंघन है। किसी जगह उड़ते-फिरते जीव-जन्तु हों और भूमि उनसे व्याप्त हो, तब उनकी रक्षा के लिए केवली को उल्लंघन और प्रलंघन क्रिया करनी पड़ती है।[1]

(५) समग्र योगनिरोध के बिना केवली को भी सिद्धि नहीं—दण्ड, कपाट आदि के क्रम से समुद्घात को प्राप्त केवली समुद्घात से निवृत्त होने पर भी जब तक सयोगी-अवस्था है, तब तक वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हो सकते। शास्त्रकार के अनुसार अन्तर्मुहूर्त्त काल में वे अयोग-अवस्था को प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाते हैं, किन्तु अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक तो केवली यथायोग्य तीनों योगों के प्रयोग से मुक्त होते हैं। सयोगी अवस्था में केवली सिद्ध-मुक्त नहीं हो सकते, इसके दो कारण हैं—(१) योगत्रय कर्मबन्ध के कारण हैं तथा (२) सयोगी परमनिर्जरा के कारणभूत शुक्लध्यान का प्रारम्भ नहीं कर सकते।[2]

(६) केवली द्वारा योगनिरोध का क्रम—योगनिरोध के क्रम में केवली भगवान् सर्वप्रथम मनोयोगनिरोध करते हैं। पर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के प्रथम समय में जितने मनोद्रव्य होते हैं और जितना उसका मनोयोग-व्यापार होता है, उससे भी असंख्यातगुणहीन मनोयोग का प्रति समय निरोध करते हुए असंख्यात समयों में मनोयोग का पूर्णतया निरोध कर देते हैं।

मनोयोग का निरोध करने के तुरंत बाद ही वे पर्याप्तक एवं जघन्ययोग वाले द्वीन्द्रिय के वचनयोग से कम असंख्यातगुणहीन वचनयोग का प्रतिसमय निरोध करते हुए असंख्यात समयों में पूर्णतया द्वितीय वचनयोग का निरोध करते हैं।

जब वचनयोग का भी निरोध हो जाता है, तब अपर्याप्तक सूक्ष्म पनकजीव, जो प्रथम समय में उत्पन्न हो तथा जघन्य योग वाला एवं सबकी अपेक्षा अल्पवीर्य वाला हो, उसके काययोग से भी कम असंख्यातगुणहीन काययोग का प्रतिसमय निरोध करते हुए असंख्यात समयों में पूर्णरूप से तृतीय काययोग का भी निरोध कर देते हैं।

इस प्रकार काययोग का भी निरोध करके केवली भगवान् समुच्छिन्न, सूक्ष्मक्रिय, अविनश्वर तथा अप्रतिपाती ध्यान में आरूढ होते हैं। इस परमशुक्लध्यान के द्वारा वे वदन और उदर आदि के छिद्रों को पूरित करके अपने देह के तृतीय भाग—न्यून आत्मप्रदेशों को संकुचित कर लेते हैं। काययोग की इस निरोधप्रक्रिया से स्वशरीर के तृतीय भाग का भी त्याग कर देते हैं।[3]

सर्वथा योगनिरोध करने के पश्चात्—वे अयोगिदशा प्राप्त कर लेते हैं। उसके प्राप्त होते ही शैलेशीकरण करते हैं। न अतिशीघ्र और न अतिमन्द, अर्थात् मध्यमरूप से पांच ह्रस्व (अ, इ, उ,

---

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११३३-११३५
२. वही, भा. ५, पृ. ११३८ से ११४०
३. वही, भा. ५, पृ. ११४१

ऋ, ऌ) अक्षरों का उच्चारण करने में जितना काल लगता है, उतने काल तक शैलेशीकरण-अवस्था में रहते हैं। शील का अर्थ है—सर्वरूप चारित्र, उसका ईश—स्वामी शीलेश और शीलेश की अवस्था 'शैलेशी' है। उस समय केवली सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तथा समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाती नामक शुक्लध्यान में लीन रहते हैं। उस समय केवली केवल शैलेशीकरण को ही प्राप्त नहीं करते, अपितु शैलेशीकरणकाल में पूर्वरचित गुणश्रेणी के अनुसार असंख्यातगुण-श्रेणियों द्वारा असंख्यात वेदनीयादि कर्मस्कन्धों का विपाक और प्रदेशरूप से क्षय भी करते हैं तथा अन्तिम समय में वेदनीयादि चार अघातिकर्मों का एक साथ सर्वथा क्षय होते ही औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीनों शरीरों का पूर्णतया त्याग कर देते हैं। फिर ऋजुश्रेणी को प्राप्त हो कर, एक ही समय में बिना विग्रह (मोड़) के लोकान्त में जाकर ज्ञानोपयोग से उपयुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं। जितनी भी लब्धियाँ हैं, वे सब साकारोपयोग से उपयुक्त को ही प्राप्त होती हैं, अनाकारोपयोगयुक्तसमय में नहीं।[1]

सिद्धों के स्वरूप का निरूपण

२१७६. ते णं तत्थ सिद्धा भवंति, असरीरा जीवघणा दंसण-णाणोवउत्ता णिट्ठियट्ठा णीरया णिरेयणा वितिमिरा विसुद्धा सासयमणागतद्धं कालं चिट्ठंति। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति ते णं तत्थ सिद्धा भवंति असरीरा जीवघणा दंसण-णाणोवउत्ता णिट्ठियट्ठा णीरया णिरेयणा वितिमिरा विसुद्धा सासतमणागयद्धं कालं चिट्ठंति?

गोयमा! से जहाणामए बीयाणं अग्गिदड्ढाणं पुणरवि अंकुरुप्पत्ती न हवइ एवमेव सिद्धाण वि कम्मबीएसु दड्ढेसु पुणरवि जम्मुप्पत्ती न हवति, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति ते णं तत्थ सिद्धा भवंति असरीरा जीवघणा दंसण-णाणोवउत्ता निट्ठियट्ठा णीरया णिरेयणा वितिमिरा विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति त्ति।

णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाति-जरा-मरण-बंधणविमुक्का।
सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥ २३१॥

॥ पण्णवणाए भगवतीए छत्तीसइमं समुग्घायपदं समत्तं॥

॥ पण्णवणा समत्ता॥

[२१७६] वे सिद्ध वहाँ अशरीरी (शरीररहित) सघनआत्मप्रदेशों वाले, दर्शन और ज्ञान में उपयुक्त, कृतार्थ (निष्ठितार्थ), नीरज (कर्मरज से रहित), निष्कम्प, अज्ञानतिमिर से रहित और पूर्ण शुद्ध होते हैं तथा शाश्वत भविष्यकाल में रहते हैं।

[प्र.] भगवन्! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि वे सिद्ध वहाँ अशरीरी सघनआत्मप्रदेश-युक्त, कृतार्थ, दर्शनज्ञानोपयुक्त, नीरज, निष्कम्प, वितिमिर एवं विशुद्ध होते हैं, तथा शाश्वत अनागतकाल तक रहते हैं?

---

१. प्रज्ञापना (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११४७-११५५

[उ.] गौतम ! जैसे अग्नि में जले हुए बीजों से फिर अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, इसी प्रकार सिद्धों के भी कर्मबीजों के जल जाने पर पुनः जन्म से उत्पत्ति नहीं होती। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सिद्ध अशरीरी आदि होते हैं, इत्यादि सब पूर्ववत्।

[गाथार्थ—] सिद्ध भगवान् सब दुःखों से पार हो चुके हैं, वे जन्म, जरा, मृत्यु और बन्धन से विमुक्त हो चुके हैं। सुख को प्राप्त अत्यन्त सुखी वे सिद्ध शाश्वत और बाधारहित होकर रहते हैं ॥ २३१ ॥

विवेचन—सिद्धों का स्वरूप—सिद्ध वहाँ लोक के अग्रभाग में स्थित रहते हैं। वे अशरीर, अर्थात्—औदारिक आदि शरीरों से रहित होते हैं, क्योंकि सिद्धत्व के प्रथम समय में ही वे औदारिक आदि शरीरों का त्याग कर देते हैं। वे जीवघन होते हैं, अर्थात्—उनके आत्मप्रदेश सघन हो जाते हैं। बीच में कोई छिद्र नहीं रहता, क्योंकि सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाती ध्यान के समय में ही उक्त ध्यान के प्रभाव से मुख, उदर आदि छिद्रों (विवरों) को पूरित कर देते हैं। वे दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में उपयुक्त होते हैं, क्योंकि उपयोग जीव का स्वभाव है। सिद्ध कृतार्थ (कृतकृत्य) होते हैं, नीरज (बध्यमान कर्मरज से रहित) एवं निष्कम्प होते हैं, क्योंकि कम्पनक्रिया का वहाँ कोई कारण नहीं रहता। वे वितिमिर अर्थात्—कर्मरूपी या अज्ञानरूपी तिमिर से रहित होते हैं। विशुद्ध अर्थात्—विजातीय द्रव्यों के संयोग से रहित—पूर्ण शुद्ध होते हैं और सदा-सर्वथा सिद्धशिला पर विराजमान रहते हैं।[1]

सिद्धों के इन विशेषणों के कारण पर विश्लेषण—सिद्धों को अशरीर, नीरज, कृतार्थ, निष्कम्प, वितिमिर एवं विशुद्ध आदि कहा गया है उसका कारण यह है कि अग्नि में जले हुए बीजों से जैसे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि अग्नि उनके अंकुरोत्पत्ति के सामर्थ्य को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार सिद्धों के कर्मरूपी बीज जब केवलज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा भस्म हो चुकते हैं, तब उनकी फिर से उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि जन्म का कारण कर्म है और सिद्धों के कर्मों का समूल नाश हो जाता है। कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, कर्मबीज के कारण रागद्वेष हैं। सिद्धों के रागद्वेष आदि समस्त विकारों का सर्वथा अभाव हो जाने से पुनः कर्म का बन्ध भी सम्भव नहीं है। रागादि ही आयु आदि कर्मों के कारण हैं, उनका तो पहले ही क्षय किया जा चुका है। क्षीण-रागादि की पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि निमित्तकारण का अभाव है। रागादि की उत्पत्ति में उपादान कारण स्वयं आत्मा है। उसके विद्यमान होने पर भी सहकारी कारण वेदनीय-कर्म आदि विद्यमान न होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य किसी एक कारण से नहीं हो सकता।

सिद्धों में रागादि वेदनीयकर्मों का अभाव होता है, क्योंकि वे उन्हें शुक्लध्यानरूपी अग्नि से पहले ही भस्म कर चुकते हैं और उनके कारण संक्लेश भी सिद्धों में संभव नहीं है। रागादि वेदनीयकर्मों का अभाव होने से पुनः रागादि की उत्पत्ति की संभावना नहीं है। कर्मबन्ध के अभाव में पुनर्जन्म न होने के कारण सिद्ध सदैव सिद्धदशा में रहते हैं, क्योंकि रागादि का अभाव हो जाने से आयु आदि कर्मों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, इस कारण सिद्धों का पुनर्जन्म नहीं होता।[2]

१. प्रज्ञापना. प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ५, ११५५-११५६
२. वही, भाग ५, पृ. ११५७

अन्तिम मंगलाचरण—शिष्टाचारपरम्परानुसार ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में मंगलाचरण करना चाहिए। अतएव यहाँ ग्रन्थ की समाप्ति पर परम मंगलमय सिद्ध भगवान् का स्वरूप बताया गया है, तथा शिष्य-प्रशिष्यादि की शिक्षा के लिए भी कहा गया है—

'णिच्छिण्ण-सव्वदुक्खा……सुही सुहं पत्ता।'[1]

॥ प्रज्ञापना भगवती का छत्तीसवां समुद्घातपद समाप्त ॥

॥ प्रज्ञापनासूत्र समाप्त ॥

१. प्रज्ञापना. (प्रमेयबोधिनी टीका) भा. ५, पृ. ११५९-६०

प्रज्ञापना-परिशिष्ट

परिशिष्ट १

गाथानुक्रम

गाथांश	सूत्राङ्क
अगंतूण समुग्घायं	२१७० [२]
अच्छि पव्वं वलिमोडओ	५४ [८]
अज्जोरुह वोडाणे	४९
अज्झयणमिणं चित्तं	१
अड्हुत्तरं च तीसं	१७४
अणभिग्गहियकुदिट्ठी	११०
अणभिग्गहिया भासा	८६६
णंतराय आहारे	२०३२
त्थिय तिंदु कविट्ठे	४१
द्दाय असी य मणी	९७२
द्धतिवण्ण सहस्सा	१७४
अप्फोया अइमुत्तय	४५
अयसी कुसुंभ कोद्दव	५०
अलोए पडिहया सिद्धा	२११
अवए पणए सेवाले	५४ [१]
असरीरा जीवघणा	२११
असुरा नाग सुवण्णा	१७७
असुरेसु होंति रत्ता	१८७
अस्सण्णी खलु पढमं	६४७
अंधिय णेत्तिय मच्छिय	५८ (१)
अंबट्ठा य कलिंदा	१०३
आणय-पाणयकप्पे	२०६ (२)
आभरण-वत्थ-गंधे	१००३
आमंतणि याऽऽणमणी	८६६
आयपइट्ठिय खेत्तं	९७१
आसीतं वत्तीसं	१७४

गाथा	सूत्राङ्क
आहार भविय सण्णी	१८६५
आहार सम सरीरा	११२३
आहारे उवओगे	२
इक्खू य इक्खुवाडी	४६
इय सव्वकालतित्ता	२११
इय सिद्धाणं सोक्खं	२११
इंदियउवचय णिव्वत्तणा य	१००६
उत्तत्तकणगवण्णा	१८७
एएहिं सरीरेहिं	२६
एक्कस्स उ जं गहणं	५४
एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमेसु	२०९
एगपएऽणेगाइं	११०
एगस्स दोण्ह तिण्ह व	५४
एगा य होइ रयणी	२११
एगिंदियसरीरादी	१७९३
एते चेव उ भावे.	११०
एरंडे कुरुविंदे	४७
ओगाहणसंठाणे	२
ओगाहणा अवाए	१००६
ओगाहणाए सिद्धा	२११
कण्हे कंदे वज्जे	५४
कति पगडी कह बंधति	१६६४
कहिं पडिहता सिद्धा	२११
कंगूया कद्दुइया	४५
कंदा य कंदमूला य	५५
कंबू य कण्हकडबू	५४

□□

विशिष्टशब्दसूची

□□

परिशिष्ट—३

वनस्पति-नामानुक्रम

□□

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहपाडिवए, कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तंजहा—पढिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलों के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्रायः ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है, वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज-उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी, मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से ये वस्तुएँ उठाई न जाएँ, तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

□□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी महता, मेड़ता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी बैद, राजनादगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी वालिया, अहमदावाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, व्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी वोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, वेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी वोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री वादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, वेंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखवचंदजी वाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जवरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चैनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखवचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़ता सिटी
२. श्रीमती छगनीवाई विनायकिया, व्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, व्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, व्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचन्दजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, व्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, व्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा,(जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखवचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनादगांव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलाराम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलौर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनादगांव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचंदजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैंरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढ़ा, बम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बेंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बेंगलोर
१३०. श्री [illegible]राजजी सुराणा, मनमाड़ □□